बसेरे से दूर

बच्चन

आत्मकथा का तीसरा खण्ड

आत्मचित्रण का तीसरा खंड

बसेरे से दूर

'बसेरे से दूर' का पठन प्रेरणाप्रद है। इसे पढ़कर मुझे प्रेरणा मिली, चेतना मिली, उत्साह मिला। आलोचक की दृष्टि से देखें तो भी यह पुस्तक बच्चन के मानस-भवन का कलश है। —नरेन्द्र शर्मा

इस ग्रन्थ से वे एक स्कॉलर और निष्ठावान-साधक के रूप में हमारे सामने आते हैं। अतः यह जीवनी सबसे पहले गंभीर शोधकर्त्ताओं का पथ-प्रदर्शन करेगी और जीवन में संघर्ष करने वाले नए साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत सिद्ध होगी।

—विश्वम्भर 'मानव'

इस खंड में रचना-धर्म का विश्लेषण करने वाले प्रसंग सर्वाधिक प्रिय लगे।

—प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद

'बसेरे से दूर' आदि से अंत तक पढ़ गया। वर्णन और आत्मपरीक्षण की इस समर्थ कृति के लिए मेरी हार्दिक बधाइयां स्वीकारें। अद्भुत रोचकता और भावप्रवणता है इसमें। यह पूर्ववर्ती आत्मचित्रणों की तुलना में गद्य के क्षेत्र में एक नूतन मानदंड स्थापित करता है। हिन्दी कविता को आपकी सर्जना का जो अवदान मिला है, गद्य के क्षेत्र में आपकी सुरभि उससे कम नहीं। —डा० वचनदेव कुमार

'क्या भूलूं क्या याद करूं' और 'नीड़ का निर्माण फिर' की श्रृंखला में 'बसेरे से दूर' की कड़ी मुझे सशक्तम लगी। समीक्षक के पास तीनों के लिए एक ही शब्द रह जाएगा—सर्वोत्तम। एक ऐतिहासिक कृति, एक जीवन्त दस्तावेज, एक निष्ठा, शालीनता और शिल्प की समेकित ज्योति।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

दंडी स्वामी विमलानन्दसरस्वती
राजगुरु मठ
शिवाला घाट
वाराणसी
१७.८.८२

बसेरे से दूर

[आत्म-चित्रण]

सन् १९७१-'७२ और '७६-'७७ में लिखित

बच्चन की आत्मकथा :

क्या भूलूं क्या याद करूँ (पहला भाग)
नीड़ का निर्माण फिर (दूसरा भाग)
बसेरे से दूर (तीसरा भाग)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

बच्चन

बसेरे से दूर

मूल्य : बीस रुपये (20.00)

संस्करण 1982

BASERE SE DOOR (Autobiography) by Dr. Harbans Rai Bachchan

अपने पाठकों से

आज आपके सामने प्रस्तुत है मेरे आत्म-चित्रण का तीसरा खंड, 'बसेरे से दूर', जिसे मैंने पहले 'हंस का पश्चिम प्रवास' कहना चाहा था।

आप में से बहुत लोग बड़ी उत्सुकता के साथ इस खंड की प्रतीक्षा करते रहे हैं, अनेक इसको शीघ्र प्रस्तुत करने की माँग भी, सबसे अधिक आग्रही तो मेरे प्रकाशक ही रहे हैं, पर इससे पूर्व यह संभव न हो सका। सृजन के मामले में, मुझे खेद है, मैं अपने से बाहर के किसी प्रकार के प्रोत्साहन, प्रलोभन अथवा दबाव का लिहाज़ नहीं कर पाता।

मैं इस खंड में मुख्यतया अपने जीवन की उस अवधि की कहानी सुनाने जा रहा हूँ, जिसमें मैं अपने देश-नगर, घर-परिवार से दूर जाकर इंग्लैंड—केम्ब्रिज में रहा, विलियम बटलर ईट्स के साहित्य पर शोध कर केम्ब्रिज युनिवर्सिटी से पी-एच० डी० की उपाधि ली, आधुनिक अंग्रेज़ी कविता का स्वाध्याय किया, एकाधिक ब्रिटिश यूनिवर्सिटियों में जीवन, अध्ययन और अध्यापन की विधि देखी, समझी, सौ से ऊपर छंदोबद्ध और मुक्त छंद की कविताएँ लिखीं, जो बाद को 'प्रणय-पत्रिका', 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' नामक संग्रहों में प्रकाशित हुईं—एक लंबी कविता किन्हीं निजी कारणों से अब भी अप्रकाशित है—बहुत-सा गद्य लिखा, जो 'प्रवास की डायरी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है, इंग्लैंड और आयरलैंड का भ्रमण किया, अंग्रेज़ी और आयरी समाज के विविध रूपों को देखा—विश्वविख्यात अकादमिक संस्थाओं से लेकर गुह्य, कुख्यात नाइट क्लबों तक—बड़े-बूढ़े विद्वानों से लेकर साधारण युवक-युवतियों के सम्पर्क में आया। यह प्रायः बाहरी बातें हुईं, जिनकी सूची काफ़ी लंबी मालूम होती है। इस अवधि में जो मैंने चिंतन-मनन किया, जो सोचा-विचारा, जिन आशाओं-आकांक्षाओं को जगाया, जिन भय-चिंताओं से गुज़रा, जिन शंका-संदेहों में झूला, जिन मानसिक

कुरेदनों और कसावों में पड़ा उनकी सूची भी अगर देना चाहूँ तो कम लंबी नही होगी, हालाँकि सूची उनकी गहनता और गहराई का शायद ही कोई आभास दे सके। एक बात शुरू में ही बहुत संक्षेप में कह देना चाहता हूँ कि इस छोटी-सी अवधि में जितना मैंने लिखा-पढ़ा, देखा-सुना, जाना-पहचाना, भोगा-सहा, अनुभव-अवगत किया, उतना मैंने इतने ही काल-माप में अपने जीवन में कभी नहीं किया। इसी से मुझे लगा कि यदि मैं इस अवधि की झाँकी आपको कराना चाहूँ तो इसके लिए अपनी आत्मकथा को एक स्वतंत्र खंड देना पड़ेगा।

एक बहुत बड़ी संख्या में मैं ऐसे पाठकों की कल्पना कर सकता हूँ जो मेरी आत्मकथा के पहले और दूसरे खंड, 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' और 'नीड़ का निर्माण फिर' को क्रमशः पढ़ने के बाद इस तीसरे खंड को पढ़ना आरंभ करेंगे। उनसे मुझे इसके सिवा और कुछ नहीं कहना है कि जो कहानी मैंने सुनानी शुरू की थी उसी को पूर्ण करने के क्रम में यह अगली और अंतिम क़िस्त है। आशा करता हूँ कि कहानी का यह भाग भी आपको रोचक लगेगा। पाठक की रोचकता समाप्त होने से पूर्व कहानी को समाप्त कर देना कहानीकार की सबसे बड़ी कला है। विश्वास है, मैंने आपके धैर्य को ऊब की सीमा तक नहीं खींचा।

इसके पूर्व, संभव है, आपने 'प्रवास की डायरी' भी पढ़ ली हो। न पढ़ी हो तो उसे आप 'बसेरे से दूर' की भूमिका के रूप में पढ़ सकते हैं। डायरी में कही बातों को मैंने आत्मचित्रण में नहीं दुहराया, सिवा उनके, जिनको कथा-सूत्र संबद्ध रखने के लिए फिर से कहना आवश्यक था। डायरी को मैंने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका कहा है। पुस्तकें बग़ैर भूमिका देखे भी आनंद से पढ़ी जा सकती हैं, अपवाद यह पुस्तक भी नहीं है।

'बसेरे से दूर' के कुछ ऐसे पाठकों की भी कल्पना मैं करता हूँ जो इसके पूर्व की कथा से पूर्णतया अपरिचित या खंडशः परिचित हों। मैं उनसे यह तो न कहना चाहूँगा कि इसके पूर्व की कथा पढ़े बग़ैर वे इसे न पढ़ें, क्योंकि मैंने प्रयत्न किया है कि प्रत्येक खंड को अपने में पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करूँ वास्तव में जो पूर्णतया संबद्ध है—जैसा कि जीवन—वही खंडों में भी पूर्ण रह सकता है। पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते···शायद भौतिक स्तर पर भी

किसी अंश में सत्य हो। साथ ही मुझे यह विश्वास है कि मेरे जीवन का कोई खंड आपको रोचक लगा तो उसके आगे-पीछे के खंडों के लिए भी आपकी जिज्ञासा जगेगी—We look before and after (हम पीछे भी देखा करते हैं, आगे भी)।

एक खंड से दूसरे खंड की परस्पर तुलना भी स्वाभाविक है। मेरे बहुत से पाठकों ने पहले के दो खंडों की तुलना की है और एक को दूसरे से उन्नीस या बीस पाया है। यह प्रवृत्ति तीन खंडों के सामने आ जाने से और बढ़े तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। सब खंडों का सब की दृष्टि में सम लगना उतना ही असंभव है, जितना अपनी दृष्टि में उनको ऐसा रखना। जीवन अपनी प्रकृति से ही विषम है। मेरा बल, मेरा गुण, यदि मुझमें कुछ है, तो जीवन के निकट रहने, जीवन से हिलगे रहने में है। जो खंडों की विषमता के प्रति अधिक सचेत हों, उन्हें एक परिचित ग्रामीण कहावत की याद दिलाना चाहता हूँ—पाँचों उँगलियाँ बराबर नहीं होतीं।

दूसरे खंड के मेरे कतिपय पाठकों की राय यह थी कि उसमें मैं अपने कवि-व्यक्तित्व के प्रति अधिक सचेत हो गया हूँ। इस संबंध में मुझे इतना ही कहना है कि जिसे मेरा व्यक्तित्व कहा जा सकता है, उसमें कवि-अकवि का कोई विभाजन नहीं है। मेरा कवि, यदि उसे कभी सही रूप में देखा जाए, तो वह मेरे जीवन से ही जुड़ा, प्ररोहित, प्रादुर्भूत और उसका ही प्रक्षिप्त अंग प्रतीत होगा। अपने जीवन की चर्चा में मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। पिछले चालीस-पैंतालीस वर्षों से मेरे जिन बहुसंख्य पाठकों ने मुझे कवि के रूप में जाना है, उन्हें मेरे जीवन प्रसंग में मेरे सृजन की थोड़ी-बहुत चर्चा असंगत नहीं लगी। यदि मैं कहीं समझी जाने योग्य इकाई हूँ तो मेरी कविता से मेरे जीवन और मेरे जीवन से मेरी कविता को समझना होगा। मुझे ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि जैसे मेरी कविता आत्मकथ्य-संस्कारी है वैसे ही मेरी आत्मकथा कविता-संस्कारी है। मैं अपनी भूल में, यदि यह मेरी भूल हो तो भी, यह जानकर कुछ आश्वस्त होता हूँ कि मानतेन भी, जो मेरी इस लेखन-यात्रा में कुतुबनुमा के समान मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं, अपने आत्म-चित्रण The Essays (दि एसेज़) में अपने निबंधकार को नहीं भूल सके! फिर भी प्रस्तुत खंड में, मैंने अपनी दृष्टि मुख्य रूप से—मुख्य रूप से—अपने

अध्यापक, शोधक, आलोचक पर रखने का प्रयत्न किया है, क्योंकि इन्होंने भी मेरे जीवन को रूप देने में कम महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई।

पांडुलिपि को अंतिम रूप देने में श्री सत्येन्द्र शरत् ने जो सहायता दी उसके लिए उनका बहुत आभारी हूँ।

टाइप कापी को प्रेस के लिए तैयार करने में श्री अजित कुमार और डा० जीवन प्रकाश जोशी से जो सहयोग मिला उसके लिए उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

आत्मचित्रण के इस अंतिम खंड पर आप अपनी कोई प्रतिक्रिया देना चाहें तो उसका मैं स्वागत करूँगा।

१३, विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली-११
७ जुलाई, १९७७

बच्चन

बसेरे से दूर

"पाठको, यह किताब ईमानदारी के साथ लिखी गई है। मैं आपको पहले से ही आगाह कर दूँ कि इसके लिखने में मेरा एक मात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी रहा है। इसके द्वारा पर-सेवा अथवा आत्म-श्लाघा का कोई विचार मेरे मन में नहीं है। ऐसा ध्येय मेरी क्षमता से परे है। इसे मैंने अपने संबंधियों तथा मित्रों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए तैयार किया है कि जब मैं न रहूँ (और ऐसी घड़ी दूर नहीं है) तब वे इन पृष्ठों से मेरे गुण-स्वभाव के कुछ चिह्न संचित कर सकें और इस प्रकार जिस रूप में उन्होंने मुझे जीवन में जाना है उससे अधिक सच्चे और सजीव रूप में वे मुझे अपनी स्मृति में रख सकें। अगर मैं दुनिया से किसी पुरस्कार का तलबगार होता तो मैं अपने आपको और अच्छी तरह सजाता-बजाता, और अधिक ध्यान से रँग-चुँगकर उसके सामने पेश करता। मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे मेरे सरल, स्वाभाविक और साधारण स्वरूप में देख सकें—सहज, निष्प्रयास प्रस्तुत, क्योंकि मुझे अपना ही तो चित्रण करना है। मैं अपने गुण-दोष जग-जीवन के सम्मुख रखने जा रहा हूँ, पर ऐसी स्वाभाविक शैली में जो लोक-शील से मर्यादित हो। यदि मेरा जन्म उन जातियों में हुआ होता जो आज भी प्राकृतिक नियमों की मूलभूत स्वच्छंदता का सुखद उपभोग करती हैं तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं बड़े आनंद से अपने-आपको आपाद-मस्तक एकदम नग्न उपस्थित कर देता। इस प्रकार, पाठको, मैं स्वयं अपनी पुस्तक का विषय हूँ, और मैं कोई वजह नहीं देखता कि आप अपनी फ़ुरसत की घड़ियाँ ऐसे नगण्य और निरर्थक विषय पर सर्फ़ करें। इसलिए मानतेन की विदा स्वीकार कीजिए—१ मार्च, १५८०।"

'The work is done', grown old he thought,
'According to my boyish plan;
Let the fools rage, I swerved in nought,
Something to perfection brought;'
But louder sang that ghost, 'What then?'

—W. B. Yeats

वृद्ध हुआ तो उसने सोचा, 'मेरा कार्य समाप्त हुआ,
मैंने अपने बालपने के सपने को साकार किया,
क्रोध-विरोध किया मूढ़ों ने, किंतु हटा कब पीछे मैं ?
एक काम में हाथ लगाया था उसको पूर्णत्व दिया;'
कोई प्रेत पुरातन बोला और जोर से
ऐसा कर डाला तो क्या ?

—डब्ल्यू० बी० ईट्स

जुलाई, १९४१

भला हो पंडित अमरनाथ झा का कि उन्होंने दो वर्ष तक कभी अस्थायी लेक्चरर और कभी रिसर्च-स्कालर के रूप में मुझे इलाहाबाद युनिवर्सिटी से संबद्ध रखकर अंत में मुझे अंग्रेज़ी विभाग में स्थायी रूप में ले लिया।

स्मृतियों के प्रदेश में छत्तीस वर्ष पीछे लौटना होगा।

जब मैं दिमाग़ के उस भाग की कल्पना करता हूँ जिसमें सुधियाँ संचित रहती हैं तो वह मुझे विविध रंगों के तागों के उलझे-पुलझे गुच्छे जैसा लगता है, और किसी भी सूत को पकड़कर आगे या पीछे चलना चेतना के लिए साधारणतया कठिन नहीं होता, गो कभी-कभी उससे जुड़े या उससे अटके अन्य धागे भी हिलते, खिंचते अथवा झटके खाते हैं। कथन अथवा लेखन में

सुस्पष्टता बनाए रखने के लिए आवश्यक होता है कि ध्यान मूल सूत्र पर केन्द्रित रखा जाय और गौण तथा उप-सूत्रों को आड़े न आने दिया जाय— यदा-कदा उनके अस्तित्व को स्वीकार करते और उनकी खींच-तान को अनुभव करते हुए भी। मानव-चेतना सुधि के बहुत से तागों को एक साथ लेकर चलती है—उन्हें तोड़ती, जोड़ती, बटती, कसती, ढीलती और उनके साथ और बहुत कुछ करती। नतीजा यह होता है कि साधारण आदमी का दिमाग़ सुधि-सूत्रों का गुज्झड़ मात्र बनकर रह जाता है। आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में साधारण आदमी पागल क्यों नहीं हो जाता, शायद इसलिए—और इसे मनुष्य पर प्रकृति की बहुत बड़ी कृपा समझी जानी चाहिए—कि साधारण मनुष्य के मस्तिष्क में ये तागे बड़ी तीव्र गति से गलते और ग़ायब होते रहते हैं; कुछ विशेष और प्रमुख धागों को छोड़कर। मेरे प्रति अपनी कृपा में प्रकृति बड़ी कृपण रही है। कितना कुछ मुझे याद है। एक बात का स्मरण करते ही न जाने और कितनी बातें मुझे स्मरण हो आती हैं और किसी खास सिलसिले को बनाए रखने के लिए मुझे बहुत कुछ प्रयत्नतः भुलाना अथवा दिमाग़ से हटाना पड़ता है। कभी-कभी मुझे अनुभव हुआ है कि मैं बहुत महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी को भी छोड़ता जा रहा हूँ, कभी-कभी मैं बाद को उनकी ओर लौटा भी हूँ—मेरे आत्म-चित्रण के पहले दो भागों से परिचित पाठक कई ऐसे अवसरों की याद करेंगे।

आज ऐसा ही अवसर है। 'नीड़ का निर्माण फिर' की कहानी कहते हुए मैंने ध्यान अपने निजी भावना-जगत पर केन्द्रित रखा था और किसी अंश में उससे बड़ी निकटता से संबद्ध अपने सृजन-संसार पर—दूसरे शब्दों में, अपने भावक और सर्जक पर। मेरे अध्यापक की वहाँ केवल छाया भर मिलती है, और मेरे युनिवर्सिटी-जीवन की बस एक उड़ती-सी झाँकी, जबकि लगातार पूरे ग्यारह वर्ष मेरा नियमित कार्य और मेरे जीविकोपार्जन का मुख्य साधन अध्यापन था। संभव है कुछ लोगों पर इसका यह प्रभाव पड़ा हो कि मैं अपने जीवन में अपने भावक और सर्जक को अधिक महत्व देता हूँ बनिस्बत अपने अध्यापक के। अपने कवि-व्यक्तित्व से अपनी अधिक निकटता अनुभव करने की बात शायद ग़लत नहीं है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसके भाव-लोक के इर्द-

गिर्द ही अधिक सघन और सच्चा होता है, इससे शायद ही कोई इन्कार कर सके।

किसी उदात्त आदर्शवादिता में अध्यापन को मिशन मानकर उसकी ओर उन्मुख होने की बात मैं कहूँगा तो झूठ बोलूंगा—यह बात मेरी से पिछली पीढ़ी के साथ ही संभवत: समाप्त हो गई थी। सच्चाई इतनी ही है कि मैंने अध्यापन को रोटी कमाने के एक ईमानदार, स्वच्छ और सुविधाजनक साधन के रूप में स्वीकार किया था। किया था तो चाहता था कि सफल अध्यापक बनूं। और इतना तो मैं बिना किसी अभिमान के कहना चाहूँगा कि अपने को योग्य और सक्षम अध्यापक बनाने के लिए मैंने जितना श्रम-यत्न किया, जितनी शक्ति लगाई, जितनी तैयारी की उतनी अपने कवि को भी सँवारने, निखारने के लिए नहीं,—यह और बात है कि मेरा कवि काव्येतर क्षेत्रों के मेरे प्रयासों से भी अपने लिए संस्कार संग्रह करता होगा। जिस साधन से अपनी जीविका चले उसके प्रति आस्थावान होना बहुत पहले से मेरी व्यक्तिगत नैतिकता का अंग बन चुका था।

मुझमें अध्यापक का बीजारोपण नि:संदेह उन ट्यूशनों के समय हुआ होगा जो मैंने अपने परिवार की आर्थिक विपन्नता में अपने विद्यार्थी-जीवन से ही करनी शुरू कर दी थीं। मुझे आज भी वह अवसर याद है जब पहली ट्यूशन पर मेरे विद्यार्थी ने मुझे पहली बार 'मास्टर साहब' कहकर संबोधित किया था। उस संबोधन से अचानक यह रोम-प्रहर्षक अनुभूति हुई थी कि आज मैं एक पीढ़ी पार कर गया हूँ—विद्यार्थी से अध्यापक बन गया हूँ। १९३० में पढ़ाई छोड़ने और १९३७ में फिर से आरंभ करने के बीच यों तो मैंने कई तरह के पापड़ बेले थे, पर मेरा अधिकांश समय अध्यापकी में ही बीता था—इलाहाबाद स्कूल, प्रयाग महिला विद्यापीठ और अग्रवाल विद्यालय हाई स्कूल में। अग्रवाल विद्यालय की समय मेरे तीव्रतम मानसिक और आर्थिक संघर्षों का था; फिर भी उन दिनों की कुछ उदात्त यादें मेरे कतिपय विद्यार्थियों ने सँजो रखी हैं।

आज तो मुझे यह सोचकर आश्चर्य होता है कि उन चिंता-ग्रस्त दिनों में कर्तव्य के प्रति निष्ठा और अपने विद्यार्थियों के प्रति सद्भावना मैंने कैसे जुगा रखी होगी। इसका श्रेय मैं मुख्यतया अपने युग को देना चाहूँगा जिसमें

महात्मा गाँधी इस धरती पर चलते थे। गाँधी ने अपने चरित्र से सारे देश के वातावरण को आदर्शवादिता से कैसा 'चार्ज' (अनुप्राणित) कर रखा था, इसे वह युग नहीं समझ सकेगा जिसने उन्हें नहीं देखा। फिर अध्यापक जिनके साथ काम करता है वे मानवीय तत्व हैं—मानवता के भी बड़े सरल, कोमल, जीवंत, संभावना-पुंज रूप। मैंने अपनी गहन से गहन वैयक्तिक चिंता, असंतोष अथवा आक्रोश में भी अपने और अपने विद्यार्थियों के बीच वह चीज़ नहीं आने दी जिसका पढ़ने-पढ़ाने से सीधा संबंध नहीं था। आज तो मैं ऐसा भी समझता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच बैठकर मैं अपनी बहुत-सी उद्विग्नताओं से विमुक्त हुआ था। अपनी परेशानियों के दिनों में अगर मैं पढ़ाने के अतिरिक्त कोई और काम करता होता, जैसे किसी दफ़्तर में क्लर्की, यानी अगर मैं विद्यार्थियों के रूप मे मानवता के एक अत्यंत प्रीतिकर तत्व के संपर्क में न होता तो मैं निश्चय अपनी घुटन और घबराहट को अधिक कटुता के साथ अनुभव करता। अध्यापक जीवन का एक पक्ष अगतिशीलता और एकरसता का भी है, पर उसे महसूस करने के लिए जो लंबी अवधि चाहिए उससे मैं अभी न गुज़रा था, और १९३९ में बी० टी० कर लेने के बाद मैं प्रमाण-पत्र-प्राप्त अध्यापक के रूप में स्थापित हो गया था, गो शुरू में विस्थापित-सा ही, विभिन्न स्कूलों-कालेजों में नौकरी के लिए अर्ज़ियाँ लगाता या साक्षात्कार के लिए एक जगह से दूसरी जगह मारा-मारा फिरता।

'सरलता से कुछ नहीं मुझको मिला है।'

१९४१ में अंग्रेज़ी विभाग में स्थायी लेक्चरर की जगह हुई थी और मैंने झा साहब की शुभ कामनाएँ लेकर प्रार्थना-पत्र भेज दिया था। अपने दावे को कुछ अधिक मज़बूत करने के लिए, उन्हीं के आदेश पर मैंने अपने शोध-विषय W. B. Yeats : His Mind and Art (डब्ल्यू० बी० ईट्स : उनका मनस् और उनकी कला) से संबंधित सौ पृष्ठों का लघु प्रबंध भी साथ प्रस्तुत कर दिया था। नियुक्तियाँ युनिवर्सिटी की एक्ज़ेक्यूटिव कमेटी में बहुमत के आधार पर होती थीं, पर प्रायः सदस्यगण वाइस-चाँसलर के सुझाव का ही समर्थन कर देते थे।

कमेटी की बैठक के बाद आशा और आशंका से धड़कते दिल से मैं झा

साहब से मिलने गया—अपनी सफलता या असफलता का समाचार मैं उनके मुख से ही सुनूँ। प्रतिद्वंद्वी मेरे कई थे ही। सब का मुझे पता न था, पर एक की विशेष चर्चा सुनी जाती थी, और यह भी कि वे कमेटी के सदस्यों को अपनी ओर करने के लिए बहुत हाथ-पाँव मार रहे हैं।

झा साहब के सामने पहुँचकर मुझे यह अनुभूति हुई कि जैसे मैं 'स्फ़िक्स' के सामने जाकर खड़ा हो गया हूँ—उनके चेहरे से इसका कोई आभास न मिल सकता था कि मैं युनिवर्सिटी में लिया गया हूँ कि नहीं। न वे कुछ कह रहे थे, न मैं कुछ पूछ रहा था। झा साहब के संपर्क में ऐसे ख़ामोशी के वक़्फ़े नये नहीं थे, पर उस दिन की उनके और मेरे बीच वाली वैकुअमी स्थिति मुझे जितनी दीर्घ और दुःसह लगी उतनी पहले कभी नहीं लगी थी। अंत में साहस करके जब मैं ही बोला कि क्या मेरे लिए कोई 'खुशखबरी' है? तो उत्तर में पूर्व परिचित ठहरी-सी आवाज़ में मुझे यह सुन पड़ा— You...will...hear... from...the...registrar...in due course...(तुम्हें···यथासमय···रजिस्ट्रार ···सूचित ··करेंगे)

दूसरे दिन मेरी नियुक्ति का समाचार 'लीडर' में छप गया था। तीसरे दिन रजिस्ट्रार का पत्र भी आ गया।

मुझे झा साहब के पास कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए जाना ही था! वे कम गंभीर थे। उनके बड़े-बड़े कोयों में उनकी पुतलियाँ कई बार घूमीं, जैसे उनकी आँखों के सामने से कोई पिछला दृश्य गुज़र रहा हो जिसे वे वाणी देना न चाहते हों, पर जिससे वे अप्रसन्न हों।

उस संध्या के झा साहब के मूड का रहस्य मुझपर कई दिनों के बाद खुला। हितकारिणी कालेज, जबलपुर, की स्टूडेन्ट्स युनियन का उद्घाटन करने के लिए डा० ताराचंद को निमंत्रित किया गया था, और मुझे उस अवसर पर आयोजित कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए। हम दोनों एक ही डिब्बे में सफ़र कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में डा० ताराचंद ने बताया कि तुम्हारी नियुक्ति कराने में झा साहब के सामने बड़ी मुश्किल खड़ी हो गई थी, तुम्हारा नाम गिरते बाल-बाल बच गया। डाक्टर साहब युनिवर्सिटी की एक्ज़ेक्यूटिव कमेटी के सदस्य थे और उस दिन जो वहाँ हुआ था उसके चश्मदीद।

बात यह हुई थी कि मेरे प्रतिद्वंद्वी ने, जिनका ज़िक्र मैं पहले कर आया हूँ, एक जाति विशेष के सब सदस्यों को—जिनका कमेटी में बहुमत था, अपनी ओर कर लिया था, और इसका पता झा साहब को भी नहीं था। साधारण योग्यताएँ लगभग बराबर होने पर मेरे विपक्ष में दो बातें ज़ोरों से कही गई थीं—एक तो यह कि मैं ट्रेन्ड था, इस कारण स्कूलों या ज़्यादा से ज़्यादा इंटर कालेजों में पढ़ाने के योग्य था, दूसरी यह कि चूँकि मैं हिंदी का कवि था इस कारण अंग्रेज़ी पढ़ाने की क्षमता मुझमें कम ही हो सकती थी।—सच बात यह है कि मेरे हिंदी कवि का रूप लोगों के दिलोदिमाग़ पर इस क़दर छाया था कि उसके नीचे मेरे अंग्रेज़ी अध्यापक का स्वरूप उन्हें दिखाई ही न देता था।—झा साहब को लोगों को निरुत्तर कर देने वाला यह प्रश्न पूछना पड़ा था कि ट्रेन्ड होने से मेरी अंग्रेज़ी (एम० ए०) की योग्यता किस तर्क से कम हो गई थी, और हिन्दी का कवि होने से अंग्रेज़ी का अध्यापक होने की मेरी क़ाबलियत पर कैसे ज़रब आता था ?

इतने पर भी जब मत लिया गया, तब बहुमत मेरे प्रतिद्वंद्वी के पक्ष में आया और झा साहब को अपने संकेत से अपने कुछ निकटस्थ मित्रों के हाथ नीचे गिरवाने पड़े। ऐसी स्थिति से झा साहब, स्वाभाविक है, बहुत खिन्न हुए थे। यह बात मुझे पहले मालूम होती तो उस संध्या को उनका मूड मुझे इतना विचित्र और निराशाजनक न लगता।

दो ही चार रोज़ अंग्रेज़ी विभाग में जाने पर मुझे पता लग गया कि मेरी पीठ-पीछे यह कहा जा रहा है कि मैं हिंदी के चोर दरवाज़े से अंग्रेज़ी विभाग में घुस आया। ज़बान कौन किसकी रोक सकता है; पर मैंने मन ही मन निश्चय किया कि अपने को अंग्रेज़ी का एक अच्छा अध्यापक सिद्ध करूँगा, हिंदी का कवि होने के बावजूद।

मेरा भावना-जगत अब भी विशृंखल था, पर अपने भौतिक जगत में मैंने एक व्यवस्थित मार्ग पर पाँव रख दिए थे। मैं जानता था कि अपने भावना-जगत में सफलता प्राप्त करना मेरे श्रम-यत्न से संभव न था, पर भौतिक-जगत में श्रम-यत्न से जो पाया जा सकता था उसे मैंने प्राप्त कर लिया था। १९३१ में इलाहाबाद स्कूल में मैंने २५/= रुपये प्रतिमास पर नौकरी शुरू की थी और १९४१ में इलाहाबाद युनिवर्सिटी में मैं १२५/= रुपये प्रतिमास पर लेक्चरर

नियुक्त हो गया था। दस वर्ष के संघर्ष के बाद यह कोई बड़ी उपलब्धि तो न थी पर मेरी उस समय की मन:स्थिति में बड़ी संतोषदायिनी थी—मेरी भावनाओं की दुनिया आबाद न हो सकी तो भी स्वाध्याय, शिक्षण और यथावकाश सृजन में अपने को व्यस्त रखकर मैं अपने जीवन को सार्थक बना लूँगा—झा साहब क्या अपने एकाकी जीवन को इसी गरिमा से नहीं जी-झेल रहे थे ?

समय कभी-कभी इतनी मंद गति से चलता है कि बरसों बीत जाते हैं और मालूम होता है कि कोई नई बात नहीं हुई, और कभी-कभी इतना तेज़ चलता है कि जैसे चार-छह महीनों में एक युग बीत गया हो। अगस्त १९४१ से जनवरी १९४२ तक के छह महीने मेरे लिए बाहर से तेज़ी के ही नहीं, भीतर से भीषण रूप से झकझोरने वाले भी थे। उनकी विस्तृत चर्चा मैं अपनी आत्मकथा के दूसरे खंड में कर चुका हूँ। यहाँ मैं उनका ज़िक्र केवल यह बताने के लिए करना चाहता हूँ कि उन तन और मन को धुननेवाले दिनों में यदि मेरी राहत की कोई जगह थी तो मेरी कक्षाएँ थीं, मेरे विद्यार्थी थे, जिनके बीच बैठकर मैं अपनी कटु परिस्थितियों को भूल कला, साहित्य, कविता और नाटक की दुनिया में पलायन कर जाता था, और जिनसे मिला आदर और किसी अंश में स्नेह भी मेरे हृदय के घावों पर मरहम का काम करता था। उन दिनों अपने नये-नये क्लास के लेक्चरों की तैयारी में यदि मुझे अपना बहुत-सा सामय लगाना न पड़ता तो मैं नहीं कह सकता कि अपनी ख़ाली और काली घड़ियों को कैसे काटता।

उन दिनों एक सफल अंग्रेज़ी अध्यापक बनने और दिखने की भी धुन मुझपर इस क़दर सवार थी कि मेरा हिंदी का कवि मेरे अंग्रेज़ी के लेक्चरर के लिए एक दहशतदेह Complex यानी कुंठा बन गया था ! मैं कोशिश करता, मैं सतर्क रहता कि अपनी चाल-ढाल, बाल से हिंदी का कवि बिलकुल न दिखूँ—कवि मेरे यौवन में प्राय: बालों से पहचाना जाता था—बाल-कवियों के कई चेहरे मेरी आँखों के सामने से गुज़र गए हैं, जिनमें मेरा अपना भी है—

सिर पर बाल घने, घुंघराले,
काल, कड़े, बड़े, बिखरे-से

ग़ायर हो गए, गो अपने रूप-परिवर्तन पर मेरे कवि को थोड़ा मलाल भी था—

सिर पर बाल कढ़े कंघी से
तरतीबी से चिकने, काले,
जग की रूढ़ि-रीति ने जैसे
मेरे ऊपर फंदे डाले।

और यह फंदा मेरे सिर पर ही नहीं; मेरे गले में भी होता, नेकटाई के रूप में—अंग्रेज़ी काट के सूट-बूट से मैच करता। अंग्रेज़ी पढ़ाता हूँ तो अंग्रेज़ी पोशाक में पढ़ाऊँ, अंग्रेज़ी लहजे से भी, चाल-ढाल, पोशाक सबसे अंग्रेज़ी के लेक्चरर की साहबी चुस्ती-दुरुस्ती, हिंदी के कवि का ढीला-ढाला, ऊल-जलूलपन कहीं भी नहीं—सिगरेट कभी-कभी पीता हूँ, गाल में पान की गिलौरी नहीं दबाता।

और नहीं चाहता कि युनिवर्सिटी में, पढ़ाने के घंटों में, क्लास में, विद्यार्थियों में कोई मुझे 'बच्चन' नाम से संकेतित या संबोधित करे। उन दिनों परीक्षा में उत्तर-कापियों पर अपने लेक्चरर का नाम देने की प्रथा थी। अक्सर विद्यार्थी लेक्चरर की जगह 'बच्चन जी' या 'मिस्टर बच्चन' लिख देते थे। इसपर मैं उनपर बिगड़ता; मैं युनिवर्सिटी में 'बच्चन' नहीं हूँ, 'हरिवंश राय' हूँ। मना करने पर भी ऐसी भूल करने के लिए कभी-कभी तो मैं उनके नंबर भी काटता। मेरा हिंदी कवि प्रस्थापित था, मुझे अपने अंग्रेज़ी अध्यापक को स्थापित करना था।

कभी किसी शहर से कोई साहब आए हैं, मुझसे कह रहे हैं, फ़लाँ का नाम तो आपको याद होगा; अब हमारे नगर में अमुक पद पर हैं, आपके विद्यार्थी रहे हैं और बताते हैं कि कैसे क्लास में आप झूम-झूमकर 'मधुशाला' सुनाया करते थे···। और मैं अपने विद्यार्थी की कल्पना करता हूँ कि वह कैसे अपने क़स्बे या शहर में जाकर लोगों में जमाता होगा, तुम तो बच्चन जी को देखने-सुनने को तरसते हो और वे हमें रोज़ आकर पढ़ाते थे और कभी-कभी जब मूड में आते थे तो हमें 'मधुशाला' या और कविताएँ सुनाते थे।—और इस तरह अपने को औरों की सुखद ईर्ष्या का पात्र बनाकर खुश होता होगा। और

मैं अपने विद्यार्थी के उस हानि-रहित झूठ का प्रतिवाद नहीं करता, पर सच्चाई यही है कि अपनी लेक्चररशिप की अवधि में किसी भी दिन मैंने क्लास में कविता नहीं सुनाई।

मैं मेहनत से लेक्चर तैयार करता और वक़्त से क्लास में पहुँचता तो अपने विद्यार्थियों से भी प्रत्याशा करता कि वे समय से क्लास में पहुँचें और ध्यान से मेरे लेक्चर सुनें। उपस्थिति के संबध में मेरे नियम बहुत कड़े थे। मैं चाहता कि मेरे क्लास में पहुँचने के पहले विद्यार्थी अपनी-अपनी जगह पर बैठ जाएँ। वे मेरे क्लास में पहुँचने के बाद भी क्लास में आ सकते थे, बशर्ते कि मैंने हाज़िरी लेनी न शुरू कर दी हो। हाज़िरी लेते समय वे क्लास में न आ सकते थे। हाज़िरी समाप्त होने के बाद वे क्लास में आ सकते थे—उस समय आने पर वे लेक्चर तो सुन सकते थे, पर उनकी हाज़िरी नहीं लग सकती थी और लेक्चर आरंभ होने के बाद कोई लड़का अंदर नहीं आ सकता था। प्रायः लेक्चर-क्लास पहले पीरियड में होता था, और थोड़ी भी देर होने पर विद्यार्थी या तो हाज़िरी से चूकता था या हाज़िरी और लेक्चर दोनो से।

सत्येन्द्र शरत् ने—युनिवर्सिटी में वे मेरे विद्यार्थी थे—मुझे एक मनोरंजक क़िस्सा बताया था। बी० ए० फ़र्स्ट इयर में फ़र्स्ट पीरियड के लिए आने में उन्हें अक्सर देरी होती और कभी वे हाज़िरी से वंचित होते और कभी हाज़िरी-लेक्चर दोनों से। सेकेंड इयर में अंग्रेजी का लेक्चर-क्लास थर्ड पीरियड में हो गया, फ़र्स्ट पीरियड में एनशेंट हिस्ट्री रख दी गई जिसे श्री गोवर्धनराय शर्मा पढ़ाते थे। सत्येन्द्र शरत् ने राहत की साँस ली—अब थोड़ी-बहुत देर होने पर ग़ैर-हाज़िरी तो नहीं लगा करेगी। और किसी दिन कुछ देरी से पहुँचने पर वे गोवर्धनराय के पास अपनी हाज़िरी लगवाने गए तो उन्हें क्या जवाब मिला? 'जानते हो मैं शिष्य किसका हूँ? बच्चन जी का।' सत्येन्द्र ने अपना माथा ठोंक लिया, 'धन्य हो बच्चन जी! आप तो सख्ती करते ही हो, अपनी शिष्य-परम्परा भी डाल दी है।'

सुना है कि समुचित घास-दाना न पाने पर घोड़ा खरहरे से बिदक उठता है। मेरे विद्यार्थी मेरी सख्तियों पर कभी बिदके नहीं तो मैं यह नतीजा निकाल लेता हूँ कि उनको घास-दाना यानी पठन-सामग्री पर्याप्त मिलती होगी मुझसे। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन के अनुभव से यह बात और जानी थी कि

The best study is self-study (अपने आप पढ़ना पढ़ने का सबसे अच्छा तरीक़ा है।) मैंने क्लास में बैठकर अपने अध्यापकों के व्याख्यानों से इतना नहीं पाया था जितना लाइब्रेरी या अपनी मेज़ पर बैठकर स्वाध्याय से। इससे मैं अपने पढ़ाने में इस बात का विशेष प्रयत्न करता कि मैं विद्यार्थियों में स्वयं पढ़ने की रुचि जगाऊँ, शायद इसलिए भी कि इससे मेरे पढ़ाने में जो कमी हो उसकी पूर्ति हो जाए। लेक्चरर लोग स्वाध्याय के लिए पुस्तकों की लंबी-चौड़ी सूची का इमला तो ज़रूर बोल देते थे, पर विद्यार्थियों को पुस्तकें सुलभ न होती थीं, लाइब्रेरी में एकाध प्रतियाँ हुईं भी तो पाँच सौ विद्यार्थी अपने-अपने नाम ईशू कराने के संघर्ष में। विद्यार्थियों की इस असुविधा का हल निकालने के लिए मैंने एक सेक्शन लाइब्रेरी की स्थापना की। प्रथम वर्ष में विद्यार्थियों ने मिलकर जितना चंदा दिया उतना मैंने स्वयं उसमें मिलाकर कुछ ज़रूरी सहायक पुस्तकें खरीदकर क्लास की आलमारी में रख दीं। साल-दर-साल विद्यार्थियों के चंदे से यह लाइब्रेरी बढ़ती रही और १४ वर्ष बाद जब मैंने युनिवर्सिटी छोड़ी पूरी आलमारी, काफ़ी बड़ी, किताबों से भर गई थी, लगभग ५००, अंग्रेज़ी साहित्य के स्वाध्याय के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें। हर पुस्तक और हर विद्यार्थी को एक निश्चित नम्बर देकर मैंने एक ऐसी सरल विधि बनाई कि लगभग ६० विद्यार्थियों को केवल ५ मिनट में पुस्तकें ईशू करने का काम मैं समाप्त कर देता था। सदस्यता सीमित रहने से निश्चय मेरे बहुत-से विद्यार्थियों ने उन पुस्तकों से लाभ उठाया, शायद उससे अधिक जितना मेरे क्लास में व्याख्यान देने से। अपने पढ़ाने के संबंध में मैं और कुछ न कहना चाहूँगा।

उस समय के अंग्रेज़ी विभाग की याद करता हूँ तो सबसे पहले मेरा ध्यान झा साहब की ओर जाता है। जिस वर्ष मैं विभाग में स्थायी रूप से ले लिया गया, उसके एक वर्ष पहले वे अंग्रेज़ी विभागाध्यक्ष का पद छोड़कर युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर बन गए थे, पर वे बरसों से विभाग से संबद्ध थे, पहले लेक्चरर, फिर रीडर और बाद में विभागाध्यक्ष के रूप में—सुना था जब वे विद्यार्थी थे, तभी लेक्चरर नियुक्त हो गए थे, एम० ए० में पढ़ते थे और बी० ए० को पढ़ाते थे। उनका भी विभाग के प्रति बड़ा मोह था, विशेषकर अपने अध्यापक रूप के प्रति। कौन आज इस बात का विश्वास करेगा कि

वाइस-चांसलर हो जाने पर भी वे बी० ए० के अंग्रेजी विद्यार्थियों का एक सेमिनार क्लास लिया करते थे। विद्यार्थियों का चुनाव वे खुद करते थे, प्रथम श्रेणी पानेवालों अथवा अच्छे परिवार वालों में से, या फिर ऐसों का जिनसे किसी कारण वे अपनी विशेष निकटता अनुभव करते हों। एक बार एक विद्यार्थी को दिखलाकर उन्होंने मुझे बताया था, He is my grand-pupil. (यह मेरा पौत्र-शिष्य है।) इनके पिता को मैंने बी० ए० में पढ़ाया था, अब ये मेरे बी० ए० के सेमिनार में हैं।

झा साहब ने विभाग में एक Friday Club (फ़्राइडे क्लब) की स्थापना भी की थी। उसकी सदस्य-संख्या सीमित थी और उसमें वे अपने फ़ेवरिट्स यानी प्रिय अथवा कृपा-पात्रों को रखते थे—प्राय: बौद्धिक अथवा संस्कारी आभिजात्यों को। फ़्राइडे क्लब का सदस्य होना लोग बड़े गर्व की बात समझते थे। मैं कह नहीं सकता कि उसकी बैठकों में विशेष क्या होता था। अ-सदस्यों को उनमें सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था। झा साहब की अनायास कृपा पाने पर भी मैं कभी फ़्राइडे क्लब का सदस्य नहीं रहा—न उन्होंने मुझे बनाने की इच्छा प्रकट की, न मैंने बनने की। फ़्राइडे क्लब नाम शायद इसलिए दिया गया था कि उसकी बैठकें शुक्रवार की संध्या को हुआ करती थीं, पर कुछ लोग, जिनके लिए उसकी सदस्यता खट्टा अंगूर थी, अथवा जो क्लब के सदस्यों के प्रति ईर्ष्या रखते थे—उनके झा साहब की निकटता प्राप्त करने के कारण—व्यंग्य से क्लब को Man Friday Club (मैन फ़्राइडे क्लब) कहा करते थे। इस व्यंग्य में जो कटु संकेत है उसे वे ही समझेंगे जो राबिन्सन क्रूसो की कहानी जानते होंगे—मैन फ़्राइडे राबिन्सन क्रूसो का वफ़ादार, फ़रमाँबरदार, हाँ-हुजूरी करने वाला अनुचर था। मतलब उनके कहने का होता था कि फ़्राइडे क्लब झा साहब के मिट्ठुओं-पिट्ठुओं की संस्था है। अहंपूर्ण सरपरस्ती (शायद पैट्रोनाइज़िंग का यही अनुवाद किया जाए) झा साहब के मिज़ाज की एक जुज़ थी, पर यह मानना पड़ेगा कि अनधिकारियों ने उसका लाभ शायद ही कभी उठाया हो। अपने से छोटों से आदर पाने का हक़दार वे अपने को ज़रूर समझते थे, उनकी विनम्रता से प्रसन्न भी होते थे; पर चाटुकारिता को प्रश्रय देते या उससे प्रभावित होते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।

,उनके पढ़ाने की चर्चा मैं एकाधिक बार पहले कर चुका हूँ। अंग्रेज़ी विभाग से अपने पूर्व संबंधों की स्मृति सँजोए रखने पर भी, उसके कतिपय सूत्रों से अपने को प्रयत्नत: जोड़े रहने पर भी, वाइस चांसलर होने के बाद विभाग से झा साहब का संपर्क क्षीण होता गया, गो उसपर उनकी छाया का आभास बराबर अनुभव किया जाता रहा।

झा साहब वाइस चांसलर हो गए तो पंडित शिवाधार पांडेय अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष हुए। वास्तव में वरिष्ठता के आधार पर झा साहब से पहले पांडेय जी को विभागाध्यक्ष होना चाहिए था। झा साहब ने स्वयं एक बार स्वीकार किया था कि अगर पांडेय जी चाहते तो उनके रास्ते में अड़ंगा खड़ा कर सकते थे, पर पांडेय जी भोले-भोले आदमी, वे रीडर बने रहकर संतुष्ट रहे, शायद इससे प्रसन्न भी हुए कि अध्यक्ष को जो प्रशासन-संबंधी काम करने पड़ते हैं उनकी झंझट से बरी रहे, गो जब यह झंझट उनके सिर आ ही पड़ी तो उसको उन्होंने सलीक़े से निबाहा।

झा साहब में योग्यता भी थी, प्रदर्शन भी था और दोनों मिलकर लोगों पर गहरा और कभी-कभी थोड़ा आतंक-पूर्ण प्रभाव भी डालते थे। पांडेय जी में योग्यता अधिक थी, अधीत वे निश्चय अधिक थे, ज्ञान में उनकी पैठ गहरी थी, पर प्रदर्शन उनमें बिलकुल न था। वे किसी को न प्रभावित करते थे न प्रभावित करना चाहते थे। विभागाध्यक्ष होने पर शायद ही उनमें तिल भर भी परिवर्तन आया हो। हाँ, कमरे-कमरे में जाकर क्लास लेने के बजाय अब वे अपने कमरे में बैठने लगे, और क्लास उनके पास आने लगा। विभाग में एक इंगलिश एसोसिएशन था जिसमें किसी का व्याख्यान होता या कोई पेपर पढ़ता तो विभागाध्यक्ष के नाते पांडेय जी को आना पड़ता। संबद्ध विषय में वे कुछ कहते भी, पर हमेशा यही लगता कि वे जितना व्यक्त करते हैं, उससे बहुत अधिक जानते हैं; इतना अधिक जानते हैं कि उसे थोड़े शब्दों में, थोड़े से समय में नहीं बता सकते। संक्षेप में, सारवान और सटीक बात कहने में झा साहब को कमाल हासिल था।

पांडेय जी के अवकाश-ग्रहण करने पर विभाग की अध्यक्षता के लिए दो तगड़े उम्मीदवार थे—मिस्टर एस० सी० देव और डा० पी० ई० दस्तूर।

देव साहब को मैंने पहले-पहल १९२७ में देखा था जब मैंने बी० ए० करने

के लिए युनिवर्सिटी में दाखिला लिया था। उनके सेक्शन या उनके सेमिनार में न पड़ने के कारण बी० ए० करते समय मैं उनके संपर्क में न आया था। उस समय वे लूकरगंज में रहते थे और ताँगे से युनिवर्सिटी आते थे—पिछली सीट पर बैठने के कारण ताँगा उनके बोझ से पीछे को झुका। वे एक हाथ में छड़ी और दूसरे में आसानी से न सँभलने वाली पाँच-छह मोटी-मोटी किताबें लिये उतरते थे।

१९२९-'३० में जब मैं अंग्रेज़ी में एम० ए० (प्रीवियस) कर रहा था तब उन्होंने मुझे नाटक और उपन्यास के दो पर्चे पढ़ाए थे। भारी शरीर के अनुपात का उनका भारी-सा सिर, उसपर तेल की चमक लिए काले, छोटे बालों के बीचों-बीच सीधी माँग, छोटी-चौड़ी नाक के नीचे किसी लोशन की सहायता से कड़ी कर उठाई-उमेठी मूँछें—बिच्छू के दो डंकों जैसी—साँवला रंग, दरमियाना क़द, पैंट पर बंद कालर का कोट, जिसके ऊपर के दो-एक बटन बंद, शेष सब खुले,—कोणाकार नीचे पहनी सफ़ेद क़मीज़ दिखाते—बीच के बटन से अटकी चाँदी के चेन वाली जेबी घड़ी, किसी बाँह के कफ़ में एक सफ़ेद रूमाल खुँसा—तब के देब साहब की यह तस्वीर आज भी मेरी आँखों के सामने है। खड़े होकर बोलते थे, धारा-प्रवाह, हर चौथे-पाँचवें शब्द पर आघात (एम्फ़ैसिस) बीच-बीच में फ़्रेंच की हुरेट, जिसे क्लास में शायद ही कोई समझता हो। कभी उद्धरण देना होता तो पुस्तक, लेखक, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन तिथि, संस्करण, अध्याय, पृष्ठ, पंक्ति—सब स्मृति के आधार पर बता जाते—शायद सब ठीक ही। देसी अंग्रेज़ी का ऐसा शब्द-प्रपात—गो बंगाली उच्चारण-प्रभाव से सर्वथा मुक्त—नायग्रा फ़ाल जैसा—न कभी पहले देखा था न बाद को ही देखा। इसे मैं अपनी ही अक्षमता कहूँगा कि क्रम-बद्धता मैं उनके विचारों में न पाता। एक विषय पर बात करते-करते वे किसी ऐसे दूसरे, तीसरे या चौथे विषय पर पहुँच जाते जिसका कम से कम मेरी समझ में पहले से या आपस में दूर-दराज़ का भी संबंध न होता। 'मैं' शब्द का प्रयोग बहुत कम करते, प्रायः अपने को 'योर हम्बुल सर्वेन्ट' (आपका ख़ादिम) ही कहते।

विद्यार्थी जीवन के शरारती दिनों में मैंने उनपर एक लिमरिक लिखी थी जो मुझे अब तक याद है—

प्रोफ़ेसर देब वाज़ द सेम इन लेंग्थ एंड ब्रेड्थ
ऐंड ए मैन आफ़ एनसाइक्लोपीडिक डेप्थ,
ही वाज़ हम्बुल टु ए फ़ाल्ट,
ऐंड हम्बलर विद ए समर साल्ट;
ही कुड टाक आफ़ हाफ़िज़ ऐंड होनोलूलू ऐंड हलवा इन वन ब्रेथ।

इसका एक हिंदी रूप भी था, (भारतभूषण अग्रवाल के 'तुक्तक' का फ़ार्म आने में तो अभी चौथाई सदी की देर थी)—

प्रोफ़ेसर देब थे गोलमटोल,
मानो विश्व-ज्ञान के ढोल
विनम्रता के थे अवतार
और विनम्रतम बन जाने में
उन्हें नहीं लगती थी बार,
कर सकते थे वे हाफ़िज़ का,
होनोलूलू का, हलवे का
एक साँस में शाखोच्चार।

यह तो नटखटपने की बात हुई, उभरती जवानी के दिनों की, जो हँसकर क्षमा कर दी जानी चाहिए। वास्तविकता यह है कि देब साहब का अध्ययन व्यापक था—बंगाली थे, बँगला तो जानते ही थे; कई पीढ़ियों से उत्तर प्रदेश में रहने के कारण हिंदी-उर्दू भी अच्छी तरह जानते थे,—हिंदीवालों से शुद्ध हिंदी और उर्दू वालों से उर्दू-ए-मोअल्ला में बात कर सकते थे—अंग्रेज़ी के अध्यापक थे ही, फ़्रेंच भी अच्छी जानते होंगे—फ़्रेंच साहित्य-बेजिल्दी—उनकी आलमारियों में ठँसा रहता था, और मेरा ऐसा अनुमान है कि योरोप की और कई भाषाओं में भी वे दखल रखते थे। इन भाषाओं में उनका पठन केवल साहित्य तक सीमित नहीं था—धर्म, दर्शन, इतिहास, सौन्दर्य शास्त्र, स्थापत्य मूर्ति-चित्रकला, संगीत—ये तो साहित्य के अंगी ही हुए—नृ-शास्त्र, पुरातत्व, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, समाज शास्त्र, क़ानून, मनोविज्ञान—कहाँ तक गिनाएँ—तकनीकी और विशुद्ध विज्ञान को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा

विषय हो जिसपर प्रामाणिक और अद्यतन पढ़े रहने का यथा-प्रसंग आभास देव साहब न देते हों। निश्चय ही उनके व्यापक और वैविध्यपूर्ण अध्ययन तथा प्रगल्भ और आकर्षक व्याख्यानों से उनके विद्यार्थी बहुत प्रभावित होते थे, यथावसर उनसे वार्तालाप, संलाप करके उनके सहयोगी और मित्र भी, गो उनसे बातचीत करने का अर्थ होता था—पाँच प्रतिशत अपनी कहना और पंचानवे प्रतिशत उनकी सुनना।

दस बरस बाद जब मैं विभाग में लेक्चरर बनकर आया, देव साहब की हुलिया, चाल-ढाल, पोशाक, तौर-तरीक़े में कोई अंतर नहीं आया था, केवल उनकी मूँछों के बिच्छू के डंक झड़ गए थे।

दस्तूर साहब की वेश-भूषा में भी कोई फ़र्क़ न पड़ा था, शरीर से वे कुछ स्थूल हो गए थे और उनके सिर पर गंज झलकने लगी थी। उन्हें देखते ही चौदह वर्ष पहले का उनका रूप याद आता, दुबले-पतले, गोरे पारसी युवक का, सिर पर रेशम-से असघन, काले, पीछे को सीधे कढ़े बाल, पान के आकार का चेहरा—मस्तक का दीर्घ वृत्त-खंड ठुड्डी पर लघु वृत्त-खंड बनाता, काले फ़्रेम के चश्मे के पीछे बहुत पढ़नेवाली आँखें, मुख पर विद्वत्ता की गरिमा और गांभीर्य, पोशाक विशुद्ध अंग्रेज़ी सूट-बूट-टाई-कालर-हैट वाली। बरसातों में भी उनके कपड़ों की कलफ़ और क्रीज़ देखकर आश्चर्य होता, जब कि वे बरसते में साइकिल से युनिवर्सिटी आते—छाता या वाटरप्रूफ़ से भी इलाहाबादी बारिश में कितना बचाव संभव था। भेद एक दिन उन्होंने खोल दिया था, वे एक अटैची में एक पूरा धुला, इस्त्री किया सूट अपने कमरे में रखते और घर से आने पर बदल लेते। कई वर्ष पूर्व उनकी पत्नी का देहावसान हो गया था—बड़ी सुंदरी थीं, मैं उनसे मिला था, कोई संतान न छोड़ी थी—और दस्तूर साहब ने दुबारा विवाह करने का विचार छोड़ दिया था, शायद उन्होंने अपने विधुर-जीवन को सदा के लिए स्वीकार कर लिया था—एकाकी रहेंगे और एक समर्पित स्वाध्यायी और अध्यापक का जीवन व्यतीत करेंगे। एक विचित्र परिवर्तन उनके स्वभाव में आया था, जो मेरे लिए एक रहस्य था, पर जिसे बूझने का मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया, अपने विवाहित जीवन में वे बड़े रिज़र्व्ड, मितभाषी और संजीदा रहा करते थे;

विधुर होने के पश्चात् वे मिलनसार, हँसमुख और सब के लिए खुले-से हो गए थे।

शुरू से ही, जैसे उनमें अपनी भौतिक स्थिति सुधारने की कामना थी वैसे ही अपने को अधिकाधिक ज्ञान-समृद्ध करने की लगन, और इसमें उनकी पत्नी के देहावसान से भी कोई अंतर न आया था। पहले वे साइकिल से युनिवर्सिटी आते थे, फिर मोटर साइकिल से, जिसमें उन दिनों एक बग़ली सीट भी होती थी, फिर मोटर से। विधुर होने के बाद उन्होंने अपने को अधिक गहन और योजनाबद्ध अध्ययन में लगाया। मिल्टन उनका प्रिय कवि था—एम० ए० को वे मिल्टन पढ़ाते भी थे। उन्होंने Lucifer in Mediaeval English Literature (मध्ययुगीन अंग्रेज़ी साहित्य में शैतान) पर बहुत सामग्री एकत्र की थी, विशेष सामग्री इकट्ठी करने के लिए वे कई मास आक्सफ़र्ड जाकर रहे थे, और लौटकर डी० लिट० के लिए थीसिस प्रस्तुत की थी जो ब्रिटिश युनिवर्सिटियों के परीक्षकों द्वारा स्वीकृत भी हुई थी।

डा० दस्तूर ने मुझे बी०ए० और एम०ए० में और मि० देब ने एम० ए० में पढ़ाया था, दोनों मेरे गुरु थे—'को बड़-छोट कहत अपराधू'। प्रभाव उनका मुझपर वही था जो क्लास में उनके लेक्चरों से पड़ा था, या यदा-कदा युनिवर्सिटी की विभिन्न संस्थाओं में उनके भाषणों से। संक्षेप में यही कहना चाहूँगा कि डा० दस्तूर यदि अपनी यथातथ्यता (Exactness) से विमुग्ध करते थे तो देब साहब अपने प्राचुर्य (Exhuberance) से अभिभूत। सेवा-काल की ज्येष्ठता देब साहब के पक्ष में थी तो अकादमिक उपाधि की वरिष्ठता दस्तूर साहब के पक्ष में; और विभाग में प्रायः अनुमान लगाया जाता था कि युनिवर्सिटी की एक्ज़ेक्यूटिव कमेटी अध्यक्ष पद के लिए किसको तरजीह देगी।

विभागाध्यक्ष श्री एस० सी० देब को बनाया गया, क्योंकि युनिवर्सिटी में उन्होंने अपनी सेवा डा० दस्तूर से पहले आरंभ की थी। डा० दस्तूर ने अपने शिक्षण-दाक्षिण्य, स्वाध्याय एवं आचार-व्यवहार-गरिमा से, तथा युनिवर्सिटी के सामान्य जीवन में अन्य रूपों में भी सक्रिय भाग लेकर अपने लिए एक ऐसा स्थान बना लिया था कि अधिकारियों ने भी यह अनुभव किया

कि जो हुआ है उसे डा० दस्तूर के प्रति किसी अंश में अन्याय समझा जायगा, और उनके आँसू पोंछने के लिए, बाद को, उन्होंने विभाग में एक एसोशिएट प्रोफ़ेसर की जगह बनाकर उन्हें दे दी। दोनों प्रोफ़ेसरों के वेतन आदि में क्या अंतर रखा गया था, मुझे नहीं मालूम।

उस समय की एक मनोरंजक घटना मुझे याद आ गई है। एसोशिएट प्रोफ़ेसर का पद पाने पर डा० दस्तूर को बधाई देने के लिए विभाग की ओर से एक आयोजन किया गया। उत्तर में डा० दस्तूर ने जो वाक्पटु, व्यंग्य-विनोद पूर्ण और चुटीला भाषण दिया, वह भुलाने की चीज़ नहीं है। 'एसोशिएट' को जब छोटे में लिखते हैं तो 'ऐस' मात्र लिखते हैं, जिसका अर्थ अंग्रेज़ी में होता है 'गधा'। डा० दस्तूर ने कहा कि मुझे मालूम है कि लोग मुझे एसोशिएट प्रोफ़ेसर के बजाय ऐस प्रोफ़ेसर ही लिखेंगे : यदि कहेंगे भी नहीं, व्यस्तता के इस युग में संक्षिप्तता की ओर झुकाव स्वाभाविक है। इससे यदि किसी आदमी का उपहास होता हो तो दोष प्रयोक्ताओं का नहीं, अंग्रेज़ी भाषा का है। मैं अधिकारियों का बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे ऐस० प्रोफ़ेसर के योग्य समझा, पर वास्तव में तो ऐस० प्रोफ़ेसर श्री ऐस० सी० देब होंगे क्योंकि उन्हें विभाग प्रबंध की लादी भी ढोनी पड़ेगी। सच पूछो तो एक तरह से हम दोनों ही ऐस० प्रोफ़ेसर होंगे—एक काम से, एक नाम से आदि-आदि…। श्लेष, अनुप्रास, व्याज, उच्चारण-वैभिन्य का आश्रय लेकर डा० दस्तूर ने उस दिन क्या-क्या नहीं कह डाला था। उस समय उनका चोट खाया हुआ अहं ही वाणी की प्रखरता में व्यक्त हुआ था। उनके आँसू पुँछ गए हों, पर वे अपने प्रति किए गए अन्याय को शायद ही भूले। बाद को जैसे ही उन्हें अवसर मिला वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी छोड़कर चले गए।

शिक्षा-संस्थाओं में पदोन्नति के प्रश्न पर यहाँ कुछ कहना शायद अप्रासंगिक न होगा। सेवा-वय की ज्येष्ठता का अर्थ क्या है विश्वविद्यालयी संदर्भ में ? यह तो एक दफ़्तरी अंध प्रक्रिया हुई कि जो क्लर्क बनकर घुसता है, वह यथा-समय सेक्शन-आफ़िसर बनकर निकलता है, जो अंडर-सेक्रेटरी बनकर, वह यथासमय ज्वाइंट-सेक्रेटरी बनकर। क्या विद्या, बुद्धि और ज्ञान का पथ इतना सीधा है ? क्या मानसिक विकास आराम-घड़ी और दीवारी-कैलेंडर के कालक्रम का अनुवर्ती होता है ? वास्तविकता तो यह है कि पढ़ाने

का पेशा बड़ा खतरनाक पेशा है। एम० ए० पास आदमी को दर्जा मिडिल पढ़ाने को दे दीजिए, और पाँच-सात बरस में उसकी बुद्धि का स्तर मिडिलची का न हो जाय तो मैं कुछ हारने को तैयार हूँ। इसी खतरे से बचने के लिए पश्चिमी विश्वविद्यालयों में चिंतन को, शोध को, स्वाध्याय को, जो किसी स्थूल रूप में प्रमाणित भी हो, महत्त्व दिया जाता है, प्रोत्साहित किया जाता है। यहाँ शोध किया जाता है नौकरी पाने के लिए, वहाँ शोध किया जाता है नौकरी को बरक़रार रखने के लिए, सार्थक करने के लिए। अपने यहाँ की युनिवर्सिटियों में मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ, उनके नाम गिना सकता हूँ, जो लेक्चरर हो गए, रीडर हो गए, प्रोफ़ेसर हो गए और उनके चिंतन-शोध-स्वाध्याय के फलस्वरूप उनका एक भी लेख प्रकाशित नहीं हुआ। पश्चिमी विश्वविद्यालयों में यह अकल्पनीय है। ठीक है, आपने अंध-ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नति करने की परंपरा डाल रखी है—और उसके चलाए जाने में लगता ही क्या है—पर यह सवाल तो प्रष्टव्य है ही कि विश्वविद्यालयों में कालगत ज्येष्ठता को तरजीह दी जाए अथवा योग्यता की वरिष्ठता को। योग्यता का मापदंड बनाना कठिन है, पर यह कठिन काम यदि विश्वविद्यालयों में नहीं होगा तो कहाँ होगा! मैंने महाभारत में कहीं पढ़ा था कि शूद्र आयु से बड़ा माना जाता है, ब्राह्मण विद्या से, और इस प्रश्न का उत्तर आप ही दें कि आप विश्वविद्यालयों को ब्राह्मण-पीठ मानना चाहेंगे या शूद्र-पीठ। मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं ब्राह्मण और शूद्र को बुद्धि भेदी मापदंड से नाप रहा हूँ, वर्णभेदी मापदंड से नहीं।

हम शायद स्वभाव से ही अपने ऊपर कड़ी नज़र रखनेवाला शासक नहीं चाहते। डा० दस्तूर, यह मानना पड़ेगा, अगर exact (सही) थे तो exacting (सही के आग्रही) भी थे। उनके विभागाध्यक्ष नियुक्त न होने पर कुछ लोगों ने राहत की साँस ली हो तो कोई ताज्जुब नहीं। देब साहब की अध्यक्षता में सब ल्गो 'अपन हथः जगन्नथा' रहने की स्वतंत्रता थी। कुछ लोग शायद दोनों के प्रति उदासीन रहे हों—'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' या लाभू की मनोवृत्ति के अनुसार।

पुराने लोगों में मि० एल०डी० गुप्ता, मि० डी० ओझा और मि० एस०एन० मिश्रा अपने पुराने ढर्रे पर चले जा रहे थे। ओझा जी हर सत्र के आरंभ में अपने विद्यार्थियों से यह गुप्त रखना चाहते थें कि उनका पूरा नाम दमड़ी

ओझा है, पर सत्र की समाप्ति तक यह बात हर एक को मालूम हो जाती थी। उनकी महत्ता युनिवर्सिटी में लेक्चरर होने से अधिक म्योर होस्टल के सुपरिन्टेन्डेन्ट होने के कारण थी, और वहाँ उनके प्रबंध में कोई मीन-मेष नहीं निकाल सकता था। अंग्रेज़ी पढ़ाने में उनकी विशेष ख्याति न थी। जो लड़के उनके सेमिनार में पड़ जाते थे वे किसी न किसी बहाने वहाँ से निकल भागना चाहते थे और ओझा जी उसी तत्परता से उन्हें अपने यहाँ रखने का आग्रह करते थे।

मिश्रा जी मेरे गुरुओं में थे, उनसे मैंने इंगलिश प्रोज़ का पर्चा पढ़ा था। किसी समय वे विभाग में best dressed man (सर्वोत्तम वस्त्रभूषित व्यक्ति) समझे जाते थे। उन्होंने अपनी अध्यापकी के प्रारंभिक वर्षों में कुछ नोट्स तैयार किए थे, जिन्हें वे साल-दर-साल डिक्टेट करा देते थे और लड़के उनकी मदद से पास भी हो जाते थे—कभी उनके कमरे के सामने से निकलता तो वही बारह-चौदह वर्ष पूर्व परिचित आवाज़ वहाँ गूँजती होती—एक शब्द खासकर सुनाई देता Conundrum (कनंड्रम = श्लेषोक्ति) जिसका उपयोग वे बहुतायत से करते थे—दीर्घ ध्वनिकर शब्दों से उन्हें विशेष प्रेम था। इधर वे किसी तरह युनिवर्सिटी की बाग़बानी के इंचार्ज हो गए थे और क्लास के बाद अक्सर दस्सू माली उनके आगे-पीछे फिरता दिखाई देता या वे दस्सू माली की तलाश में इधर-उधर फिरते दिखते।

इन्हीं लोगों के समवयस्क थे मि० भगवत दयाल और मि० रघुपति सहाय 'फ़िराक़', गो ये दोनों ही युनिवर्सिटी से बहुत बाद को संबद्ध हुए। मि० भगवत दयाल—गो उनसे पूछा जाता तो वे अपना नाम बताते 'बी० डायल'—की शिक्षा ऐंग्लो-इंडियन स्कूलों और इंग्लैंड में हुई थी—शायद आक्सफ़र्ड में—और इसका पूरा प्रभाव उनके उच्चारण और रहन-सहन पर पड़ा था। किसी भी हिन्दुस्तानी द्वारा अंग्रेज़ की नक़ल जिस हद तक की जा सकती थी उस हद तक उन्होंने की थी। अच्छे क़द का भरा-भरा शरीर था उनका, चेहरे पर बड़ी, यहूदियों की-सी सुग्गा-टोंटी नाक, रंग से गोरे थे ही, हमेशा सूट-बूट पहनते थे, अकड़कर चलते थे—शायद यू० ओ० टी० सी० में रहने के कारण, जहाँ वे सेकेन्ड-इन-कमांड थे, और बोलते थे मुँह में सिगार या पाइप दबाकर। मेरे एक मित्र ने उनपर एक लिमरिक लिखी थी। अंग्रेज़ी जाननेवाले इसका

आनंद ले सकेंगे। उनका खाका सामने खड़ा हो जाता है :—

There was a man called Dāyal,
He was proud of his English style,
And prouder of his prose,
But proudest of his nose,
That made him look like a gargoyle.

अंग्रेजों की तरह अंग्रेज़ी बोल सकने की क्षमता पर उन्हें गर्व था और देसी उच्चारण से अंग्रेज़ी बोलनेवालों को वे नीची नज़र से देखते थे और मौक़े-बे-मौक़े उनका मज़ाक़ भी बनाते थे। हम लोग तो उनसे बात-चीत करने में हिचकते थे—सिगार या पाइप दाबे होंठों से निकलती हुई उनकी साहबी अंग्रेज़ी आधी तो हमारे पल्ले ही न पड़ती थी। उनसे कभी-कभी बराबरी के दर्जे पर बोलते थे तो 'फ़िराक़' साहब, 'मिस्टर दयाल, अब आपकी अंग्रेज़ी हमारी समझ में आने लगी है, एक बार आप फिर विलायत हो आइए।' मि० दयाल इस व्यंग्य पर काफ़ी कटते, पर मुस्कराकर टाल जाते। जब अध्यापकों का यह हाल था तब विद्यार्थी उनकी अंग्रेज़ी कितनी समझते होंगे, राम ही जाने। यू० ओ० टी० सी० में स्वयं रहने के कारण मैं उनके सिपाहियाना रूप से भी परिचित था—ख़ाकी वर्दी में वे किसी भी पेशेवर फ़ौजी अफ़सर का कान काटते।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विभाग में सबसे अधिक रोचक व्यक्तित्व 'फ़िराक़' साहब का था। उस समय भी वे उर्दू कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, और अंग्रेज़ी में उनकी कुशाग्रता (ब्रिलिएंस) की प्रसिद्धि उनके विद्यार्थी जीवन से जुड़ी थी। ऐसी कथा प्रचलित थी कि पंडित अमरनाथ झा और 'फ़िराक़' साहब बी० ए० में सहपाठी थे। साथ ही परीक्षा देते तो प्रथम स्थान निश्चय 'फ़िराक़' साहब को मिलता। इसलिए पं० अमरनाथ झा के पिता पंडित गंगानाथ झा ने—जो उस समय वाइस चांसलर थे—'फ़िराक़' साहब को उस वर्ष ड्राप करने को कहा, और वे मान गए। ड्राप तो वे उस वर्ष कर गए थे, पर कारण कोई उनका निजी और पारिवारिक था। मेरे लिए हिंदी के कवि और अंग्रेज़ी के अध्यापक में जो विरोध था उसमें 'फ़िराक़' साहब ने

संतुलन प्राप्त कर लिया था। मेरी ऐसी धारणा है कि 'फ़िराक़' साहब जीविका कमाने के लिए युनिवर्सिटी में लेक्चरर थे, पर अपने को मुख्य रूप से उन्होंने उर्दू शायरी को दे रखा था। आगे चलकर उन्हें अपने काव्य-संग्रह 'गुले-नग़मा' पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। उनमें जिस कोटि की प्रतिभा थी, उसके एक बहुत छोटे अंश से वे अध्यापन का कार्य संपादित कर सकते थे—बी० ए० के ऊपर पढ़ाने को उन्हें शायद ही कभी मिला, शेष उनके कवि को समर्पित था, जिसे उन्होंने केवल अपनी अनुभूतियों अथवा भावनाओं से ही नहीं, अपने वैविध्यपूर्ण अध्ययन, चिंतन-मनन और अभ्यास से भी पुष्ट और सुविकसित किया था। प्रतिभा प्रायः असंतुलन और किसी न किसी प्रकार के विकार का शिकार होती है, और 'फ़िराक़' उनसे मुक्त नहीं थे।

'फ़िराक़' एक खास अर्थ में चिंतक थे, पर उनका चिंतन अंग्रेज़ी साहित्य या सामान्य रूप से साहित्य, भाषा और कविता की समस्याओं तक सीमित न था। जो भी समय और संसार को उद्वेलित करता था उसपर 'फ़िराक़' साहब सोचते और अपनी अलग राय रखते थे, उसपर चर्चा करना चाहते थे और अपनी राय दूसरों को मनवाने के आग्रही भी थे, चाहे वह सही हो चाहे ग़लत। विभाग में जितनी बातें वे करते थे, उतनी कोई और नहीं करता था। वे बातें तर्क से करते, जोशोखरोश से करते, व्यंग्य-विनोद से करते, और कभी-कभी मुँहफट भी हो जाते। उनका चेहरा, उनका माथा, भौहें, आँखें, नाक, होंठ, मुँह—सब बड़े ही अभिव्यंजक थे। वे उन्हें खींच, तान, मोड़, मरोड़, उठा, ऐंठ, खोल-मूँद जितनी मुद्राएँ बना सकते थे उन्हें देखकर चतुर से चतुर अभिनेता को उनसे ईर्ष्या होती। उनका दिमाग़ गंभीर से गंभीर कविताओं, सूक्तियों से लेकर हल्के-फुल्के और अश्लील से अश्लील चुटकुलों का ख़ज़ाना था। उनकी बातों को सुनने में मज़ा आता था, भले ही उनसे सहमत हुआ जा सके या न हुआ जा सके। विभाग में वे तब तक बैठे रहते जब तक कोई भी उनसे बात करने को मिल सकता।

मझोला शरीर था उनका, शेरवानी के साथ कभी चूड़ीदार और कभी ढीला पाजामा पहनते थे, उन्हें सूट में देखने की कोई तस्वीर मेरी आँखों में नहीं, शौक़िया छड़ी लेकर चलते थे, एक हाथ पर टाँगे, टेकते नहीं। उमर के साथ अपने कपड़ों के प्रति वे लापरवाह होते गए थे। बैंक रोड-स्थित

युनिवर्सिटी बँगले में रहते थे और पैदल युनिवर्सिटी आते थे, पिछवाड़े के छोटे रास्ते से; देर हो गई होती तो लान पारकर क्लास में पहुँचते और किसी चपरासी या लड़के से हाज़िरी का रजिस्टर मँगा लेते। घर लौटते भी वैसे ही ख़रामा-ख़रामा, जनवासे की चाल से—तेज़ी किसी तरह की उनमें देखी जाती थी तो उनकी ज़बान में।

होस्टलों में यदा-कदा सामयिक विषयों पर उनके व्याख्यान होते—प्रवाह पूर्ण अंग्रेज़ी बोलते थे। मुशायरों में तो उनकी धूम ही रहती थी—हाँ, कभी कभी पीकर आते थे तो कुछ बदमज़गी भी पैदा कर देते थे।

उनकी बहुत-सी बातों से हमराय न हो सकने और कुछ को नापसंद करने पर भी कुल मिलाकर मुझे उनका व्यक्तित्व आकर्षक लगता था। आज भी अगर मेरा जाना इलाहाबाद हो तो सब से पहले मैं उनसे मिलना चाहूँगा, और अगर उनको भी फ़ुरसत हो तो अपना सबसे ज़्यादा वक़्त उनकी सोहबत में गुज़ारना चाहूँगा।

उम्र में 'फ़िराक़' साहब से कुछ छोटे थे मि० बेनी सिमलाई। बंगाली ईसाई थे। युनिवर्सिटी में आने के पूर्व वे ईविंग क्रिश्चियन कालेज में अध्यापक थे। वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी के स्नातक नहीं थे—दुबले, पतले, मझोले क़द के, फुर्तीले, हँसमुख, मिलनसार—पाइप पीते थे। यदा-कदा हिंदुस्तानी बोलने का प्रयत्न करते थे—बंगाली जिस तरह हिंदुस्तानी उच्चारण और ऐंग्लो-इंडियन जिस तरह हिंदुस्तानी व्याकरण की रेढ़ मारते हैं उसका मिला-जुला नमूना पेश करते हुए। 'फ़िराक़' साहब जब कभी आवेश में आ जाते तब सिमलाई ही किसी हल्की-फुल्की बात से उनको समस्थिति में लाते। उनका एक छोटा-सा सिद्धांत था—जीवन के लिए निश्चय बहुत उपयोगी और लाभ-कारी—कि गंभीर से गंभीर बात का कोई एक पक्ष ऐसा होता है जिसपर मुस्कराया या खुलकर हँसा जा सके। और सिमलाई की दृष्टि अपने और दूसरों के मामलों में भी इस पक्ष को सहज पकड़ लेती थी। वे पुरानी और नई पीढ़ी के बीच एक प्रकार के सेतु थे।

मि० के० के० मेहरोत्रा से (मेहता, मेहतर—सम्मान सूचक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—मेहरा, महरा, मेहरोत्रा, मलहोत्रा आदि शब्द और उनके पारस्परिक संबंध किसी जाति का कैसा विचित्र इतिहास छिपाए होंगे, इसे

शायद कोई भाषाविद ही कभी खोल सके) विभाग के अध्यापकों की नई पीढ़ी की शुरुआत होती थी। वे और उनके बाद आने वाले सभी लेक्चरर— मि० भवानी शंकर, मि० रवीन्द्रनाथ देव, मि० प्रकाशचन्द्र गुप्त, मि० हरिश्चंद्र, डा० सूरज प्रसाद खत्री—सभी पंडित अमरनाथ झा, पंडित शिवाधार पांडेय और मि० एस० सी० देब के पढ़ाए थे। पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष न अभी आरंभ हुआ था और न यह शब्दावली कहीं सुनाई पड़ती थी। पुराने लोग अपने अनुभव, अभ्यास से नहीं तो पुरानेपन के कारण ही अधिक योग्य और आदरास्पद माने जाते थे। वही एम० ए० क्लास पढ़ाते थे, पढ़ाने के अधिकारी भी समझे जाते थे, और नया कोई उनके इस विशेषाधिकार को चुनौती न देता था। बहुत वर्षों तक नई पीढ़ी में से केवल मि० मेहरोत्रा को एम० ए० के छात्रों को माडर्न पोयट्री पढ़ाने का काम दिया जाता था। जूनियर लोगों को भी एम० ए० क्लास पढ़ाने के साथ संबद्ध किया जाए, यह माँग बहुत बाद को स्वीकार की गई।

एक बड़ी मनोरंजक बात याद आई। जूनियर लोगों को पहले परीक्षा में Invigilation (निरीक्षण) का काम भी नहीं दिया जाता था। तब यह बड़ा दायित्वपूर्ण कार्य समझा जाता था, शायद इस कारण कि उसके लिए कुछ Honorarium (पारिश्रमिक) मिला करता था। जब आनरेरियम बंद कर दिया गया तो उसकी दायित्वपूर्णता किसी तर्क से समाप्त कर दी गई, और जूनियर लोग भी इस काम में शामिल किए जाने लगे और बाद को तो सीनियर लोग इस काम से कतराने लगे—अधिक उपयोगी कामों में लग सकनेवाला उनका समय क्यों बेकार बर्बाद किया जाए। एम० ए० को पढ़ाने के दायित्व-पूर्ण काम में हाथ बँटाने के लिए वेतन में हिस्सा देने या वेतन बढ़ाने की बात होती तो निश्चय सीनियर लोग इसका अधिक विरोध करते और जूनियरों में भी परस्पर प्रतिद्वंद्विता छिड़ जाती। आर्थिक लोभ-लाभ अभाव-ग्रस्त देश में अकादमिक नीति-नैतिकता को भी परिचालित करते हैं, यह कटु तथा अप्रिय सत्य हमें स्वीकार ही करना पड़ेगा।

मि० मेहरोत्रा का पूरा नाम था केवलकृष्ण मेहरोत्रा। अपने निकटवर्ती मित्रों में वे एक घरेलू नाम से भी पुकारे जाते थे—केली के। मेहरोत्रा साहब का क़द लंबा न था, पर दुबले-पतले होने के कारण वे कुछ लंबे होने का आभास

देते थे, अंग्रेजी कपड़े उनपर सहज सजते थे—देसी पोशाक में कभी उन्हें देखने की याद नहीं—बदन से नाज़ुक थे, बोलते थे धीमी आवाज़ से और सँभल-सँभलकर। अपने विद्यार्थी जीवन में होस्टल के ड्रामों में वे स्त्रियों का पार्ट करते थे। उच्च श्रेणी में एम० ए० करने के बाद आक्सफ़र्ड में दो वर्ष रहकर उन्होंने बी० लिट० की उपाधि प्राप्त की थी, वहीं एक अंग्रेज़ लड़की से शादी कर ली थी, और लौटने पर उनकी नियुक्ति अंग्रेज़ी विभाग में लेक्चरर के रूप में हो गई थी। झा साहब के First favourite (सर्वप्रिय छात्र) थे, अच्छा और मेहनत से पढ़ाने की उनकी प्रसिद्धि थी, इलाहाबाद युनिवर्सिटी मैगज़ीन का संपादन भी करते थे।

घर के संपन्न थे। हेस्टिंग्स रोड पर उन्होंने एक बड़ा-सा बँगला खरीद लिया था जिसमें वे रहते थे। पत्नी उनकी विलायती, शासक वर्ग की होकर भी सरल, विनम्र और सुघर थीं, उनके तीन सुंदर बेटियाँ थीं, पर भगवान किसी के चारों कोने नहीं भरता। मेहरोत्रा साहब का स्वास्थ्य उन्हें दग़ा दे गया। उनके एक पाँव में दर्द शुरू हुआ, फिर उसपर लक़वे का आक्रमण हुआ और धीरे-धीरे वह बेकार हो गया। पर अपने मर्ज़ के साथ जो मर्दानावार और बहादुराना लड़ाई उन्होंने लड़ी उसने साबित कर दिया कि यह नज़ाकत का पुतला किस ठोस और मज़बूत धातु का बना था। जब किसी तरह की दवा-दरमत से फ़ायदा न हुआ तो उन्होंने साहस के साथ अपने रोग को स्वीकार कर लिया। जब तक छड़ी के सहारे चल सके बराबर चलते रहे, बाद को उन्होंने ह्वील-चेयर की शरण ली, एक नौकर की मदद से ह्वील-चेयर को सीढ़ियों पर भी चढ़ाते, बाद में तो उनका नौकर उनको गोद में उठाकर ह्वील-चेयर पर बिठा देता, पर वे बराबर युनिवर्सिटी आते रहे, बराबर क्लास लेते रहे, मौक़े-मौक़े पर पार्टियों, ऐट-होम, उत्सवों, शादियों में भी शरीक़ होते। अंत में तो उनकी आवाज़ भी जाती रही, पर वे माइक के सहारे व्याख्यान देते रहे, लेक्चरर से रीडर और विभागाध्यक्ष हो, सेवा की पूरी अवधि तक काम करके रिटायर हुए। ग़ज़ब की जिजीविषा रही होगी उनमें जो उन्हें कर्तव्य-पालन तक सीमित न रख अक्सर सामाजिक और मनोरंजक अवसरों पर भी उपस्थित रहने को प्रेरित करती रही। ऐसा कष्ट जो समस्त सक्रिय जीवन को समाप्त कर दें—किसी समय वे टेनिस के अच्छे खिलाड़ी थे—और प्रतिपल, प्रतिपग

दूसरों पर निर्भर रहने को विवश करे, किसी को भी सदा के लिए चिंतित, उदास, चिड़चिड़ा बना सकता था। मगर, शाबाश मेहरोत्रा साहब को। उन्होंने किसी भी क्षण माथे पर शिकन न आने दी। इसके विपरीत अपनी सारी तकलीफ़, सारी असुविधाओं के बीच उन्होंने अपने चेहरे पर एक विनोद-भरी मुसकान क़ायम रखी। दाँतों से होठों को दबा कर बहुत-से लोग अपने दर्द को सह लेते हैं, अपनी मुसीबतों को झेल जाते हैं—और उनमें कहीं मैं अपना नाम भी लिखाना चाहूँगा—पर जो हँसते हुए अपने दुर्भाग्य का स्वागत करते हैं वे बिरले होते हैं। मेहरोत्रा साहब ऐसों में ही थे। अब तो वे स्वर्गवासी हो चुके हैं, पर उनकी मुसकान को, जिससे उनके जीवन-काल में भी मुझे बड़ी स्पर्धा थी, मेरी स्मृति ने बड़े आदर से सँजो रखा है।

मि० भवानी शंकर की याद आते ही उनका लंबा क़द, लमछर चेहरा, लंबी-पतली नाक, भरे-भरे होठ, बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा माथा आँखों के सामने आ जाता है। उनको किसी भी मापदंड से सुंदर ही कहा जा सकता था—कपड़ों में हमेशा टिप-टाप, शेरवानी के साथ चूड़ीदार पाजामा और अंग्रेज़ी सूट दोनों उनपर फबते थे—आभिजात्यों के खेल गाल्फ़ खेलने के शौक़ीन थे। उनमें एक और चीज़ थी—यौनाकर्षण, जिसे अंग्रेज़ी में 'सेक्स-अपील' कहते हैं, और उसके प्रति वे स्वयं सचेत थे। यौन-मनोविज्ञान के थोड़े-बहुत अध्ययन से मैंने जाना है कि सेक्स-अपील रखनेवाला आदमी बुद्धि से कुशाग्र, व्यवहार में शालीन, वृत्ति से बहिर्मुखी, सुरुचि-संपन्न, उदार और तबियतदार होता है—भवानी शंकर में ये सारे गुण थे। वे दक्ष अध्यापक थे—कविवर नरेन्द्र शर्मा उनके विद्यार्थी रह चुके थे, बाद को उनके निकटस्थ मित्र; आधुनिक अंग्रेज़ी कवियों पर उन्होंने एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी थी। युनिवर्सिटी आफ़िसर्स ट्रेनिंग कोर में भी वे मेरे वरिष्ठ सहयोगी थे—वे कैप्टेन थे, मैं लेफ़्टिनेंट था। उन्हें कैम्प में देखने से ऐसा लगता था, जैसे सारी ज़िंदगी उन्होंने फ़ौज में ही बिताई हो—शिष्टता की सीमा में पीते भी थे। दूसरी तरफ़ हिंदी कविता से उन्हें बड़ा प्रेम था, जिसे नरेन्द्र के संपर्क ने और बढ़ाया था और जिससे वे मेरी ओर भी अधिक आकृष्ट हुए थे। पंत जी उनके मित्रों में थे, झा साहब के वे कृपा-पात्र थे, फ़्राइडे क्लब के सदस्य। क्लब में, ऐसा सुना था, वे मास्टर आफ़ सेरीमनीज़ थे, जो संभवतः वहाँ के सेक्रेटरी का पद

था। बहुत-सी कड़ियाँ थीं, जिन्होंने उनको-मुझको निकटता से जोड़ दिया था।

आदमी वे हिम्मतवर थे, जो करते थे खुले-खज़ाना, विवाहित थे, एक बेटा था, पर उनकी एक प्रेयसी भी थी, जिसको वे साथ ही रखते थे, साथ उसके सब जगह आते-जाते थे, विवाहिता को भी साथ लिये। उनका एक खतरनाक मकूला था—नारी उसकी है जो उसे आर्कषित कर सके। और इसके अपवाद में उन्होंने अपने एक परम आत्मीय मित्र की पत्नी को भी न रखा। मित्र की पत्नी भवानी शंकर की ओर इतनी आर्कषित हुई कि उनके घर ही जा बैठी, और बाद को उन्होंने उसे पत्नी रूप में स्वीकार किया, विर्धिवत् विवाह किया था या नहीं, यह मैं नहीं जानता, पर उससे कोई संतान हुई थी, ऐसा सुना था। वाह्यारोपित नैतिकता के विश्वविद्यालयी वातावरण में अपने खुले व्यवहार को खपता न देखकर उन्होंने युनिवर्सिटी से इस्तीफ़ा दे दिया, फ़ौजी शिक्षा शाखा में नौकरी कर ली जहाँ कुछ ही वर्षों में वे सर्वोच्च पद पर पहुँच गए, 1952 में भीषण रूप से बीमार पड़े, इलाज के लिए बंबई भेजे गए, जहाँ, नरेन्द्र ने मुझे वताया, जो उनकी अंतिम घड़ियों में उनके साथ थे, उन्होंने निर्भय, निराकुल मृत्यु का आलिंगन किया। भवानी शंकर सौन्दर्य-प्रेमी, साहित्यानुरागी, अनुशासन-वद्ध सैनिक और व्यवहार-शिष्ट नागरिक के अद्‌भुत संमिश्रण थे। उनसे ईर्ष्या की जा सकती थी, उनसे दुश्मनी नहीं रखी जा सकती थी—

> 'वो सूरतें, इलाही, किस देस बसतियाँ हैं,
> अब जिनको देखने को आँखें तरसतियाँ हैं।'

मि० रवीन्द्रनाथ देव—विभागाध्यक्ष प्रो० एस०सी० देव के छोटे भाई—और मि० प्रकाशचंद्र गुप्त से भी मेरी निकटता थी—गुप्त जी से कुछ फ़ासला रखते हुए। दोनों मेरे बी० ए० के सहपाठी थे—एम० ए० (प्रीवियस) के भी। देव ने अंग्रेज़ी साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला में विशेष रुचि ली थी। गहरे रंगों की लयात्मक वर्तुल शैली उनकी अपनी ईजाद थी, जिसमें उन्होंने कई भव्य मौलिक चित्र वनाए थे। चित्रकला के विषय में मैं अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कह सकता, पर मेरी ऐसी धारणा है कि यह पिकासो की कोण-प्रक्षेपी घनाकृति शैली की भारतीय प्रतिक्रिया थी। भारतीय जीवन अब भी लयबद्ध

है, कालांतर में उसे लय बदलनी पड़ सकती है, पर तोड़ देने से उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा, कारण यह है कि भारतीय चिंतन में लय का उतना ही अर्थ नहीं है जितना 'रिद्म' से पश्चिम ने समझा है। यदि समय से देव के चित्रों की प्रदर्शनी प्रसिद्ध नगरों में आयोजित की जा सकती तो उन्हें अच्छी ख्याति मिलनी थी। मुझे खेद है कि भारतीय चित्रकला की दुनिया में उनको कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया। दुर्भाग्य यह है कि हमारा सारा दृष्टिकोण, हमारी सारी आलोचना, चाहे वह चित्रकला की हो, चाहे साहित्य की—भारतीय संगीत इस विषय में अधिक सौभाग्यशाली रहा है—पराङ्मुखी है, पश्चिमानुयायी है, हीन भावना-कुंठित है। स्वस्थ जहाँ यह है कि विदेशी को भी हम देशी दृष्टिकोण से देखें, वहाँ हम देशी को विदेशी नज़रिये से देख रहे हैं। मानसिक स्वाधीनता राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक स्पृहणीय तो है ही, उसके लिए अधिक बड़ी क्रांति, अधिक बड़े संघर्ष की भी ज़रूरत है। देव को भी अपनी कला की साधना में अपने को और अधिक तपाना था। उन्होंने मेरी कृति 'बंगाल का काल' के प्रथम संस्करण के लिए आवरण चित्र बनाया था। मेरी कुछ और कविताओं पर भी उन्होंने चित्र बनाए थे, विशेष स्मृति है मुझे 'एकांत संगीत' के 'अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !' पर बने चित्र की।

मि० प्रकाशचन्द्र गुप्त इलाहाबाद युनिवर्सिटी में आने के पूर्व कई वर्षों तक सेन्ट जोन्स कालेज, आगरा में अंग्रेज़ी के लेक्चरर रह चुके थे। वहीं उन्होंने मौलिक अंग्रेज़ी और हिंदी-लेखन आरंभ कर दिया था। अंग्रेज़ी समालोचनात्मक निबंधों की उनकी एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। बाद को विशेष ध्यान उन्होंने हिंदी समालोचना की ओर दिया। रेखा-चित्र लिखने में भी उनकी रुचि थी—हिंदी को कुछ अच्छे शब्द-चित्रात्मक लघु निबंध उन्होंने दिए हैं। समालोचना में उनकी प्रणाली मार्क्सवादी थी जिसमें सामाजिक यथार्थ पर अधिक बल दिया जाता था। शुरू में उनका दृष्टिकोण कुछ उदार था, पर आगे चलकर वे प्रगतिवादी विचारधारा और साम्यवादी सिद्धांत में सर्वांग रँग गए—लाल रंग में। उनसे अधिक निकटता के लिए उसी रंग में रँग जाना शायद ज़रूरी था—मेरे लिए जीवन का सहज-स्वाभाविक रंग ही पर्याप्त था जिसमें लाल रंग भी अनुपाततः सम्मिलित था ही, और इससे वे अपरिचित नहीं थे।

लगभग २५ वर्ष इलाहाबाद युनिवर्सिटी से संबद्ध रह वे विभागाध्यक्ष पद से रिटायर हुए। अब उनका देहावसान हो चुका है। यह भी एक विचित्र संयोग है कि मृत्युपूर्व उनका अंतिम लेख मुझ पर था जो उन्होंने मेरे 'लोटस पुरस्कार' पाने के अवसर पर लिखा था और जिसमें उन्होंने मेरी कविता में निहित प्रगतिशील तत्वों की ओर संकेत किया था।

मि० हरिश्चंद्र और मि० सूरज प्रसाद खत्री उम्र में मुझसे छोटे थे, पर मेरी पढ़ाई में सात वर्ष का व्यवधान पड़ने से उन्होंने मुझसे पहले एम० ए० किया था और पहले से युनिवर्सिटी में काम करते थे। हरिश्चंद्र जी का एकेडेमिक रेकार्ड बहुत अच्छा था, आई० सी० एस० में आने के ध्येय से वे इंग्लैंड गए थे, पर उसमें सफल न हो, वापस आ लाचार अंग्रेज़ी विभाग में लेक्चरर हो गए थे। फिर भी सरकारी अफ़सरी का जो स्वप्न—बड़े अधिकार और भारी वेतन का—उन्होंने अपने यौवन में देखा था उसको वे युनिवर्सिटी की कुर्सी पर भी सेते रहे। आजादी मिलने के बाद किसी प्रकार वे केन्द्रीय सेवा में पहुँच गए और यथावसर अपनी राह बनाते युनियन पब्लिक सर्विस कमीशन में डिप्टी या ज्वाइंट सेक्रेटरी हो गए, अब तो शायद रिटायर हो चुके हों।

मि० खत्री के, मेरा ऐसा अनुमान है, कुछ आर्थिक दायित्व ऐसे थे जिन्हें युनिवर्सिटी के वेतन के बल पर न उठाया जा सकता था। कुछ अधिक कमाने की दृष्टि से उन्होंने यू०ओ० टी० सी० ज्वाइन कर लिया था, पर पहले कैम्प के बाद ही उनको लगा कि परेडों की रगड़ंत उनसे न झिलेगी—मैं पूरे पाँच वर्ष कैसे झेल गया। उन्होंने कुछ लिखकर पैसा कमाने की योजना बनाई—हिंदी में अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास लिखा--अंग्रेज़ी में प्राप्य इतिहासों के आधार पर, जो छपा भी, समालोचना की एक बड़ी पुस्तक उनकी निकली, एक और शायद हास्य पर। बहुत कुछ उनका लिखा अप्रकाशित भी रहा। यह लेखन उनके लिए बहुत श्रमसाध्य था, और इसने उनका स्वास्थ्य चौपट कर दिया, और अंत में उनकी असमय मृत्यु का कारण भी बना। खत्री कानपुर के थे, ठिगने शरीर के, खुले स्वभाव के, पर घोर परिश्रमी, किसी प्रकार के मनोविनोद (Recreation) में भाग लेते मैंने उन्हें नहीं देखा था। मेरे मधुकाव्य के बड़े प्रेमी थे और मुझे 'बच्चन' के बजाय Bacchus (बेकस) कहा करते थे जो युनानी दंत कथा के अनुसार मदिरा का देवता है।

अपने ऐसे सहयोगियों के साथ काम करते जिनमें मेरे गुरु थे, गुरुवत् थे, मुझसे बड़े थे, मेरे समवयस्क थे और मुझसे छोटे थे—छह लेक्चरर मेरे बाद नियुक्त हुए—मैंने अपने जीवन के ग्यारह साल बिताए—आज़ादी के दिन से लगभग समविभाजित, पर आज़ादी के पहले और आज़ादी के बाद के अंग्रेज़ी विभाग में क्या अंतर आना था? यह अंग्रेज़ी विभाग से अधिक जिस तरह की आज़ादी हमें मिली थी उस पर टिप्पणी है। ख़ैर। जो अंतर आया था वह सिर्फ़ इतना कि संविधान के अनुसार हिंदी राष्ट्र-भाषा घोषित होने से 'फ़िराक़' साहब का हिंदी-विरोध कुछ अधिक उग्र हो गया था और अंग्रेज़ी कपड़े के साथ लोग थोड़ी-सी स्वतंत्रता लेने लगे थे, यानी, कोट टाई के बजाय अब वे बुश-शर्ट में भी युनिवर्सिटी चले आते।

युनिवर्सिटी का साल जुलाई के मध्य से शुरू होता—नये सत्र का आरंभ, जो इलाहाबाद के सामान्यतया असक्रिय, सुस्त, अर्द्ध-सुप्त जीवन में एक हलचल बनकर आता, जैसे किसी तंद्रिल-पंकिल तालाब में चारों ओर से ताज़े बरसाती पानी की तेज़ धाराएँ आकर गिरने लगी हों—नये चेहरे, नई आवाज़ें, नये अंदाज़, नई अदाएँ, नई पोशाकें, नई फ़ज़ाएँ, युनिवर्सिटी के अहाते में, छात्रावासों में, सड़कों पर, लानों में, दूकानों पर, मकानों में, होटलों में, रेस्टराओं में—यानी कहाँ नहीं। इस हलचल का आभास यों तो किसी न किसी रूप में सारे शहर में होता—किसी नवागंतुक को किसी परिचित रिश्तेदार से मिलना है, कोई शहर देखने निकला है, किसी को घर की तलाश है—एकाध कमरा ही मिल जाए—किसी को और कोई काम है, पर इसका मुख्य क्षेत्र होता कटरा—नगर की उप-बस्ती जहाँ युनिवर्सिटी स्थित है, और उसका भी विशेष केन्द्र युनिवर्सिटी का कैम्पस, जो गर्मी के लंबे महीनों में मधु-सूखे छत्ते के समान पड़ा रहता, पर अब मौसम की नम हवा के साथ उसकी ओर मधु-माखियों के झुंड के झुंड टूटे पड़ते। युनिवर्सिटी के काउंटर पर क्या रेलमपेल होती।—युनिवर्सिटी में फ़ीस जमा करने के लिए पाकिट में पैसे ही नहीं चाहिए, बाज़ुओं में ताक़त भी चाहिए—पसीना से पसीना एक होता।

वाइस चांसलर, रजिस्ट्रार के घर-दफ़्तर प्राय: घेराव की स्थिति में होते—लोग बिना किसी पूर्व सूचना के, बिना पहले से समय माँगे, बिना सोचे कि उनका काम किसी अन्य स्तर से भी हो सकता है, उच्चतम अधिकारियों की

ड्योढ़ी पर आ जमते। विभागाध्यक्षों, छात्रावासों के वार्डनों, सुपरिन्टेन्डेन्टों के यहाँ भी मिलनेवालों की लाइनें लगी रहतीं—किसी को जगह नहीं मिली, किसी को मन की जगह नहीं मिली, किसी को इतनी जगहें मिल गई हैं कि चुनाव करना मुश्किल है, किसी को वांछित विषय नहीं मिला, कोई खुद आया है, कोई किसी के साथ आया है, कोई किसी की सिफ़ारिश लाया है, किसी का काम बन रहा है, किसी का बिगड़ रहा है, किसी को सिर्फ़ टाला जा रहा है,—बहुत-सी समस्याएँ समय से स्वयं हल हो जाती हैं—इंसान क्यों सिर खपाए।

शुरू के दस-पन्द्रह दिन रजिस्ट्रार के दफ़्तर, अधिकारियों और प्रबंधकों के लिए सिरदर्द होते, लेक्चरर लोग मौज करते—आते, कामन रूम में कुछ देर बैठते, गप-शप करते, चले जाते—गप-शप में—कोई शिमले गया था, कोई मसूरी, किसी ने नैनीताल में गर्मी बिताई, किसी ने रानीखेत में, बहुत-से कहीं जाना अफ़ोर्ड नहीं कर सके—पहाड़ जानेवालों के चेहरों पर उच्चस्थ की की आभा, मैदान में पड़े रहनेवालों के चेहरों पर निम्नस्थ की छाया—राम की माया, कहीं धूप, कहीं छाया। मैंने तीन हज़ार कापियाँ जाँची, आपने चार हज़ार, आपने इतनी हज़ार! आपने कितनी हज़ार—बड़ा वोरियत का धंधा है—(धनदा तो है।) अब जाके आराम, और उत्तर-कापियों में 'हाउलरों' यानी परीक्षार्थियों की भोंडी ग़लतियों की रस-बयानी। कुछ लोग सूची बनाकर लाते। लेक्चरर का काम है लेक्चर देना, वह तो तब शुरू हो जब एडमिशन का काम समाप्त हो जाए, अलग-अलग सेक्शन बन जाएँ, दर्जों के बैठने के लिए कमरे तै कर दिए जाएँ, टाइम-टेबिल तैयार हो जाए। और इन सब कामों में डेढ़-दो हफ़्ते लग जाते।

युनिवर्सिटी में क्लास चलते, छात्रावासों में रैंगिंग होती—नयों से पुरानों की पहचान या छेड़-छाड़—पुरमज़ाक़ से अशोभन, अभद्र और कभी-कभी क्रूर और अश्लील तक—कामन रूम तक रिपोर्टें पहुँचतीं। होस्टल की परिषदों और युनियन के चुनाव होते, बड़ी पोस्टर और इश्तहारबाज़ी होती, नारेबाज़ी, ढोल-ढप्पा, और जब तक युनिवर्सिटी कैम्पस में सब कुछ सामान्य और व्यवस्थित होता दशहरे की छुट्टियाँ पहुँच जातीं। पहला टर्म समाप्त हो जाता। विद्यार्थी अपने-अपने घरों को चले जाते। युनिवर्सिटी कैम्पस शांत और सूना हो जाता,

केवल युनिवर्सिटी की टावर-घड़ी पन्द्रह-पन्द्रह मिनट पर क्रमशः चार, आठ, बारह, सोलह घंटे बजाकर जितने बजे हों, उतने घंटे बजाती—टिन-टुन-डिंग-डांग···टऽन, टऽन, टऽन···

दूसरा टर्म अक्तूबर से दिसंबर तक चलता—लेक्चर क्लास और सेमिनार टाइम-टेबिल के अनुसार लिए जाते, फिर भी दूसरा टर्म मुख्यतया उत्सवों का टर्म होता। इसी टर्म में युनिवर्सिटी का कान्वोकेशन होता; पुराने छात्र अपनी-अपनी डिग्रियाँ लेने आते। कान्वोकेशन के ख़ास दिन युनिवर्सिटी कैम्पस में बड़ी चहल-पहल होती, काले-काले गाउन पहने स्नातक इधर-उधर घूमते-फिरते, उनपर उनकी विभिन्न डिग्रियों के द्योतक विभिन्न रंगों के हुड यानी परतलें, सिर पर चौखुंटी काली टोपियाँ; शहर के सारे फ़ोटोग्राफ़रों के बूथ सेनेटहाल के चारों तरफ़ लगते, तरह-तरह के पोज़-ग्रुप में स्नातक फ़ोटो खिंचाते। कान्वोकेशन से अधिक उबाऊ शायद ही कोई दूसरा उत्सव होता हो—एक रटा-रटाया फ़ारमूला बोलकर विभागाध्यक्ष स्नातकों को प्रस्तुत करते, एक रटा-रटाया फ़ारमूला बोलकर वाइस चांसलर स्नातकों को डिग्री देते, कुछ रस आता तो तब जब कोई विशिष्ट व्यक्ति कान्वोकेशन ऐड्रेस देने को बुलाया जाता। होस्टलों में वार्षिकोत्सव होते—ऐनुअल डिनर, डिनर-भाषण, कवि-सम्मेलन, मुशायरे, दिसंबर में युनिवर्सिटी के वार्षिक खेलकूद होते—स्पोर्ट्स—और फिर युनिवर्सिटी बड़े दिन की छुट्टियों के लिए बंद हो जाती। युनिवर्सिटी कैम्पस फिर शांत और सूना हो जाता, वहाँ सुनाई देती सिर्फ़ टावर घड़ी की आवाज़, पन्द्रह, पन्द्रहे मिनट पर--टिन-टुन-डिंग-डांग···।

तीसरा टर्म जनवरी से मार्च तक चलता—अध्ययन और अध्यापन दोनों का रुख परीक्षोपयोगिता की ओर झुक जाता—विद्यार्थियों की अन-अकादमिक हलचलें कम या प्रायः समाप्त हो जातीं, छात्रावासों के कमरों में अधिक रात तक रोशनियाँ दिखाई देतीं। अप्रैल का पूरा महीना परीक्षाओं में गुज़रता—विद्यार्थियों के लिए बहुत परिश्रम का, अध्यापकों के लिए बहुत बोरियत का—इनविजिलेशन से लेकर ढेर की ढेर कापियाँ जाँचने तक। गर्मी का प्रकोप इलाहाबाद में दिन-दिन बढ़ने लगता और हम युनिवर्सिटी बंद होने के लिए दिन गिनने लगते। मई के प्रथम सप्ताह में युनिवर्सिटी बंद हो जाती, सिर्फ़ रजिस्ट्रार का दफ़्तर सुबह खुलता; सारे लंबे-लंबे दिन-रात कैंपस शांत-सूना

रहता। युनिवर्सिटी की टावर-घड़ी की आवाज़ें—टिन-टुन-डिंग-डांग···दिन में चिलचिलाती धूप और झुलसाती लू सुनती, रातों में गर्दीले आसमान से झाँकते सितारे। और घड़ी की छोटी-बड़ी सुइयाँ प्रतीक्षा और विश्वास भरी चली जातीं कि फिर जुलाई आएगी और वही सब होगा जो पिछले साल हुआ था··· और सारे सत्र का पिछला टाइम-टेबिल थोड़े-बहुत सतही परिवर्तनों के साथ फिर दुहराया जायगा।

'दिवस'—दिवस नहीं—बरस 'जात नहिं लागहिं बारा।'

१९४१ पर १९५१ आ धमका।

और १९५१-५२ का युनिवर्सिटी सत्र समाप्त हो, इसके पूर्व, ठीक तारीख ही क्यों न बता दूं, १२ अप्रैल १९५२ को मैं बंबई के सांताक्रुज़ हवाई अड्डे से इंडिया इंटरनेशनल के जहाज़ में सवार होकर लंदन के लिए रवाना हो गया।

अपनी आकांक्षाओं, क्षमताओं और सीमाओं की यथासंभव जाँच-पड़ताल करके अपने विकास अथवा जीवन-क्रम का जो नक्शा मैंने बनाया था उसमें विदेश-यात्रा या विदेश में अध्ययन का कोई स्थान न था। यह ठीक है कि लड़कपन में मैंने स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'अमरीका-भ्रमण' और 'अमरीका-दिग्दर्शन' आदि पुस्तकें पढ़कर अमरीका पहुँचने के ख़याली ख्वाब बहुत बार देखे थे, पर यह मैं बहुत पहले जान चुका था कि उनमें मेरी अपनी उद्भावना कम और लेखक की सफलता अधिक थी। और अब तो मेरे जीवन की गाड़ी एक ऐसी सुखद और सुविधा-जनक लीक में पड़ गई थी कि उसे छोड़कर चलने की बात भी सहसा नहीं सोची जा सकती थी—उस बहुत-चली लीक से यदा-कदा असंतोष और ऊब का अनुभव करते हुए भी।

१९५२ में मैं अपनी आयु के ४५वें वर्ष में था। तेजी के साथ मेरे विवाह के लगभग दस वर्ष पूरे हो चुके थे। मेरे दोनों लड़के स्वस्थ, सुंदर, होनहार थे,—बिरवों के चीकने पात, मेरे परखे-जाने—अब तो कह सकता हूँ कि मेरी परख ग़लत नहीं थी—बड़े, अमित, ने अपनी नवीं वर्ष-गाँठ मना ली थी, और छोटा अजित, अगले महीने; यानी १८ मई को, अपनी आयु के पाँच वर्ष पूरे करने को था। दोनों ब्वायज़ हाई स्कूल में पढ़ते थे और उनकी प्रगति पर हमें

संतोष और हर्ष था। रहने को, गो किराए का, हमारे पास, हमारी आवश्यकताओं, सुविधाओं के लिए पर्याप्त, एक सुदर, खुला, बड़ा मकान था। घर को सुचारु रूप से चलाने के लिए मैं अच्छे पैसे कमा रहा था। मेरे दाहिने हाथ में भाग्यरेखा के सिरे पर एक त्रिशूल है। किसी हस्तरेखाविद् ने उसे देखकर मुझे बताया था कि धन मेरे पास तीन स्रोतों से आया करेगा। कम से कम इस समय तो आ ही रहा था—युनिवर्सिटी के वेतन से, पुस्तकों की रायल्टी से, और जब-तब पत्र-पत्रिकाओं, कवि-सम्मेलनों अथवा रेडियो से मिले पारिश्रमिक से। हम आराम से रह रहे थे, पर ऐश में नहीं, गो हमारा जीवन-स्तर ऐसा आभास कुछ लोगों को दे सकता था। विवाह के बाद हम पति-पत्नी में से किसी को कोई लंबी या बड़ी बीमारी नहीं हुई थी, और हम दोनों ने ही कोई ऐसा भावात्मक विपर्यय भी न जाना था जो हम दोनों के बीच किसी प्रकार के भ्रम, संशय या संदेह को जन्म दे—छोटी-मोटी ग़लतफ़हमियों की बात मैं नहीं करता—और पारस्परिक कलह का कारण बने।

हमारा सामाजिक परिवेश। जाति-गत नाते-रिश्तेदारों से हम कटे थे, कहना चाहिए हमारा पिंड छूट चुका था, जिसे अंग्रेज़ी में कहेंगे 'गुड रिडेन्स'। निकट के संबंधियों में केवल इने-गिने दो थे—मेरे मामा जी और मेरे भांजे। ऐसी घनिष्टता जो आड़े समय हमारे काम आ सके या जिस पर हम निर्भर हो सकें, हमारी किसी से न थी। मित्रता, अधिकतर औपचारिक, हमारी कइयों से थी, शत्रु हमारा कोई न था, कम से कम किसी को शत्रु बनाने का कोई कारण हमारी तरफ़ से उपस्थित न किया गया था। अपने रहन-सहन-जीवन के ईर्ष्यालु आलोचकों और स्वभावविवश निंदकों से हम अपरिचित न थे, जिन्हें हमने केवल उपेक्षा का पात्र समझ रखा था। पर हमारा माँ-बाप-बेटों का छोटा-सा परिवार एक ऐसा सुगठित नीड़ था, जिसे न किसी की अपेक्षा थी, न किसी से भय। युनिवर्सिटी के काम से बचे समय में अपने बच्चों को पढ़ाता हूँ या उनके साथ खेलता हूँ, राजन् को पढ़ाने से छुट्टी मिल गई है, उन्होंने बी०ए० कर लिया है और अब क़ानून पढ़ रहे हैं, स्वांतः सुखाय स्वाध्याय करता हूँ, यथाप्रेरणा कविताएँ लिखता हूँ, काव्य-आंदोलनों में रुचि नहीं रखता, उनमें

भाग नहीं लेता। ऐसे नियमित और व्यवस्थित जीवन में क्या बुरा है कि मैं उसमें किसी प्रकार का व्यवधान चाहूँ ?

पर व्यवधान तो मेरे जीवन में आके रहा और इतना बड़ा कि उसने एक लम्बी अवधि के लिए मुझे अपने घर-परिवार, परिवेश, देश से हज़ारों मील दूर ले जाकर बिठा दिया। और इसकी शुरुआत एक बहुत छोटी-सी बात से हुई।

१९५१ के अंत में ब्रिटिश कौंसिल की ओर से एक सूचना आई जो अंग्रेज़ी विभाग के सब अध्यापकों तक पहुँचाई गई। ब्रिटिश कौंसिल का नाम उन दिनों नया-नया सुनने में आया था। ब्रिटेन ने भारत में ब्रिटिश कौंसिल की स्थापना भारत के स्वतंत्र होने के बाद की थी। ध्येय, स्पष्ट है, इस संस्था का यह था कि अंग्रेज़ी के माध्यम से ब्रिटेन का जो सांस्कृतिक संबंध भारत के एक विशेष वर्ग के बुद्धि-जीवियों से बना है वह भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् टूटने या क्षीण होने न पाए, बल्कि पूर्व राजनैतिक संबंध के टूट जाने पर तो उस सांस्कृतिक संबंध को और सुदृढ़ किया जाए। इसके दूरगामी राजनैतिक परिणाम भी हो सकते थे, इसे निश्चय ही अंग्रेज नीति-विचक्षणों ने देख लिया होगा। इसके अंतर्गत प्रति वर्ष बहुत से अंग्रेज़ विद्वान भारत आते हैं और यहाँ के प्रख्यात विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देते हैं, इसकी ओर से सभी बड़े-बड़े नगरों में अंग्रेज़ी के पुस्तकालय और वाचनालय चलाए जाते हैं जहाँ नया से नया अंग्रेज़ी साहित्य और नई से नई पत्रिकाएँ पढ़ने को उपलब्ध रहती हैं।

सूचना यह थी कि ब्रिटिश कौंसिल कुछ अंग्रेज़ी के अध्यापकों को इंग्लैंड आने-जाने का खर्च देगी बशर्ते कि वे कम-से-कम दो टर्म यानी छह महीने के लिए किसी ब्रिटिश युनिवर्सिटी में अपने दाखले का प्रबंध कर लें। वहाँ रहकर उन्हें युनिवर्सिटी के दर्जे पर अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने की विधि का अवलोकन करना होगा। रहना उन्हें अपने खर्च पर होगा जो छह महीने के लिए अनुमानतः क़रीब ३०००/- रुपये के आएगा, ५००/- रुपये प्रतिमास के हिसाब से इंग्लैंड की सैर करने, उसके अन्य सांस्कृतिक पहलुओं से परिचित होने अथवा थोड़ा-बहुत योरोप-भ्रमण के लिए २०००/- रुपये का अतिरिक्त प्रबंध रखना चाहिए, यानी कुल जमा ५०००/- रुपये का इंतज़ाम हो सके तो इस अभियान पर जाने की बात सोची जा सकती है।

विभाग के अध्यापकों ने यह सूचना एक कान से सुनी और दूसरे से निकाल दी, पर मेरे मन में इसपर एक तरह की खिचड़ी पकनी शुरू हो गई। कोशिश करूँ तो क्या यह संभव नहीं है कि मुझे छह महीने के लिए किसी ब्रिटिश युनिवर्सिटी में दाखला मिल जाय? दाखला मिलने पर प्रार्थना पत्र भेजूं तो क्या यह संभव नहीं है कि ब्रिटिश कौंसिल मुझे इंग्लैंड आने-जाने का खर्च दे दे, विभाग से तो और कोई जाने का इच्छुक नहीं, और युनिवर्सिटियों से चुनाव करने में इलाहाबाद युनिवर्सिटी की उपेक्षा शायद ही की जा सके। खर्च? आर्थिक स्थिति ऐसी तो नहीं है कि ५०००/- रुपये बैंक से निकालकर चल दूं, कुछ जमा है तो बड़े होने पर भतीजे और बेटों की शिक्षा पर व्यय करने के लिए—उसे नहीं छूना। पर कोशिश करने पर क्या यह संभव नहीं है कि कहीं से इतनी राशि मिल जाय, प्रकाशक ही अग्रिम रायल्टी दे सकता है। युनिवर्सिटी से छुट्टी मिल ही जायगी, नियमानुसार दस वर्ष की सेवा के वाद दस महीने की स्टडी-लीव सवेतन मिल सकती है। मुझे तो छह मास की ही चाहिए। वेतन से मेरी अनुपस्थिति में घर का खर्च चल जाएगा। घर की देख-सँभाल? उसके लिए मैं क्या करता हूँ? एक तिनका तो मैं खिसकाता नहीं। जो कुछ करने को है वह तेजी ही करती हैं। फिर राजन तो अभी यहाँ हैं ही, क़ानून की परीक्षा पास कर लेने पर भी वे ट्रेनिंग के लिए यहाँ कुछ दिन और रहेंगे। अगर मैं इंग्लैंड जा सका तो मैं अंग्रेज़ी साहित्य को पढ़ाने की विधि का अध्ययन तो करूँगा ही, एक काम और कर सकता हूँ। ईट्स पर शोध का जो काम मैंने दस वर्ष पहले शुरू किया था वह अधूरा पड़ा है। वहाँ प्राप्य सामग्री के आधार पर विस्तृत नोट्स ले सकता हूँ और भारत लौटकर पी-एच० डी० के लिए, अगर काम ज़्यादा अच्छा कर सका तो डी० लिट० के लिए, थीसिस प्रस्तुत कर सकता हूँ। डा० दस्तूर ने ऐसे ही डाक्टरेट ली थी—महाजनो येन गतः स पंथः।

दस-बारह बरस पहले शोध का जो काम मैंने आरंभ किया था वह केवल इसलिए नहीं कि उस समय और कुछ करने को नहीं था। जब से मैं ईट्स की कविता से परिचित हुआ था तभी से मैं उनके प्रति आकर्षित था। उनका या उनपर जो भी साहित्य मुझे मिलता था, मैं रुचि-पूर्वक पढ़ता था, उसपर विचार करता था। उनके विषय में जिस पहली बात का आभास मुझे हुआ

था, वह यह थी कि वे अपने समकालीन अन्य अंग्रेज़ कवियों से बहुत भिन्न थे और इस भिन्नता को लाने में किसी दर्जे पर भारतीय संस्कृति और साहित्य के संपर्क ने कोई भूमिका अवश्य अदा की होगी। कुछ अन्य असाधारण संपर्कों के संकेत भी मुझे मिलते थे, पर मैं उनपर उँगली रख सकने में असमर्थ था। इनको प्रामाणिक रूप से जानना और ईट्स के मस्तिष्क और कला पर इनके प्रभाव को आँकना मेरे शोध का विषय हो सकता था। लेकिन समुचित स्वाध्याय-सामग्री और आधिकारिक निर्देशन के अभाव में मैंने ठीक दिशा में क़दम न उठाए थे। उन दिनों शेक्सपियर के आलोचना-साहित्य में एक पुस्तक को बहुत महत्त्व दिया जाता था—Dowden (डाउडेन) की Shakespeare : His Mind and Art (शेक्सपियर : उनका मनस् और उनकी कला) को। वह पुस्तक मैंने पढ़ी भी थी, और संभवत: उसी से प्रेरणा लेकर मैंने अपने शोध का विषय W. B. Yeats : His Mind and Art रख लिया था। पर बहुत जल्द मुझे यह अनुभूति हो गई थी कि मैं एक ऐसे वृक्ष के फूल-फल को पकड़ना चाहता हूँ जिसके मूल-तने का मुझे कुछ पता नहीं है, और यह काम मुझे अधूरा ही छोड़ देना पड़ा था।

छोड़ तो मैंने दिया था, पर भुला नहीं दिया था। अधूरी छूटी चीज़ें मुझे बहुत परेशान करती हैं। वे रह-रहकर मुझे अपनी याद दिलाती हैं, पूरी करने को आमंत्रित करती हैं, चुनौती देती हैं। अब जब इंग्लैंड जाने और वहाँ किसी युनिवर्सिटी से संबद्ध होने की संभावना दिखी तो इस अधूरे काम ने मुझे एक बार फिर कुरेदा—बहुत समय से मैंने इसे लटका रखा है, अगर इस मौक़े से चूका तो फिर यह जीवन भर अटका ही रहेगा। ब्रिटिश कौंसिल से मार्ग-व्यय पाने के पहले दो काम करने थे—किसी ब्रिटिश युनिवर्सिटी में प्रवेश पाना था और ५०००/- रुपये नक़द का इंतज़ाम करना था। दोनों काम मुश्किल थे, पर असंभव नहीं। ज़िंदगी भर मुश्किलों से ही तो टक्कर लेता रहा हूँ। एक बार और सही।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है 'फ़र्स्ट थिंग्स फ़र्स्ट'—अर्थात् जो चीज़ अधिक महत्त्व की हो उसकी ओर पहले ध्यान दो। सोचा, किसी युनिवर्सिटी में प्रार्थना-पत्र भेजकर देखूँ कि प्रवेश मिल भी सकता है कि नहीं।

तेजी से मैंने चर्चा चलाई तो मेरे इंग्लैंड जाने की संभावना पर उन्होंने

अपना हर्ष व्यक्त किया और अपनी ओर से हर प्रकार का सहयोग देने का आश्वासन दिया। छह महीने का वक़्त होता ही कितना है, हँसते-खेलते गुज़र जायगा।

तबीयत अपनेराम को ऊँची मिली है—'मति अति नीच ऊँच रुचि आछी'। किसी ब्रिटिश युनिवर्सिटी में दाख़िला माँगना है तो इंग्लैंड की सबसे बड़ी और विश्व-विश्रुत युनिवर्सिटियों में क्यों न माँगा जाए; यानी केम्ब्रिज या आक्सफ़र्ड में, न कि लंदन, लीड्स, ब्रिस्टल या नार्टिघमशायर में।

विश्राम तिवारी की बुद्धि तो कुशाग्र न थी, पर ठेठ ग्रामीण की व्यावहारिक सूझ-बूझ उनमें खूब थी। तिवारी जी कहा करते थे कि जब आदमी शिकार पर निकले तो उसे अपने तरकस में दो तीर रखकर चलना चाहिए कि एक ख़ता कर जाए तो दूसरा तो निशाने पर बैठे। मैंने केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड दोनों युनिवर्सिटियों में प्रार्थना-पत्र भेज दिए। प्रार्थना-पत्र में अपनी अकादमिक योग्यता और अनुभव के साथ ही मैंने अपने कवि और लेखक होने की भी चर्चा कर दी, कुछ रचनाओं के नाम भी दे दिए। 'मधुशाला' के अंग्रेज़ी अनुवाद की प्रति भी साथ लगा दी जो दो वर्ष पूर्व The House of Wine (दि हाउस आफ़ वाइन) के नाम से लंदन से प्रकाशित हो चुका था।

इस अनुवाद की भी एक रोचक कहानी है। अनुवादिका थीं मार्जरी बोल्टन, पर उनको हिंदी बिल्कुल नहीं आती थी। बात ऐसी हुई कि जिस समय मार्जरी आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी से बी० लिट० करने की तैयारी कर रही थी, उत्तर भारत का एक विद्यार्थी, आर० एस० व्यास नाम का, वहाँ पहुँच गया। वह मार्जरी को प्रेम करने लगा और जब-तब 'मधुशाला' की रुबाइयाँ उसे सुनाया करता, शायद मेरी ही ट्यून में, जो संभव है, मुझसे ही उसने किसी कवि-सम्मेलन में सुनी हो। वह ट्यून मार्जरी को इतनी मोहक लगी कि उसने कविता की पंक्ति-पंक्ति का अर्थ पूछना शुरू कर दिया। मार्जरी में पद्य-प्रतिभा थी, उसने अर्थ को पद्यबद्ध कर डाला। इस प्रकार एक अंग्रेज़ प्रेमिका और भारतीय प्रेमी के रसमय क्षणों की साक्षी के रूप में 'मधुशाला' का अंग्रेज़ी अनुवाद The House of Wine के नाम से तैयार हुआ। जब उसके छपने की योजना बनी तो मेरी प्रार्थना पर, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उसके लिए फ़ोरवर्ड लिख दिया था।

मेरी अकादमिक योग्यता और अनुभव में कुछ ऐसा न था जिसे विशिष्ट कहा जाय, पर मेरे सर्जक ने, मेरा ऐसा अनुमान है, निश्चय ही, युनिवर्सिटी अधिकारियों का ध्यान विशेष रीति से मेरी ओर आकर्षित किया होगा। मुझे केम्ब्रिज में दो टर्म यानी छह महीने के लिए और उसके बाद आक्सफ़र्ड में तीन टर्म के लिए एडमिशन मिल गया। दोनों जगह सफल होने की मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। भय यही था कि कहीं दोनों जगह विफल न होऊँ। कहावत सुनी थी कि भगवान जब देना चाहता है तब छप्पर फाड़कर देता है। किसी ने उस ग़रीब की कल्पना नहीं की जिसे भगवान तो छप्पर फाड़कर दे पर उसके पास दिए हुए को समेटने के लिए झोली ही न हो।

जिस दिन विश्राम तिवारी ने मुझसे दो तीर तरकस में रखकर चलने की बात कही थी, उस दिन अपनी संशयात्मक बुद्धि से, जो मुझमें लड़कपन से मौजूद थी—एक विनोदी प्रवृत्ति बनकर, मैंने उनसे पूछ दिया था, '…लेकिन, पंडित जी, अगर दोनों तीर ख़ता कर जाएँ तब ?' पंडित जी ने फ़ौरन जवाब दिया था, 'तब उसे शिकारी बनने के हौसले को बालाए ताक़ रखकर भैंस चराने के लिए निकल जाना चाहिए।' मैं उनसे पूछना भूल गया था कि अगर दोनों तीर अपने-अपने निशाने पर बैठ जाएँ तो ? इसीका जवाब मुझे आज चाहिए था। शायद वे कहते कि 'ऐसे सव्यसाची में दोनों शिकारों को साथ लाने की ताक़त भी चाहिए।' तीर तो लग चुके थे, अब ताक़त पैदा करनी थी। ताक़त के मानी यहाँ थे—पैसों का जुगाड़ करना, और इस ताक़त को पैदा करने के लिए मुझे जो डंड-बैठकें लगानी पड़ीं, उसने मुझे बड़े कष्टकर मानसिक तनावों में डाला।

बात केवल छह महीने बाहर रहने की योजना से उठी थी। कुछ अधिक आर्थिक प्रबंध होने पर कुछ और दिन वहाँ ठहरने का ख़याल आता था तो लगे हाथ योरोप भी देख लेने का, दुबारा कहाँ विदेश जाने का मौक़ा मिलेगा ! एलिज़ाबेथी युग में, कहीं पढ़ा था, किसी युवक की शिक्षा तब तक पूरी न समझी जाती थी, जब तक वह योरोप की यात्रा भी न कर आए। आख़िर संस्कार तो अंग्रेज़ी शिक्षा के ही मन पर पड़े थे, फिर अंग्रेज़ी के माध्यम से ही सही, योरोप की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, कला अत्यन्त परिचित लगती थी। उसे अधिक निकटता से देखने का आकर्षण अस्वाभाविक न था।

अब केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड में रहने के लिए ही पंद्रह महीने के ख़र्च की व्यवस्था करनी थी, युनिवर्सिटी से पाँच महीने का अतिरिक्त अवकाश मिल भी सकता तो बग़ैर तनख्वाह के, यानी पाँच महीने घर के ख़र्च का भी प्रबंध करना था। लगता था, इतने का इंतज़ाम कर लेना मेरे लिए नामुमकिन होगा और आख़ीर में अपनी आशा-आकांक्षाओं पर पानी फेरकर बस बैठ जाना पड़ेगा, गो इस स्थिति की कल्पना भी मेरे मन को बहुत उदास कर जाती थी—तुमसे बहुत अधिक योग्यता रखने वालों को, बरसों की कोशिशों और बड़े-बड़े लोगों की सिफ़ारिशों के बाद भी इन युनिवर्सिटियों में प्रवेश पाने में कठिनाई होती है, और तुम्हें जो यह अवसर अनायास मिल गया है, उसे तुम यों ही हाथ से निकल जाने दोगे! केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड गुड़-भरी हँसिया बनकर मेरे गले में अटक गए थे। गुड़ तो मैंने खाया, पर इसके लिए अपना गला भी कम नहीं चिरवाना पड़ा।

शिष्ट समाज में आमदनी-खर्च की बात करना अशोभन और कुरुचिपूर्ण समझा जाता है, पर मध्यवर्ग का जीवन, व्यवहार, आदर्श, मूल्य, नैतिकता—सब अर्थाधारित हैं, अर्थ-परिचालित हैं। इसलिए अशिष्ट बनने का ख़तरा उठाकर भी मुझे कुछ अपनी आर्थिक स्थिति की चर्चा करनी होगी। उस पर मौन रहूँ तो मुझे जीवन के भी बहुत से प्रसंगों पर मौन रहना होगा। ईमानदारी के मूल्य पर औपचारिक शिष्टता मुझे स्वीकार नहीं।

मेरे जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा ग़रीबी और संघर्ष में बीता था, पर उन्होंने मुझे स्वावलंबी और किसी हद तक स्वाभिमानी भी बनाया था—मैं जो हूँ, जो बना हूँ, अपने बल पर, अपनी योग्यता से, अपनी मेहनत-मशक़्क़त से। विदेश जाने के लिए खर्च इकट्ठा करने की समस्या जब सामने आई तो पहला विचार यही मन में उठा, इसका हल अपने बल पर ही निकालना चाहिए।

मेरे प्रकाशक बहुत दिनों से मेरी सर्वश्रेष्ठ कविताओं का एक बड़ा संग्रह निकालने का आग्रह कर रहे थे, कविताओं का चुनाव मैंने कर लिया था, नाम भी उसका सोच लिया था—'सोपान'। मैंने उनके सामने यह शर्त रखी कि अगर वे मुझे ५०००/= अग्रिम रायल्टी के रूप में दे सकें तो मैं उन्हें पुस्तक प्रकाशित करने की अनुमति दे दूँगा। यह एक नई बात थी। आज तक मैंने

अग्रिम रायल्टी के रूप में उनसे एक पैसा भी न माँगा था। रक़म भी कुछ कम न थी। साल भर में मेरी सारी पुस्तकों पर इसकी लगभग आधी रक़म वे रायल्टी के रूप में मुझे अदा करते थे। 'सोपान' प्रकाशित करने का उनका उत्साह ठंडा पड़ गया। अग्रिम रायल्टी देने को वे तैयार न हुए; पुस्तक प्रकाशित करने का विचार ही फ़िलहाल उन्होंने स्थगित कर दिया। प्रथम चुंबने ओष्ठ भंगः।

होठ भंग हो गए थे, पर आशा भंग नहीं हुई थी।

सोचा, हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया है। शिक्षा का विस्तार, उद्धार, परिष्कार करने के लिए एक पूरा शिक्षा-मंत्रालय बन गया है। एक युनिवर्सिटी का शिक्षक विदेश की दो प्रसिद्ध युनिवर्सिटियों से अनुभव-समृद्ध होकर आए तो देश में शिक्षा के क्षेत्र में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अपनी सरकार ऐसे आदमी को सहायता देना ही चाहेगी। शिक्षा-मंत्रालय को मैंने एक प्रार्थनापत्र भेज दिया कि मुझे कोई ऐसी छात्रवृत्ति दी जाय जो मेरे सवा बरस केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड में रहने के लिए पर्याप्त हो। अपने प्रार्थनापत्र में अपने कवि की भी कुछ चर्चा कर दी, सोचकर, कुछ अपने भोलेपन में, कि मेरे सर्जक का प्रभाव केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड तक पहुँचा है तो क्या दिल्ली तक न पहुँचेगा!

कुछ दिनों तक कोई उत्तर न आया तो तेजी ने ज़िद की कि मैं दिल्ली जाऊँ और व्यक्तिगत रूप से शिक्षा-मंत्रालय के अधिकारियों से मिलूँ—'द्वारिका जाहु जू, द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै जक तेरे।' उन दिनों श्री हुमायूँ कबीर शिक्षा-सचिव थे—मुग़लवंश के राजा और संत पंथ के जोगी के मिले-जुले नाम वाले व्यक्ति के संबंध में मेरी एक अजीब-सी कल्पना थी। जिस समय डा० दस्तूर कलकत्ता युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर थे, हुमायूँ कबीर उनके शिष्य थे। उनसे एक परिचयपत्र लेकर मैं दिल्ली पहुँचा। सचिव के कमरे में जाकर मैंने कुर्सी पर बैठे एक ठिगने, काले, चौड़ी नाक, चौड़े जबड़े, काली-मोटी कमानी के चश्मेवाले व्यक्ति को देखा—अपनी कल्पना के बिलकुल विपरीत—यही हुमायूँ कबीर थे, व्यस्त-से दिखते, फुर्तीले। बोले, 'छात्रवृत्ति मिलने की तो कोई संभावना नहीं है।' शायद उन्होंने मुझसे बैठने के लिए भी नहीं कहा। उनके व्यवहार से मुझसे अधिक निराश तो

डा० दस्तूर हुए। राजनीतिज्ञ ऊँचे पद पर पहुँचकर प्रायः अपने पुराने परिचितों को भुला देता है।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद शिक्षा-मंत्री थे, सोचा—दिल्ली आया हूँ तो उनसे भी मिलकर देख लूँ। मेरठ की कमला चौधरी उन दिनों संसद-सदस्या थीं, हिंदी की कहानी लेखिकाओं में उनका नाम था, उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का एक अनुवाद भी उन्होंने प्रकाशित कराया था, जिसकी पांडुलिपि मैंने सुधारी-सँवारी थी, उसकी भूमिका भी लिखी थी। वैसे भी वे मेरी कविताओं की प्रशंसिका थीं और उनके निमंत्रण पर एकाधिक बार मैं मेरठ के कवि-सम्मेलनों में भाग लेने गया था। उनसे परिचयपत्र लेकर मैं मौलाना साहब से मिला। मौलाना आज़ाद का क्या कहना! दिव्य-दर्शन थे—तहज़ीब व तमद्दुन व तालीम के गढ़े-छीले मुतकल्लिम (बोलते हुए) पुतले। वहाँ शीन-क़ाफ़ से दुरुस्त आदाब-अलक़ाब तो बकसरत था, पर बवक़्ते-रुख़सत उन्होंने फ़र्मा दिया, 'जो हुमायूँ कबीर ने कहा है, उसीको आख़िरी फ़ैसला समझिए।'

मेरा ध्यान डा० राजेन्द्र प्रसाद की ओर गया—राष्ट्रपति ही थे, क्या नहीं था उनकी ताक़त में! उनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। एक बार मुज़फ़्फ़रपुर के सुहृद संघ द्वारा आयोजित कवि-सम्मेलन का मैंने सभापतित्व किया था और राजेन्द्र बाबू उसका उद्घाटन करने आये थे। इतने परिचय के आधार पर, सात-आठ साल बाद जब वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डायमंड जुबली के अवसर पर आए तो उन्होंने मुझे देखते ही पहचान लिया और नाम से बुलाया। मैंने उनके निजी सचिव से उनसे मिलने का समय माँगा तो दूसरे ही दिन मिल गया। राजेन्द्र बाबू शिष्टाचार और विनम्रता की मूर्ति थे। उन्होंने ध्यान और सहानुभूति पूर्वक मेरी समस्या सुनी। चलते समय उन्होंने कहा कि संबद्ध अधिकारियों से पुछवाकर वे मुझे सूचित कराएँगे कि मेरे लिए क्या किया जा सकता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, उनके निजी सचिव का उत्तर आया था कि इस संबंध में तो शिक्षा-मंत्रालय ही कुछ सहायता कर सकता है, जहाँ से मुझे एक बार निराशाजनक उत्तर मिल चुका था। प्रजातंत्र में राष्ट्रपति की शक्ति की भी कुछ सीमाएँ हैं—इसका प्रथम बार आभास हुआ। उन दिनों जो लोग राष्ट्रपति से मिलते थे, दूसरे दिन उनके नाम अखबारों में छप जाते थे। दिल्ली की मेरी उस यात्रा की उपलब्धि केवल यह

थी कि दूसरे दिन राष्ट्रपति से मिलनेवालों की सूची में मेरा भी नाम था।

दिल्ली से बहुत हताश और खिन्न लौटा।

तेजी को सुनना पड़ा, बहुत कहती थीं, दिल्ली जाओ, दिल्ली जाओ, लाफर लूटकर लाया हूँ दिल्ली से!

तेजी ने कहा, 'तुम सही आदमी से मिले ही नहीं। तुम्हें पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिलना था। तुम उन्हें पत्र लिखकर मिलने का समय माँगो, और मेरे कहने से एक बार और दिल्ली जाओ मेरा मन कहता है, वे तुम्हें निराश नहीं करेंगे। और अगर उन्होंने भी कुछ न किया तो तीन हज़ार का इंतज़ाम हम अपने पास से किसी न किसी तरह कर लेंगे, तुम ब्रिटिश कौंसिल को लिख दो कि तुमने उसकी दोनों शर्तें पूरी कर ली हैं, अब वह तुम्हें मार्ग-व्यय भेज दे। छह महीने केम्ब्रिज रहकर लौट आओ, आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी को लिख दो कि किसी कारण तुम वहाँ न जा सकोगे। सपनों को सदा ही वास्तविकताओं से समझौता करना पड़ता है।'

पंडित जी से मेरे मिलने के अवसर इने-गिने थे।

फिर भी मेरा कवि-रूप कहीं उनकी स्मृति में जमकर बैठ गया था। दो वर्ष पूर्व मेरे केवल एक बार लिखने पर उन्होंने मेरी 'मधुशाला' के अंग्रेजी अनुवाद के लिए प्रस्तावना लिख दी थी।

मैंने पत्र द्वारा उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने मुझे दिल्ली बुला लिया। पार्लियामेंट हाउस के अपने दफ़्तर में मुझसे मिले। मैंने अपनी समस्या उनके सामने रखी, अपने प्रयत्नों की असफलताओं की कहानी भी सुना दी। उन्होंने बड़े ध्यान और धैर्य से मेरी बातें सुनीं—आधे घंटे का समय तो उन्होंने दिया होगा मुझे। अंत में उन्होंने अपने निजी सचिव श्री बी० एन० कौल को बुलवाया और बड़े सहज भाव से उन्हें आदेश दिया कि मेरे लिए ८०००/— ब्लाक ग्रांट की व्यवस्था करा दी जाय। मैं उनकी उदारता पर अवाक् रह गया। लड़कपन में पढ़ी एक पंक्ति दिमाग में कौंध गई:

जिसको न दे मौला
उसको दे आसफ़ुद्दौला।

मैं पंडित जी को धन्यवाद देकर उनसे विदा लूँ कि बज़र आ गया, बोले, 'रुको, मौलाना साहब आ रहे हैं, उनसे मिल लो, तुम्हें तो कुछ देने से उन्होंने इन्कार कर दिया था न !—कुछ व्यंग्य, कुछ विनोद, कुछ शरारत की-सी मुद्रा में। इतने में मौलाना साहब कमरे में दाखिल हुए। पंडित जी उनको संबोधित करते हुए बोले, 'आइए मौलाना, ये बच्चन साहब हैं, हिंदी के शायर, अंग्रेज़ी के लेक्चरर इलाहाबाद युनिवर्सिटी में, अपने रिसर्च के सिलसिले में केम्ब्रिज जा रहे हैं'—जैसे इलाहाबाद और केम्ब्रिज से अपने संबंधों के प्रति वे सचेत हों।—और मौलाना साहब ने मुँह खोलकर कहा, 'बड़ी ख़ुशी से जाएँ, ख़ुशी-ख़ुशी वापस आएँ।' मौलाना साहब ने अपने काले चश्मे के पीछे छिपी आँखों से यह ज़ाहिर भी न होने दिया कि अभी दो हफ़्ते पहले मैं उनसे मिल चुका था। इसके पहले कि कोई असमंजस की स्थिति आए, पंडित जी ने मुझे संकेत किया और मैं उन्हें प्रणाम और मौलाना साहब को सलाम कर विदा हुआ—'बा मुसल्माँ अल्ला-अल्ला, बा बरहमन राम-राम।'

बाहर निकला तो कौल साहब ने मुझे बताया कि रिज़र्व बैंक के कुछ ऐसे नियम हैं कि 5000/—से अधिक विदेशी मुद्रा मैं बाहर न ले जा सकूँगा, इसलिए अभी वे मुझे केवल 5000/—का चेक दिलाने की व्यवस्था करेंगे, शेष 3000/—वे दो सौ पौंड की शक्ल में बाद को हाई कमीशन आफ़ इंडिया—इंडिया हाउस—के द्वारा भेजवा देंगे।

दिल्ली से लौटा तो कुछ भारीपन, और कुछ हल्कापन साथ-साथ अनुभव करता—भारीपन, पंडित जी के प्रति कृतज्ञता के भार से, हल्कापन, एक भारी आर्थिक चिंता के दूर हो जाने से।

केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड में प्रवेश पा लेने की सूचना मैंने पहले ही ब्रिटिश कौंसिल को दे दी थी, वहाँ रहने की आर्थिक व्यवस्था कर लेने की सूचना भी दे दी। न जाने क्यों मेरे मन में इस बात का पूरा विश्वास था कि अब तो ब्रिटिश कौंसिल मुझे जाने-आने का खर्च दे ही देगी। यात्रा की तैयारी करने लगा। पासपोर्ट बनवा लिया, युनिवर्सिटी से पन्द्रह महीने की छुट्टी ले ली, जो

दस महीने के लिए सवेतन और पाँच महीने के लिए अवेतन मिली। मुझे 15 अप्रैल को केम्ब्रिज में उपस्थित हो जाना था, मध्य मार्च आ पहुँचा था, पर मार्ग-व्यय के संबंध में ब्रिटिशकौंसिल की ओर से कोई सूचना न मिली थी। सोचा, ब्रिटिशकौंसिल के दफ़्तर में जाकर उसके सेक्रेटरी से मिलूँ और ठीक स्थिति का पता लगाऊँ। सेक्रेटरी महोदय जब एक बार इलाहाबाद आए थे, शायद वर्ड्सवर्थ की मृत्यु-शताब्दी के अवसर पर, तब उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय हुआ था।

उन दिनों ब्रिटिशकौंसिल का मुख्यालय आगरा में था। सेक्रेटरी मि० फ़िलिप्स से मिलकर मुझे ऐसा लगा कि जैसे मेरा व्यक्तिगत रूप से आकर उनसे मिलना कुछ अनुचित हो। बातें जो दो टूक हुईं उनका सारांश यह था कि ब्रिटिशकौंसिल द्वारा चुनाव केवल इस बात पर निर्भर न होगा कि किसी को ब्रिटिश यूनिवर्सिटी में दाखिला मिल गया है। तुरंत मेरे मन की प्रतिक्रिया हुई—तो ब्रिटिश युनिवर्सिटी में मेरा दाख़िला भी इस आधार पर नहीं हुआ कि ब्रिटिशकौंसिल मार्ग-व्यय देने के लिए मुझे चुनेगी। अर्थात्, मुझे उस हालत में भी इंग्लैंड जाने को तैयार रहना चाहिए जबकि ब्रिटिशकौंसिल मुझे मार्ग-व्यय न दे।

इंग्लैंड जाने के लिए मैं प्रतिबद्ध हो चुका था। मुझे कटिबद्ध भी होना था। मार्च के अंत में ब्रिटिश कौंसिल से सूचना आई कि इंग्लैंड भेजने के लिए मुझे नहीं चुना गया है। चुना भी नहीं जा सकता था। इसका रहस्य मुझे बाद को स्पष्ट हुआ, पर प्रसंग उठा है तो बात को यहीं कह दूं। इंग्लैंड जाने के इच्छुक स्वयं हमारे विभाग के अध्यक्ष प्रो० एस० सी० देब थे, प्रयत्न भी कर रहे थे और इसकी खबर कानों-कान उन्होंने किसी को न होने दी। चुना उन्हींको गया था; गो वे गए कुछ विलंब से, अवधि भी इंग्लैंड में रहने की उन्होंने कुछ कम करा ली, थोड़े-थोड़े समय के लिए कई युनिवर्सिटियों से संबद्ध रहे, विशेषकर लंदन से, कुछ दिनों के लिए केम्ब्रिज भी आए थे। उनको साथ लेकर मैंने ही उन्हें केम्ब्रिज की खास-खास जगहें दिखलाई थीं, पर वे अपने अध्ययन के आधार पर केम्ब्रिज के बारे में मुझसे कहीं ज़्यादा जानते थे। कुछ अंग्रेजी अध्यापकों की कक्षाओं में भी वे दर्शक के रूप में गए थे, गो उनकी शिक्षण-पद्धति से वे अधिक प्रभावित न प्रतीत हुए थे। मैंने उन्हें अपने निर्देशक

मि० हेन से भी मिलाया था। अध्यापकों की एक गोष्ठी में, याद है, उन्होंने अपना एक बड़ा उपहासास्पद रूप उपस्थित कर दिया था।

जिस अध्यापक के पास देव साहब बैठे थे, किसी प्रसंग पर चर्चा के बीच उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर बोले, 'फ़लाँ पुस्तक तो आपने पढ़ी होगी।' और उसका कुछ वर्णन भी कर गए।

उसने कहा, 'माफ़ कीजिएगा, मैंने वह पुस्तक नहीं पढ़ी।'

थोड़ी देर बाद उसीको फिर संबोधित कर देव साहब ने कहा, 'हाँ, फ़लाँ पुस्तक तो आपने ज़रूर ही देखी होगी, एक समय विद्वानों में उसपर कितनी चर्चा हुई थी—-पेरिस में, न्यूयार्क में।'

उसने कहा, 'मुझे अफ़सोस है, मैंने वह पुस्तक नहीं देखी।'

तीसरी बार देव साहब फिर उसी अध्यापक से पूछ बैठे, 'क्या आपने वह किताब नहीं पढ़ी जिसपर फ़लाँ-फ़लाँ कचहरी में मुक़दमा चला था···'

अब तो अध्यापक का धैर्य टूट गया।

उसने अपनी कुर्सी देव साहब की तरफ़ घुमाई और बोला, 'Prof. Deb, could you please tell me what else you do besides reading ?'

(प्रोफ़ेसर देव, क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि पढ़ने के अलावा आप और क्या करते हैं ?)

उस पार्टी में फिर प्रो० देब ने मुँह न खोला।

ख़ैर, बाद की बात पहले, पहले की बात बाद को, ऐसा तो इस संस्मरण में कई बार होगा। पहले भी हो चुका है। स्मृति की रेखा ज्यामिति की रेखा नहीं है। और अब तक तो शायद मेरे पाठक भी मेरी लेखनी की बहक-मिज़ाजी के अभ्यस्त हो चुके होंगे। इसलिए क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं समझता।

ब्रिटिश कौंसिल के पत्र ने वह आधार ही खींच लिया जिसके ऊपर मैंने विदेश-यात्रा का महल खड़ा किया था। पाँच महीने बग़ैर वेतन के घर चलाने की समस्या थी ही, अब जाने के लिए व्यय के बारे में सोचना था, और लौटने के लिए भी। क्या विदेश जाने का विचार छोड़ दूं? आक्सफ़र्ड-केम्ब्रिज को लिख दूं कि मैं नहीं आ सकता? पंडित जी को चेक लौटा दूं? युनिवर्सिटी से

ली छुट्टी खारिज करा दूं ? स्थिति बड़ी ही उपहासास्पद लगी। जीवन कभी-कभी हमें लाकर ऐसी जगह खड़ा कर देता है कि वहाँ से एक ही निर्णय लेना संभव होता है और वह भी तुरंत। मैंने अपने खर्च से ही जाने का निश्चय किया, लौटने के खर्च की बात फ़िलहाल दिमाग़ से टाल दी। जो काम मैं स्वेच्छया करने जा रहा था, अब लगा कि वह मैं विवशता से कर रहा हूँ, कर क्या रहा हूँ, कोई मुझसे करा रहा है और अब न मुझमें मुकरने का बल है, न मुकरने का मौक़ा ही है।

दिल्ली से लौटने के बाद से ही मैं एक तरह की भीतरी कमज़ोरी का अनुभव करने लगा था। विदेश-यात्रा के लिए धन जुटाने में किसी हद तक सफल होने के बावजूद, मुझे लगता था कि जो मैंने पाया है, उसके एवज़ में कुछ अधिक मूल्यवान दे आया हूँ। किसीके सामने कुछ माँगने के लिए जाने में—चाहे अपने लिए हो, चाहे दूसरों के लिए—मैं महाभीरु और संकोची हूँ। ऐसी आवश्यकता जब-जब मेरे सामने आई है, मैंने जहाँ तक हो सका है, उसे टालने का प्रयत्न किया है—उसके लिए सौ बहाने जानता हूँ, मेरी तबियत खराब है, मुझे बहुत ज़रूरी काम है, संबद्ध व्यक्ति बाहर गया है, व्यस्त है, उपलब्ध नहीं है, वह मेरी बात क्यों मानने लगा, आदि-आदि। फिर भी ऐसे अवसर आए हैं जब मुझे अपने लिए और दूसरों के लिए भी औरों के सामने जाना पड़ा है। जीवन में मुसीबतों की कमी नहीं रही। लेकिन अगर कोई मुझसे पूछे कि सबसे बड़ी मुसीबतें मैंने कब उठाईं तो सबसे पहले याद आएँगे मुझे वे अवसर जब मुझे कुछ माँगने के लिए दूसरों के सामने उपस्थित होना पड़ा है—भले ही वह मेरा और दूसरों का प्राप्तव्य ही क्यों न हो। न जाने क्यों मन में विश्वास है कि मनुष्य का प्राप्तव्य तो उसे स्वयं मिल जाना चाहिए। माँगा तो केवल दाता की दया, कृपा, रियायत, मुलाहज़े पर जाता है। दूसरे तरह की मुसीबतें मुझे चुनौती देती हैं—अपने में जो शक्ति-सामर्थ्य हो, उससे उनका सामना करो। इस मुसीबत के सामने मैंने अपने को सर्वथा निःशक्त और असमर्थ पाया है। निश्चय ही जब-जब ऐसे अवसर आए हैं, मेरा आध सेर खून सूख गया है। 'रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं', यक्ष-प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने भी तो कहा था, 'प्रार्थना विषं'।

पर विष तो अब पी चुका था, लगता था, शायद आगे और भी पीना

पड़े। कुछ उपलब्ध करके ही इस विष का निराकरण किया जा सकता था। अगर विदेश जाकर शोध-सामग्री एकत्र कर लाऊँ और देश लौटकर उसके आधार पर डाक्टरेट ले सकूँ तो यही वह उपलब्धि होगी। कुछ इसी मनस्थिति में मैं विदेश जाने के लिए कृत-संकल्प हुआ।

परिवार के बुजुर्गों में उस समय मेरे मामा जी थे, मेरी चाची थीं—गंसी चाचा की पत्नी। सोचा, जाने के पहले उनके आशीर्वाद ले लूँ। मामा वृद्ध थे, एकाकी, निःसंतान। बोले, 'मैंने तो समझा था, तुम मेरी मिट्टी को पार लगाओगे, कल कुछ भी हो सकता है…।' मैंने कहा, 'दिल छोटा न करें, अभी आप बहुत दिन जिएँगे, मुझे आशीर्वाद दें कि सुकुशल लौटकर आपके दर्शन करूँ।' मेरी बात सच ही निकली। मेरे विदेश से लौटने के नौ वर्ष बाद वे संसार से गए और उनकी अंतिम सेवा का अवसर भी मुझे मिला। अंत समय में मेरी सेवा का संजोग मेरे परिवार का हर सदस्य अपने भाग्य में लिखा कर लाया था—नानी, मामी, मामा, पिता, माता, बड़ी बहन, छोटे भाई, उनकी पत्नी, श्यामा—अपवादस्वरूप मेरी छोटी बहन थी, जो अपनी ससुराल में मरी। मेरे रिश्तेदारों में यह कहन चल पड़ी है कि 'बच्चन ने जिसकी सेवा की, वह बचा नहीं।' और यह कटु सत्य एक दुःखद स्मृति बनकर जब-तब मुझे शूल की तरह वेधा करता है, गो उसका एक विनोदी पक्ष भी है। मेरी एक रिश्ते की मामी हैं, उन्हें जीवन से बड़ा मोह है। कभी वे बीमार पड़ती हैं तो मैं उन्हें लिखता हूँ कि 'जल्दी अच्छी हो जाइए, नहीं तो मैं आपकी सेवा के लिए आता हूँ।' और मामी मेरी धमकी से फ़ौरन अच्छी हो जाती हैं।

चाची मेरे विदेश जाने के कार्यक्रम के बारे में सुनकर कुछ आश्चर्य, कुछ क्रोध और कुछ शिकायत की मुद्रा बना कर बोलीं, 'बेटवा, तुम तो कुल में होत आई सगरी रीत, रसम, रवाज पर हर चलाय दिहे हौ, अब का समुन्दरौ कै जात्रा करबो?' मुझे एक बात सूझी। मैंने कहा, 'चाची, हब तो हवाई-जहाज से जाबै और सारी जात्रा में समुन्दर के एकौ बूंद से भेंट न होई।' भोली चाची आश्वस्त हो गईं और मैं उनके पाँव छूकर चल दिया। चाची असीसती हुई दरवाज़े तक आईं, 'बहूरानी के सोहाग और बेटवन के भाग से कुसल-छेम से लौटौ…।'

तेजी के साथ तो पंजा पकड़कर पहुँचा पकड़ने की बात हो गई। आगे तो

पहुँचा पकड़कर हाथ पकड़ने की बात होनेवाली थी। मेरा मन साफ़ है: ज़बर्दस्ती मेरी ओर से नहीं हो रही थी, परिस्थिति मुझसे जो करा रही थी उसमें उनका भी पूरा सहयोग था। योजना कौतूहल से आरंभ हुई थी, पर उसके पूरी होने में उन्होंने मेरी उन्नति, प्रगति, विकास की संभावना भी देखी थी और उसके लिए वे सब प्रकार का दायित्व लेने और सब तरह का त्याग करने को तैयार थीं। फिर भी, जैसे-जैसे मेरे प्रस्थान का दिन निकट आने लगा वैसे-वैसे उनके चेहरे का रंग उतरने लगा और वे खोई-खोई-सी रहने लगीं। इसके पीछे कोई आर्थिक चिंता न थी—दस महीने युनिवर्सिटी से वेतन मिलने को था ही, फिर किताबों की रायल्टी मिलने का समय आ जाने को था, कोई ख़ास ज़रूरत पड़ने पर बैंक में थोड़ी-बहुत जमा राशि से रुपए निकलवाये जा सकते थे। जाने के पहले ही ३०००/= निकलवाने थे, उन दिनों बंबई से लंदन तक का हवाई टिकट ही २०००/= से कुछ ऊपर में मिलता था। तेजी के मन की गिरावट के पीछे थी, नारी की सहज दुर्बलता। उनके व्यक्तित्व में अंतर्निहित पुरुष की ओर मैंने पहले भी संकेत किया है, पर मेरे जीवन में ऐसे भी अवसर आए हैं जिनमें मैंने तेजी का विशुद्ध, सुकुमार, निर्भराकुल नारी-रूप भी देखा है, जैसे कोई इस्पात की सीधी, कड़ी छड़ी किसी जादू से सलज, लचीली लतिका में परिवर्तित हो जाए। एक दिन उन्होंने कह ही दिया, 'इतने दिनों के लिए, इतनी दूर जा रहे हो, बच्चे छोटे-छोटे हैं, पता नहीं कैसी आए-जाए, मैं अकेली अबला-असहाय इस इतने बड़े नगर में···तुम कुछ भी न करो, कहीं मेरे साथ न जाओ, मैं सब कुछ अकेले कर लेती हूँ, पर मेरा सारा बल, सारा साहस तो इसीसे आता है कि तुम घर पर बैठे हो···तुम्हारे घर से दूर जाने की कल्पना से ही मैं अपने को बहुत निर्बल-कातर पा रही हूँ।' मैंने उन्हें समझाया, 'तुम यह क्या कह रही हो ! मैं तो तुम्हारे बल पर ही विदेश जाने को तैयार हुआ था, अगर तुम इस समय ऐसी दुर्बलता दिखलाओगी तो इंग्लैंड में मेरा एक-एक दिन रहना कठिन और कष्टकर हो जाएगा। फिर मेरे प्रस्थान को गंभीर अथवा अवसादपूर्ण अवसर बनाने का असर बच्चों पर अच्छा न पड़ेगा। तुमसे और बच्चों से अलग होना मेरे मन पर कम भारी नहीं पड़ रहा है, पर हमें कम से कम बाहर से प्रसन्न दिखना चाहिए, जिससे बच्चे समझें कि मेरा जाना एक सहज, साधारण-सी घटना है।'

महीने में एकाध बार बकस-बिस्तर लेकर मेरा यात्रा पर जाना और दो-चार दिन बाद लौट आना मेरे बच्चों के लिए हस्ब-मामूल-सा हो गया था। काँगड़ा और कश्मीर की यात्रा, तथा लखनऊ में छोटे भाई की बीमारी के समय मैं एक-एक महीने से अधिक घर से बाहर रहा था। सच कहूँ तो मेरे बच्चे मेरे घर से बाहर जाने का स्वागत करते थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि जब मैं लौटूंगा, उनके लिए तरह-तरह की नई चीज़ें—मिठाइयाँ, खिलौने आदि लाऊँगा। मेरे छोटे बेटे अजित ने, जिसे घर में हम बंटी कहते थे, पन्द्रह महीने की अवधि की लंबाई की कल्पना शायद ही की हो, और उसने मेरे विदेश जाने की बात पर अपनी सहज, स्वाभाविक प्रसन्नता ही व्यक्त की—दो-चार रोज़ बाद मेरे खिलौने-मिठाई लिए-लादे लौटने की तस्वीर आँखों में बसाए, गो बाद को मुझे पता लगा कि मेरी अनुपस्थिति का मानसिक तनाव उसीने सबसे अधिक गहराई से अनुभव किया। उसके अंदर एक प्रकार के भय और असुरक्षा की भावना घर कर गई। वह रातों को सोते-सोते चौंकता-चिल्लाता, दिन को हर समय किसी न किसी के साथ रहने की ज़िद करता। उसकी भीति-कुंठा दूर करने के लिए तेजी को बड़े सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक उपाय करने पड़े। मैं इंग्लैंड से उसे Brave Boy Bunt—बहादुर बेटे बंटी—करके संबोधित करता, जिसका उसके ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा और थोड़े दिनों बाद वह अपने को अपनी माँ और बड़े भाई का संरक्षक समझने लगा। आज तो बंटी बहुत स्वस्थ, सुगठित और साहसी युवक है और उसे यह यक़ीन कराना भी कठिन है कि वह बचपन में इतना डरपोक था।

मेरा बड़ा बेटा अमिताभ ज़्यादा समझदार था, साढ़े नौ का हो गया था। उसने अवश्य यह महसूस किया कि मैं एक लंबे समय के लिए घर से बाहर जा रहा हूँ, पर वह उम्र अदृश्य के प्रति आशंकित होने की नहीं होती। मैं विनोद में उससे कहता कि 'देखो, अब घर में सबसे बड़े मर्द तुम हो, तुम्हें अपनी माँ और छोटे भाई की देख-रेख करनी है', और वह अपने दायित्व, अधिकार और सामर्थ्य का प्रदर्शन-सा करता अपना सिर ऊपर उठाता, अपनी उम्र के औसत लड़कों से वह ज़्यादा लंबा था ही, वह अपने को ऊपर खींच कुछ और लंबा दिखाने का प्रयत्न करता, कंधे पीछे कर छाती फुलाता—हूं···। और उसकी यह मुद्रा देख हम मुसकरा देते। उसके अंदर का अभिनेता अपना संकेत देने

लगा था, गो उसके भविष्य की हम अभी कल्पना भी नहीं कर सके थे। पर अपने महत्त्व का उसका बाल-गर्व प्रदर्शनमात्र न था। बाद को एकाधिक अवसरों पर उसने अपने दायित्व को सचमुच गंभीरता से लिया और अपनी जैसी अवस्था के लड़के से अप्रत्याशित विवेक, सूझ-बूझ और कष्ट-सहिष्णुता का सबूत दिया।

तेजी ने इच्छा व्यक्त की कि वे मेरे साथ बंबई तक जाएँगी और मुझे हवाई जहाज़ में बिठालकर वापस आएँगी। और यह एक तरह से अच्छा ही हुआ। बंबई पहुँचकर मैं बीमार पड़ गया और तेजी ने ही मेरे लिए यात्रा का सामान जुटाया : पासपोर्ट पर रुपए जमा कराए, १२ अप्रैल को इंडिया इंटरनेशनल के हवाई जहाज़ से रवाना होने का टिकट खरीदा।

बंबई में हम लाला कैलाशपत सिंहानियाँ के यहाँ ठहरे—जे० के० हाउस में। उनसे मेरा परिचय जमुना प्रसाद सिंह ने कराया था। वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी के छात्र थे, उम्र में मुझसे एक साल बड़े, वैसे ही पढ़ाई में एक दर्जे ऊपर, म्योर होस्टल में रहते थे—तन से लहीम-शहीम, बुद्धि से विचक्षण पान, मधुपान, रसपान तीनों के सम-शौकीन—रस की रेंज अधर-सुधा-रस से काव्य-कला-रस तक फैली। मेरी कविता के प्रेमी थे, इन्कमटैक्स विभाग में किसी ऊँचे पद पर थे। जहाँ कहीं उनकी पोस्टिंग होती, वे कवि-सम्मेलन कराते और मुझे निमंत्रित करते। एक साल जब वे बंबई में थे, उन्होंने जे०के० हाउस में कवि-सम्मेलन कराया था और मुझे बुलाया था। तभी मैं लाला कैलाशपत के संपर्क में आया था। उनकी दो पुत्रियाँ मंगला और शंकरा मेरी कविता पर मुग्ध थीं, उन्होंने मुझे अपना धर्म-बंधु बना लिया था और हर वर्ष रक्षा-बंधन पर वे मुझे राखी भेजती थीं—वह संबंध हमारा आज तक बना है।

बंबई में कैलाशपत जी ने अपने परिवार के डाक्टर से मेरा इलाज कराया। पाँच दिन के बाद भी मैं पूर्णतया ज्वरमुक्त नहीं हुआ, छठे रोज़ मुझे लंदन के लिए प्रस्थान करना था। लोग डराते, बुखार में अगर मैं लंदन के हवाई अड्डे पर उतरा तो मुझे 'क्वारंटीन' में डाल दिया जायगा—'क्वारंटीन' शायद फ्रेंच शब्द है, जिसके अर्थ हैं : चालीस—संक्रामक रोग से पीड़ित समुद्री जहाज़ के यात्री को पहले चालीस दिन तक बंदरगाह से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। शब्द अब भी वही प्रचलित है, अवधि कम कर दी गई है। मैं

कहता, 'चलो, उसका भी अनुभव हो जायगा।' मैं अपना प्रस्थान स्थगित करने को तैयार न था। बच्चों को छोड़कर तेजी अधिक दिन बंबई नहीं रुक सकती थीं, बीमार मुझे छोड़कर वे जाना भी नहीं चाहती थीं। बीमारी की मजबूरी से भी इलाहाबाद लौटने में मुझे बड़ा संकोच था, कितने लोगों ने इलाहाबाद स्टेशन पर मुझे विदा दी थी, फूल-माला पहनाकर, हाथ. रूमाल हिलाकर, शुभकामनाएँ, शुभाशीष देकर !—कितना अजीब लगेगा कि सात रोज़ बाद मैं फिर इलाहाबाद लौट जाऊँ ! 'लौटना भी तो कठिन है, चल चुका युग एक जीवन' तो फिर लंदन के लिए निश्चित तिथि को रवाना हो जाऊँ, शायद रास्ते में अच्छा हो जाऊँ, शायद और ज़्यादा बीमार पड़ जाऊँ—पड़ जाऊँ तो पड़ जाऊँ, जो होना है हो, पर लौटने की उपहासास्पद स्थिति का सामना तो मुझसे न किया जायगा। तेजी ठीक समय पर मुझे हवाई अड्डे पर लिवा ले गईं।

अब एक को विदा होना था।
अब एक को विदा देनी थी।—

'यह विदा का नाम ही होता बुरा है,
डूबने लगती तबीयत।'

और मैंने हफ़्ते भर की बीमारी से कमज़ोर शरीर और डूबती तबीयत से बंबई से लंदन तक का सफ़र किया। रास्ते में एक क्षण को नींद न आई। ज़्यादातर वक्त मैं आँख मूँदे कुर्सी पर लेटा रहा—कभी उसके स्मृति-चित्र बनाता जो पीछे छूट गया था और कभी उसके कल्पना-चित्र बनाता जो आगे आनेवाला था। हमारा जहाज़ १२ अप्रैल को दोपहर में बंबई से रवाना हुआ था और थोड़ी-थोड़ी देर के लिए केअरो और पेरिस में रुकता १३ को सवेरे लंदन पहुँच गया।

मेरी प्रत्याशा के विपरीत लंदन के हवाई अड्डे हीथ रो की इमारत न तो बहुत बड़ी थी, न भव्य। भीड़-भाड़ भी कुछ ऐसी न थी। सच कहूँ तो मुझे लंदन का हवाई अड्डा कुछ सूना-सा लगा। लाउंज में सिर्फ़ हमारे जहाज़ से उतरे यात्री भर थे। इंडिया हाउस ने मुझे सूचित किया था कि शिक्षा-विभाग के एक संपर्क अधिकारी हवाई अड्डे पर मुझे लेने के लिए पहुँचेंगे, पर, वहाँ

पर तो कोई न था। लाउंज में लाउड-स्पीकर पर इतनी सूचना मुझे अवश्य दी गई कि मिस मार्जरी बोल्टन विक्टोरिया टरमिनल पर मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं, जहाँ हमें इंडिया इंटरनेशनल की बस से पहुँचा दिया जायगा। मार्जरी को मैंने अपने लंदन पहुँचने के समय और दिन से सूचित कर दिया था।

कस्टम और मेडिकल अधिकारियों का व्यवहार बहुत शिष्ट और सहानुभूतिपूर्ण था और थोड़ी-सी औपचारिक जाँच-पड़ताल के बाद मुझे बाहर जाने की इजाज़त दे दी गई।

मुझे कुछ पता नहीं कि मेरी बस लंदन के किस हिस्से से होकर जा रही थी, फिर भी बस की खिड़की से बाहर का जो कुछ भी देखा जा सके, उसे देखता मैं चला जा रहा था। साफ़-सुथरे मकानों, शीशेदार खिड़कियों, फ़ुटपाथों पर आते-जाते गौरांग मर्द-औरतों-बच्चों, और सड़क पर दौड़ती मोटरों, बसों की धुंधली-सी तस्वीर आज भी मेरी आँखों के सामने है। स्वच्छता, समृद्धि, व्यवस्था नगर और नगर-निवासियों में स्वाभाविक-सी लगी। कहीं ऐसे दृश्य देखने की याद नहीं जो अशोभन या अप्रिय हों। सहसा हमारी बस एक इमारत के सामने खड़ी हुई और किसीने बताया कि हम विक्टोरिया टरमिनल पर पहुँच गए हैं। बाहर इन्तज़ार करते लोगों में नीले रंग के कपड़ों में एक लड़की बस के लोगों में मुझे पहचानने का प्रयत्न करती जल्दी-जल्दी अपने हाथ हिला रही थी। यह मार्जरी थी।

मार्जरी ने कभी अपना फ़ोटो मुझे भेजा था। मुझे उसे पहचानने में कठिनाई नहीं हुई—औसत क़द की, स्वस्थ बदन की, चेहरा भरा, माथा चौड़ा, आँखें नीली बड़ी-बड़ी, नाक अनुपाततः कुछ छोटी—प्रकृति ने यहाँ कुछ कृपणता न की होती तो मार्जरी की गणना सुंदरियों में होती। फिर भी, उसका व्यक्तित्व मुझे मनोज्ञ और आकर्षक लगा। वह मुझे देखकर प्रसन्न हुई, मैं उसे देखकर आश्वस्त हुआ, कृतज्ञ भी। वह उन दिनों हेक्सम के किसी कालेज में अध्यापिका थी, और ईस्टर की छुट्टियों में स्टोक्स, अपने घर, अपनी माता के पास न जाकर मुझसे मिलने की ग़रज़ से सीधे लंदन चली आई थी, जो वहाँ से काफ़ी दूर था—ट्रेन से पाँच-छह घंटे की यात्रा करके।

केम्ब्रिज जाने के पूर्व मुझे लंदन में तीन दिन रुकना था। मेरे ठहरने का इंतज़ाम इंडिया हाउस ने गिल्फ़र्ड स्ट्रीट पर इंडियन स्टूडेन्ट्स होस्टल में कर

दिया था ! मार्जरी ने भी अपने ठहरने का प्रबंध पास के एक होटल में कर लिया। लंदन बहुत बड़ा शहर है और बहुत कुछ वहाँ देखने को है, फिर भी तीन दिन में उसका जो कुछ भी देखा जा सकता था, मार्जरी ने मुझे दिखा दिया—लंदन युनिवर्सिटी, ब्रिटिश म्यूज़ियम, नेशनल गैलेरी, सेंट जेम्स पैलेस, लंदन म्यूज़ियम, ग्रीन पार्क, बकिंघम पैलेस, सेंट जेम्स पार्क, समरसेट हाउस, टेम्पल (कानून-शिक्षण संस्थान), सेंट पाल्स केथीड्रल, टावर, टावर-ब्रिज, पार्लियामेंट हाउस, वेस्टमिन्स्टर ऐबी वग़ैरह-वग़ैरह। और चौथे रोज़ जब मैं केम्ब्रिज जाने लगा—ट्रेन से, तो वह भी मेरे साथ आई और जहाँ मुझे ठहरना था, वहाँ छोड़कर वापस गई। योरोप के आपा-धापी जीवन में किसे फ़ुर्सत है कि किसी दूसरे के लिए इतना कुछ करे ! मेरे पास शब्द नहीं थे कि मैं मार्जरी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं लंदन ऐसे समय पहुँचा था, जब वहाँ ईस्टर-छुट्टियों के दिन थे, मौसम साफ़ था, और हालीडे-मेकर्स से लंदन के फ़ुटपाथ, सड़कें, ट्रेनें, बसें, पार्क, होटल, रेस्ट्राँ, पब, सब खचाखच भरे थे—जगह-जगह ट्रैफ़िक-जाम, मीलों लंबे। प्रयाग की छोटी, ऊँघती-सी, अर्द्ध-ग्रामीण नगरी से मैं लंदन के यातायात, भीड़-भाड़, चहल-पहल भरे महानगर में पहुँच गया था। आपने किसी देहाती को देखा है जो किसी बड़े शहर में पहली बार आया हो और अपने चारों ओर सब कुछ नये-नये को भौंचक देख रहा हो ? मार्जरी ने मुझे उसी रूप में देखा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, और मुझे ऐसा पाकर शायद उसकी करुणा भी कहीं जागी हो। उसने अपनी आँखों से मुझे आश्वासन दिया, मैं तुम्हारे साथ रहूँगी, लंदन में सब जगह घुमा-फिरा-दिखा दूँगी, तुम्हें फ़िक्र करने या घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। जैसे बच्चे अपनी माओं का सान्निध्य पाकर निश्चित, क्वचिद् विनोद में, भीड़ में घुसते चले जाते हैं, वैसे ही मैंने मार्जरी को अपने पास पाकर अनुभव किया।

मुझे याद है, सबसे पहले स्टूडेन्ट्स होस्टल के लाउंज में बैठकर उसने मुझे पेंस, ट-पेंस, थ्र-पेंस, शिलिंग आदि के सिक्के दिखाए और भारतीय सिक्कों में उनका मूल्य समझाया—स्कूली जीवन में पौंड, शिलिंग, पेंस के जोड़-बाक़ी बहुत किए थे, पहली बार उन्हें देखा। पौंड का सिक्का फिर भी नहीं देखा, उसके तो सिर्फ़ नोट चलते हैं। पेंस को 'बाब' भी कहते हैं, पर उसके बहुवचन

का प्रयोग नहीं होता—वन बाब, टू बाब, टू बाब्स नहीं। उसने मुझे लंदन की ट्यूब ट्रेनों का एक नक़्शा लेकर दिया, अलग-अलग रंगों से दिखाई गई उनकी अलग-अलग लाइनें समझाईं, उनका स्टेशन पहचनवाया, बिजली से चलती सीढ़ियों पर उतरना-चढ़ना सिखाया, और वह बहुत कुछ जिसे जानना लंदन में बिना किसी असुविधा के घूमने-फिरने के लिए ज़रूरी है।

आज भी अनेक ऐसे दृश्य मेरी आँखों के सामने झलक रहे हैं जिनमें मार्जरी मेरा हाथ पकड़कर मुझे सड़क पार करा रही है या सड़क पार करने से रोक रही है या ट्यूब-ट्रेन के डिब्बे में चढ़ा रही है या स्केलेटर से उतार रही है। ऐसे अवसरों पर मैं विनोद में उसे 'ममी' कहता और वह मुझे 'माई ओल्ड चाइल्ड' कहकर मुसकरा देती। आज यह सब लिखते मेरा हृदय एक अजीब-सी वेदना में डूब रहा है कि मैंने कैसी घड़ी में उसे 'ममी' कहा था कि उसके किसी तन-प्रसूत ने उसे कभी 'ममी' न कहा और वह भी किसी को 'माई चाइल्ड' न कह सकी। मार्जरी एकाधिक असफल प्रेम-प्रसंगों से गुज़रकर आज तक अविवाहित है, और अब तो शायद वह विवाह करने का विचार भी छोड़ चुकी है—अपनी तीन मौसियों के समान, जो Spinster ही रह गईं। (एक बार, Spinster के लिए हिंदी शब्द मुझे 'कठ-कुमारी' सूझा था, 'कठ-हुज्जती', 'कठ-मुल्ला' की समता पर, ख़ैर।)

इंडिया हाउस से मुझे जो सहायता मिली, उसे वाजबी-वाजबी ही कह सकते हैं। किसीने मुझे पहले ही आगाह कर दिया था कि वहाँ से अधिक की प्रत्याशा न करनी चाहिए और मैंने की भी नहीं। जिन लोगों से मैं वहाँ मिला था, उनके चेहरे अब मेरी स्मृति में धुँधले पड़ चुके हैं—एक याद है तो मि० नेंस्टर का चेहरा। इंग्लैंड जाने के संबंध में जो पत्र-व्यवहार मुझे इंडिया हाउस से करना पड़ा था, उसका उत्तर उन्होंने बड़ी तत्परता के साथ दिया था। अधेड़ उम्र के होंगे, लंबे, शरीर से कुछ भारी और प्रसन्न मुख। वे असिस्टेंट एडूकेशन आफ़िसर थे और अपने काम और दायित्व को खूब अच्छी तरह जानते और निभाते थे। नवागंतुकों की क्या-क्या मुश्किलें हो सकती हैं, उन्हें मालूम थीं, और वे उन्हें दूर करने को जो कुछ भी कर सकते थे, करते थे, कम से कम उनके प्रति सचेत कर देते थे। लंदन से ही उन्होंने केम्ब्रिज में मेरे लिए रहने का स्थान निश्चित कर दिया था और लैंडलेडी को मेरे पहुँचने की

सूचना दे दी थी, केम्ब्रिज में जिन प्रोफ़ेसरों से मुझे मिलना था, उनके नाम परिचयपत्र दे दिए थे और युनिवर्सिटी के जीवन के विषय में भी कुछ मोटी-मोटी बातें बता दी थीं।

मेरा अनुमान है कि वे स्काच थे या वेल्श। इंग्लैंड में तीन तरह के अंग्रेज़ हैं—ऐंग्लो-सेक्सन, स्काच और वेल्श। विशुद्ध ऐंग्लो-सैक्सन गंभीर, चुप्पा, मुदम्मिग़ और आत्म-पर्याप्त होता है, औपचारिकता का पाबंद, कुछ नफ़ासत भी लिए। स्काच खुली प्रकृति का होता है, अपनी सामान्य बुद्धि का विश्वासी, अपने व्यवहार-बर्ताव में दिखावटी आत्मानुशासन और शिष्टता से दूर, अधिक स्वाभाविक। वेल्श स्काच से बहुत मिलता-जुलता है पर उससे अधिक भावुक होता है—वास्तव में स्काच और वेल्श दोनों केल्ट रेस के हैं—आयरलैंड के निवासी भी इसी रेस के हैं—जो अपनी ख्वाब-ख़याली, कल्पना और भाव-प्रवणता के लिए प्रसिद्ध हैं। नेस्टर के स्वभाव में निश्चय खुलापन, मिलनसारी और सहृदयता थी। वह जब भी केम्ब्रिज आता, मुझसे मिलता, और मैं भी जब लंदन जाता, उससे मिले बग़ैर न लौटता। एक बार अपने घर ले जाकर उसने अपनी पत्नी से भी मुझे मिलाया था।

केम्ब्रिज लंदन से ६० मील उत्तर है, रेल से पहुँचने में डेढ़ घंटे लगते हैं। जैसे कोई गहरे पानी में तैरता—घबराया, छिछले पानी में आकर खड़ा हो जाय, वैसे ही मैंने लंदन से केम्ब्रिज में आकर अनुभव किया। मैं अस्सी लाख आबादी के विराट नगर से अस्सी हज़ार आबादी की लघु नगरी में आ गया था। कम चौड़ी सड़कों, पतली गलियों, कम ऊँचे मकानों, कम यातायात, कम चहल-पहल के केम्ब्रिज में अपने को पाकर मैं मन ही मन आश्वस्त हुआ कि यहाँ प्रयाग जैसी लघु नगरी के अभ्यस्त व्यक्ति के लिए अपनी सहेज-सँभाल करना कठिन नहीं होगा।

दो-डेढ़ मील की लंबाई-चौड़ाई की प्राय: समतल भूमि पर बसे केम्ब्रिज ने प्रथम संपर्क में ही मुझे मोह लिया। यों तो सारा केम्ब्रिज ही स्वच्छ और सुंदर है, पर मंद-मंद बहती बड़ी नहर-सी कैम नदी के किनारे-किनारे सदियों पुराने कालेजों की इमारतों के सिलसिले, उन्हें दूसरे किनारे से जोड़नेवाले विभिन्न आकार-प्रकार के कई पुल—जिनमें से एक सफ़ेद संगमरमर का है, एक काली लकड़ी का—नदी पर तैरती रंग-बिरंगी बत्तखें और शंख-श्वेत

हंसों के जोड़े, लग्गी से खेई जाती छोटी-छोटी नावें जिन्हें 'पंट' कहते हैं, उस पार झुकी शाखाओं से पानी की सतह को सहलाने वाले विलो वृक्षों की क़तारें, उनके पीछे सुनहरे डैफ़ोडिल के खेत और उनकी पृष्ठभूमि में झाड़ियों का हरियाला फैलाव—सब मिलकर एक ऐसा शांत-स्वप्निल चित्र प्रस्तुत करते हैं कि उन्हें देखते आँखें नहीं अघातीं। और अगर केम्ब्रिज का थोड़ा-सा इतिहास ज्ञात हो तो स्मृति-पटल पर उभरती हैं—उन प्रतिभावानों की आकृतियाँ, जो केम्ब्रिज में विचरीं, जिन्होंने केम्ब्रिज से प्रेरणा ली, जो केम्ब्रिज में पनपीं, फूलीं, फलीं और जिनके अवदान से विज्ञान और साहित्य समृद्ध हुए, सभ्यता और संस्कृति ने प्रगति की—आकृतियाँ न्यूटन, बेकन, डार्विन, स्पेंसर, क्रामवेल, मिल्टन की; मार्लो, ग्रे, थैकरे, वर्ड्सवर्थ, बाइरन, टेनिसन की; अपने देश के रामानुजम, अरविंद, इक़बाल, सुभाष बोस, जवाहरलाल की। मैंने पहली ही दृष्टि में केम्ब्रिज को समदिक् और ऊर्ध्व, दोनों आयामों में देखा, और उसके प्रति अपनी प्रथम प्रतिक्रिया बतलाना चाहूँ तो यही कहूँगा कि मैं अभिभूत हो गया—उसकी सौम्य सुंदरता पर मुग्ध, उसकी चमत्कारी देन के प्रति नत मस्तक।

केम्ब्रिज विशुद्ध विश्वविद्यालयी नगर है—उसमें या उसके कुर्ब-जवार में कोई आधुनिक उद्योग-धंधे नहीं खड़े किए गए और इस प्रकार वह फ़ैक्टरियों और चिमनियों के शोर-गुल और धुंध-धुएँ से आज भी बिल्कुल अछूता है। विश्वविद्यालयी नगर आक्सफ़र्ड भी है, पर वहाँ विश्वविद्यालय नगर पर हावी नहीं है, और अब तो उसपर फ़ैक्टरियों-कारख़ानों ने भी धावा बोल दिया है। आक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज की तुलना करते हुए किसी पुराने प्रसिद्ध अंग्रेज़ी निबंधकार ने कहा था कि 'आक्सफ़र्ड एक सिटी है जिसके बीच एक युनिवर्सिटी बनी है, केम्ब्रिज एक युनिवर्सिटी है जिसके बीच एक सिटी बसी है। केम्ब्रिज की अस्सी हज़ार की आबादी में दस हज़ार विद्यार्थी हैं, पाँच हज़ार युनिवर्सिटी से संबद्ध अन्य लोग,—प्रोफ़ेसर से पोर्टर तक, शेष उनकी किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले कार-धंधों से संबद्ध। केम्ब्रिज की सड़कों पर सबसे ज़्यादा चलनेवाली सवारी है—साइकिलें, जिनपर आते-जाते विद्यार्थियों के झुंड के झुंड किसी भी समय देखे जा सकते हैं—उनकी पीठ पर काले गाउन हवा से फूले, उड़ते दीर्घकाय चमगादड़ों के समान। प्रोफ़ेसर, जिनके पास

मोटरें हैं, वे भी एक कालेज से दूसरे कालेज, एक लेक्चर-हाल से दूसरे लेक्चर हाल में जाने के लिए साइकिलों का ही उपयोग करते हैं, केम्ब्रिज के सँकरे रास्तों पर अपनी मोटरें खड़ी कहाँ करें !

मनोरंजन, दिल-बहलाव और खेल-कूद के स्थानों, संस्थानों और संस्थाओं की केम्ब्रिज में कमी नहीं। कई सिनेमा हाउस हैं, एकाधिक नाचघर हैं, नाट्य-शाला शायद एक ही है, खेलने के मैदान हैं, खुले पार्क हैं, तैरने का तालाब है, पंटिंग, बोटिंग करने के लिए कैम नदी है ही,—विचित्र है कि कैम नदी में मैंने किसी को कभी नहाते या तैरते नहीं देखा—सौ से ऊपर क्लब हैं, विभिन्न रुचियों के, विचित्र रुचियों के भी,—एक तो Night Climbers Club (रात को ऊँची इमारतों पर चढ़ने वालों का क्लब) है, जिसके सदस्य रातों को चोरी-छिपे ऊँची इमारतों, गुंबदों और मीनारों पर चढ़ते हैं—इतने ही पब्स होंगे, पीने-पिलाने की जगहें, जिनको हम इलाहाबाद की बोली में 'हौली' कहते हैं, आप सम्मानसूचक नाम देना चाहें तो इन्हें पान-शाला या मधुशाला कह सकते हैं। साल में एक-दो बार लगनेवाले मेले-ठेले हैं, जिन्हें 'कार्निवल' कहते हैं, और 'मे-बाल' हैं विशुद्ध विद्यार्थियों के मधुपान और नृत्य-गान के उत्सव, जो मई के महीने में परीक्षाओं के समाप्त होने पर मनाए जाते हैं। फिर भी, केम्ब्रिज के वातावरण में एक गहन गांभीर्य की अनुभूति हर समय होती है, कुछ लोगों ने उसे उदासी और कइयों ने उसे मनहूसियत तक कहा है। बाइरन ने केम्ब्रिज के बारे में लिखा था,

Where learning robed in sable reigns and melancholy pale
(जहाँ पीतवर्णी उदासी और कृष्ण वस्त्राभूषित विद्वत्ता का शासन है)

और रुपर्ट ब्रुक ने—

In Cambridge people rarely smile
(केम्ब्रिज में कभी ही कोई मुस्कराता है)।

प्रतियोगिता के लिए खेली जानेवाली मैचों और बोट-रेसों के अभ्यास में आप 'कोच' को—खेल के प्रशिक्षकों को—इस प्रकार डाँटते-डपटते सुन सकते हैं, Don't play at it. (खेल मत करो)। हद हो गई, खेलो भी गंभीरता के साथ। पर यह केम्ब्रिज के लिए सच है। वहाँ खेला भी गंभीरता से जाता है, तो अध्ययन-अध्यापन की गंभीरता का अनुमान आप सहज ही कर सकते हैं।

वास्तव में वहाँ की गंभीरता के पीछे हैं—वहाँ के अध्यापक और विद्यार्थी। केम्ब्रिज में हर वर्ष लगभग ३००० नये विद्यार्थी लिए जाते हैं, परन्तु केवल

मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा पास कर लेना ही, किसी उच्च श्रेणी में भी, वहाँ प्रवेश पाने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसके लिए युनिवर्सिटी की एक प्रतियोगिता परीक्षा में भी बैठना पड़ता है। कोई ३०,००० विद्यार्थी बैठते हैं और उनमें से केवल ३००० दाखिले के लिए चुने जाते हैं। स्पष्ट है कि उनमें बहुत ऊँचे दर्जे की योग्यता होती है और वे कुछ विशिष्ट बनने का आदर्श सामने रखकर आते हैं और उन्हें जो अवसर मिलता है, उसका पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। 'फ़ेल' नाम की चीज़ केम्ब्रिज में सहन नहीं की जाती। फ़ेल विद्यार्थी को केम्ब्रिज से निकाल दिया जाता है, जिसे वहाँ की शब्दावली में Sending down (सेंडिंग डाउन) कहते हैं, और किसी विद्यार्थी के लिए इससे बड़े अपमान की बात नहीं सोची जा सकती। जहाँ महत्त्वाकांक्षा का इतना मानसिक तनाव और असफलता का ऐसा घनघोर आतंक हो, वहाँ के वातावरण में गांभीर्य न हो तभी आश्चर्य होगा।

और इस गांभीर्य को मैंने तो अपने स्वभाव के अनुकूल ही पाया। मैंने अपने स्वभाव की गंभीरता की ओर पहले भी संकेत किया है। उसे मैं अच्छा तो नहीं समझता, पर मेरे ऊपर कुछ ऐसे संस्कार पड़े, मेरे जीवन में कुछ ऐसी त्रासदियाँ घटीं, मुझे अपने प्रतिकूल पड़ने वाले बहुत-कुछ से इतनी रगड़-झगड़ करनी पड़ी कि मेरे मन की सहज प्रसन्नता खो गई। केम्ब्रिज में मैं बिना पर्याप्त आर्थिक साधन के उतर पड़ा था, अपने बीवी-बच्चों से बिछुड़ने का ग़म मुझे था ही, पर उसका केवल भावनात्मक पक्ष न था। मैं अपनी कच्ची गिरिस्ती छोड़कर आया था, और मुझे सात समुंदर पार अकेले पड़े अपने सुकुमार परिवार की सुविधा, सकुशलता और सुरक्षा की भी चिन्ता थी। इसका तनाव मैंने अपने प्रवास में निरंतर अनुभव किया।

अभी तो मैं थोड़े में आपको केम्ब्रिज युनिवर्सिटी और उसके कालेजों के इतिहास-विकास और उसके वर्तमान स्वरूप के विषय में बता दूं। कहते हैं, तेरहवीं सदी के प्रारंभ में आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी से कुछ विद्यार्थी, वहाँ से किसी कारण असंतुष्ट होकर, केम्ब्रिज आए और यहाँ उन्होंने 'स्टूडियम जनरेल' के नाम से एक शिक्षा-केन्द्र की स्थापना की, ज़िसे शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में युनिवर्सिटी के रूप में राजकीय मान्यता दी गई। इस बात को आक्सफ़र्ड वाले क्वचिद् अभिमान से कहते हैं कि केम्ब्रिज युनिवर्सिटी तो

हमारी ही सन्तान है। उधर केम्ब्रिज वालों का दावा है कि ईस्ट ऐंग्लिया के राजा ने सातवीं शताब्दी में ही यहाँ एक स्कूल की स्थापना की थी, जिसमें आक्सफ़र्ड के विद्यार्थी आकर भरती हुए और बाद को उसीको 'स्टूडियम जनरेल' का नाम दिया गया, उसीको केम्ब्रिज युनिवर्सिटी का। सच्चाई तो अतीत के धुंध में खो गई है पर अस्तित्व में आ गई है—आक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज की प्रतिद्वन्द्विता जो समय-समय पर अनेक विनोदपूर्ण रूपों में प्रकट होती रहती है।

केम्ब्रिज के कालेज केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के अविभाज्य अंग हैं। आजकल इनकी संख्या बाईस है—इनमें से सात कालेज चौदहवीं सदी में, चार पन्द्रहवीं में, सात सोलहवीं में और चार उन्नीसवीं सदी में स्थापित हुए थे। पहला कालेज पीटर हाउस था, जो सन् १२८४ में स्थापित हुआ था, उन्नीसवीं सदी के कालेजों में गर्टन और न्यूनम, जो क्रमशः १८६७ और १८७१ में स्थापित हुए थे, लड़कियों के लिए हैं। कालेजों की इमारतें ऐतिहासिक, भव्य और दर्शनीय हैं।

युनिवर्सिटी विभिन्न विषयों में लेक्चरों का प्रबन्ध करती है, परीक्षा लेती है, डिग्री देती है, विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की देख-रेख करती है—फ़ेनर्स नामक संस्था द्वारा, खेल-कूद का इंतज़ाम कराती है और स्टूडेन्ट्स यूनियन चलाती है। कालेज विद्यार्थियों के आवास और भोजन की व्यवस्था करते हैं, छोटे-छोटे सेमिनारों द्वारा उनके शिक्षण पर वैयक्तिक ध्यान देते हैं और उच्च कोटि के विद्यार्थियों और स्नातकों को अच्छी छात्रवृत्तियाँ देकर युनिवर्सिटी-शिक्षा पाने अथवा विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ बनने में सहायता पहुँचाते हैं। कालेज का प्रमुख 'मास्टर' अथवा 'प्रोवोस्ट' कहलाता है, 'फ़ेलो' उन स्नातकों को कहते हैं जो कालेज की छात्रवृत्ति पर विशेषज्ञता के लिए स्वाध्याय करते हैं, एक निश्चित अवधि समाप्त होने पर उन्हें एक थीसिस भी प्रस्तुत करनी होती है जिसे डाक्टरेट की थीसिस से भी अधिक महत्त्व दिया जाता है। इन्हीं में से कालेज के सेमिनार-टीचर नियुक्त होते हैं। 'स्कालर' उन विद्यार्थियों को कहते हैं जो कालेज की छात्रवृत्ति पर 'ट्राइपास' की परीक्षा की तैयारी करते हैं—'ट्राइपास' तीन बरस का कोर्स—जैसे अपने यहाँ का बी०ए०, पर स्तर की दृष्टि से उससे कहीं ऊँचा। 'पेन्शनर' वे विद्यार्थी हैं जो अपने आवास-भोजन-शिक्षण सबके लिए कालेज को फ़ीस देते हैं। कालेज में विद्यार्थियों के

रहने के लिए कमरे होते हैं, एक बड़ा भोजन-भवन होता है जहाँ सब विद्यार्थी-अध्यापक साथ बैठकर खाना खाते हैं, सेमिनार क्लासों के लिए अलग-अलग कक्ष होते हैं, एक अच्छी लाइब्रेरी होती है, विद्यार्थियों और अध्यापकों के उठने-बैठने अथवा संगोष्ठियों के लिए अलग-अलग बड़े कमरे होते हैं जिन्हें काम्बिनेशन रूम और स्टाफ़ रूम कहते हैं और प्रत्येक कालेज में एक गिरजाघर होता है। हमें न भूलना चाहिए कि इन कालेजों की स्थापना शुरू-शुरू में धार्मिक संस्थानों के रूप में हुई थी और कालक्रम में बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्त होने के बावजूद, वह परम्परा अब तक चली आती है। कालेजों की इमारतें इस तरह बनी हैं कि उनमें आने-जाने का एक ही फाटक होता है और उससे मिला पोर्टर का कमरा होता है। पोर्टर कालेज सम्बन्धी सारी सूचनाओं का भंडार होता है और कालेज में किसीसे मिलने के लिए उससे सम्पर्क करना आवश्यक होता है। रात में एक निश्चित समय पर कालेज का फाटक बंद कर दिया जाता है और विद्यार्थियों से प्रत्याशा की जाती है कि उसके पूर्व वे अंदर आ जाएँ और फिर बाहर न निकलें। इसके बाद भी कुछ शरारती और दुःसाहसी खिड़कियों से अन्दर आने या बाहर निकलने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी सफल भी हो जाते हैं।

युनिवर्सिटी के विभिन्न विभागों के प्रोफ़ेसरों, रीडरों, लेक्चररों की नियुक्ति मुख्यतः कालेजों के फ़ेलोशिप-प्राप्त लोगों में से की जाती है, युनिवर्सिटी का वाइस-चांसलर कालेजों के मास्टरों और प्रोवोस्टों में से चुना जाता है। प्राक्टर, जिस पर विद्यार्थियों को अनुशासन में रखने का दायित्व होता है, युनिवर्सिटी की ओर से नियुक्त होता है, पर उसका अधिकारक्षेत्र कालेजों के बाहर होता है, भीतर नहीं। कालेज के अन्दर उसका मास्टर या प्रोवोस्ट वहाँ का सर्वेसर्वा होता है।

युनिवर्सिटी के लेक्चर हाल, परीक्षा भवन, सेनेट हाल, प्रमुख पुस्तकालय, यूनियन हाल, रेजिस्ट्री, विभिन्न फ़ैकल्टियों के दफ़्तर, युनिवर्सिटी-प्रबंध संबंधी अन्य कार्यालय कालेजों से अलग हैं। केम्ब्रिज का विद्यार्थी युनिवर्सिटी और कालेज दोनों के संपर्क-सान्निध्य से अपने को शिक्षित-दीक्षित करता है। वस्तुतः शिक्षित करने का काम युनिवर्सिटी करती है, दीक्षित करने का काम कालेज करते हैं, अगर आप शिक्षित और दीक्षित दोनों में जो सूक्ष्म अंतर है, उसे ठीक

से समझ सकें। केम्ब्रिज के युनिवर्सिटी और कालेज अपनी-अपनी सत्ता-इयत्ता और कार्यक्षेत्र के प्रति अलग-अलग सचेत रहते हुए जिस सहयोग, सद्भावना, समझदारी और सुचारुता से केम्ब्रिज के अकादमिक जीवन को परिचालित करते हैं, उसका कोई जोड़ नहीं। आश्चर्य होता है देखकर कि इतनी बड़ी युनिवर्सिटी में शिकायत, असंतोष अथवा आक्रोश का स्वर शायद ही कभी उठता हो, पक्षपात या अन्याय का आरोप शायद ही कभी लगाया जाता हो। यह कितनी बड़ी बात है कि हर एक को, क्या अध्यापक, क्या विद्यार्थी, क्या अन्य कर्मचारी, सबको यह विश्वास है कि युनिवर्सिटी और कालेज जो कुछ भी करेंगे, वह नियमतः होगा, न्यायपूर्ण होगा।

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के बारे में दो-एक मनोरंजक बातें आपको और बता दूं, जो मुझे याद आ गई हैं। केम्ब्रिज-युनिवर्सिटी में हाज़िरी नहीं ली जाती। हाज़िरी वहाँ मानी जाती है केम्ब्रिज में सोने की। आप दिन भर कहीं घूमिए, रात को आकर आप केम्ब्रिज में सो जाइए, आप केम्ब्रिज में हाज़िर माने जायेंगे। कालेज में सोने का गवाह पोर्टर होता है, 'डिग' में सोने की, लैंड-लेडी। कालेजों में रहने की जगहें युनिवर्सिटी के सभी विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त नहीं हैं, बहुतों को, जिनमें अधिकतर तीसरे वर्ष के विद्यार्थी अथवा वयस्क शोध-छात्र होते हैं, अलग मकानों में रहना पड़ता है जिन्हें 'डिग' कहते हैं। कुछ डिगें ऐसी हैं जिनमें केवल विद्यार्थी रहते हैं, इनमें रात के लौटने आदि के नियम कालेज के-से ही पाले जाते हैं, कुछ में सामान्य नागरिक भी ठहर सकते हैं। गाउन हमारे यहाँ केवल कान्वोकेशन के दिन पहना जाता है, केम्ब्रिज में अध्यापक-विद्यार्थी प्रतिदिन कक्षाओं में, भोजन के समय, गिरजाघर में गाउन पहने रहते हैं, विद्यार्थियों को रात में कालेजों के बाहर जाने पर भी गाउन पहनना ज़रूरी होता है। न पहनने पर जुर्माना होता है। केम्ब्रिज के कालेजों में बड़े सुंदर 'लान' हैं, जिनपर चलने का अधिकार केवल 'डान्स'— यानी अध्यापकों को है, विद्यार्थी चलें तो उनपर जुर्माना होता है। अनुशासन-विरुद्ध विद्यार्थियों की कई कार्रवाइयों के लिए जुर्माने तै हैं, पुराने ज़माने में तो उनपर कोड़े पड़ते थे, और कभी-कभी उन्हें कुठ-वेड़ी में भी खड़ा होना पड़ता था। किसी विद्यार्थी को किसी अपराध के लिए अगर पुलिस भी पकड़े तो उसे केवल युनिवर्सिटी-प्राक्टर के हवाले कर सकती है, खुद सज़ा नहीं दे

सकती, जब तक कि युनिवर्सिटी उसे निष्कासित ही न कर दे।

केम्ब्रिज में मैं जीजस लेन की एक डिग में ठहरा, जो कालेजों से बहुत दूर न थी। मेरे कमरे की खिड़की से ट्रिनिटी कालेज का ह्यू ल कोर्ट दिखाई पड़ता था जहाँ पण्डित नेहरू अपने विद्यार्थी-जीवन में रहा करते थे। लैंडलेडी मिसेज़ मलेटका थी जिसने दूसरे विश्वयुद्ध के समय एक पोलिश शरणार्थी से शादी कर ली थी—मि० मलेटका अगर तीस के होंगे तो मिसेज़ मलेटका साठ की। केम्ब्रिज की लैंडलेडियाँ 'गोल्ड डिगर' कहलाती हैं क्योंकि वे कम से कम सुविधा और घटिया भोजन देकर अधिक से अधिक पैसे विद्यार्थियों से वसूलना चाहती हैं। सुनते हैं, कभी केम्ब्रिज में बहुत से यहूदी आकर बसे थे जो अपनी धन-लिप्सा के लिए संसार-भर में कुख्यात हैं। ये लैंडलेडियाँ उन्हींकी संतानें होंगी, मलेटका तो निश्चय थी। केम्ब्रिज के कालेजों में रिहायशी जगहों की तंगी हमेशा से रही होगी और बहुत से विद्यार्थियों को डिगों में रहना पड़ता होगा। कहते हैं, १६वीं सदी में राजा हेनरी अष्टम को केम्ब्रिज की लैंडलेडियों के विरुद्ध एक फ़रमान भेजना पड़ा था कि वे विद्यार्थियों को परेशान न करें। मलेटका मेरे केम्ब्रिज-प्रवास में ही मर गई थी, अपनी सारी सम्पत्ति अपनी बेटी के नाम कर गई थी और मि० मलेटका के लिए झंझी कौड़ी भी न छोड़ी थी। मलेटका एक दिन सड़क पर घूमता मिला तो बोला, Wife has ruined me (बीबी ने मुझे बर्बाद कर दिया!) शायद अंग्रेज़ी क़ानून में पति की संपत्ति की उत्तराधिकारी तो पत्नी होती है, पर पत्नी की संपत्ति का उत्तराधिकारी पति नहीं हो सकता। मलेटका की डिग में मैं चार महीने रहा, वहाँ केवल विद्यार्थी ही नहीं रहते थे, इंग्लैंड और योरोप के और लोग भी वहाँ आकर कई-कई हफ़्ते ठहरते थे, और इस प्रकार वहाँ रहते हुए इंग्लैंड, जर्मनी और फ़्रांस के कई लड़के, लड़कियों से मेरा परिचय हुआ, मैत्री बढ़ी।

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में मेरे प्रवेश पाने के अर्थ थे कि मुझे visiting fellowship (अतिथि सह-अध्यापक की श्रेणी) मिली थी, जिसके अंतर्गत मैं युनिवर्सिटी लाइब्रेरी का उपयोग कर सकता था, लेक्चर क्लास में बैठ सकता था, अध्यापकों से समय लेकर मिल सकता था, युनिवर्सिटी के उत्सवों में भाग ले सकता था, अपनी रुचि के क्लब अथवा क्लबों का सदस्य बन सकता था और दर्शक अथवा श्रोता के रूप में उन सारी जगहों पर जा सकता था जो

युनिवर्सिटी विद्यार्थियों के लिए खुली थीं। और मुझे क्या चाहिए था ! फ़ीस, इस सबके लिए प्रति टर्म कुछ देनी थी। ब्रिटिश कौंसिल की ओर से जाता तो मुझे साहित्य-अध्यापन की विधि का विशेष अध्ययन करना होता, पर अब तो ईट्स संबंधी शोध-सामग्री पर ध्यान देना मेरी प्राथमिकता थी। फिर भी, भारत लौटकर तो मुझे अंग्रेज़ी ही पढ़ानी थी, इसलिए अगर समय मिले तो अंग्रेज़ी अध्यापन-विधि का भी मुझे ज्ञान करना था। साथ ही, कवि होने के नाते आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के प्रति भी मेरे मन में जिज्ञासा थी, विशेषकर उसके नये प्रयोगों के प्रति, जिनकी अनुगूंज अपने देश में भी सुन पड़ने लगी थी। मैंने इन्हीं तीन दिशाओं में अपनी शक्ति और समय लगाने का निश्चय किया।

अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष और पेम्ब्रोक कालेज के फ़ेलो प्रोफ़ेसर बेज़िल विली ने मुझे सलाह दी कि अपने शोध-संबंधी कार्य के लिए मैं सेंट कैथरीन्स कालेज के सीनियर ट्यूटर मि० टी० आर० हेन से विशेष संपर्क रखूं क्योंकि केम्ब्रिज में वे ईट्स-साहित्य के विशेषज्ञ माने जाते थे और हाल ही में ईट्स पर उन्होंने एक बड़ी प्रामाणिक पुस्तक प्रकाशित की थी—The Lonely Tower (दि लोनली टावर)। यदा-कदा मैं क्राइस्ट कालेज के फ़ेलो मि० ग्राहम हफ़ से भी सलाह-मशविरा कर सकता हूँ। उन्होंने ईट्स पर कोई खास काम तो न किया था पर अपने किसी आलोचना-ग्रंथ में ईट्स पर एक बड़ा निबंध लिखा था जिसमें उन्होंने उनके काव्य पर कुछ मौलिक प्रकाश डाला था। ऐसे ही, आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष प्रो० सी० एम० बावरा भी अपने केवल एक निबंध के कारण ईट्स-साहित्य के मर्मज्ञ माने जाते थे। अंग्रेज़ी अध्यापन-विधि का अध्ययन करने के लिए प्रो० विली ने राय दी कि मैं उनके, डा० टिलयार्ड, विभाग के रीडर और किंग्स कालेज के फ़ेलो मि० एफ़० एल० लूकस, मि० हेन, मि० हफ़, मि० रेडपाथ, मि० रीलैंड तथा कुछ अन्य लेक्चरर्स के क्लास में जाकर बैठूं—नाम अब सबके मुझे याद नहीं है, उनमें दो लेडी लेक्चरर्स भी थीं। आधुनिक और नई कविता की विशेष जानकारी के लिए मैं डाउनिंग कालेज के फ़ेलो डा० एफ़० आर० लीविस से मिलूं, वे केम्ब्रिज में क्या, इंग्लैंड भर में नई कविता के सबसे बड़े पैरोकार माने जाते थे और नई कविता पर Scrutiny (स्क्रूटिनी) नाम की एक पत्रिका का संपादन भी करते थे। उनके नाम और उनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक New

Bearings in English Poetry (न्यू बेयरिंग्स इन इंगलिश पोयट्री) से मैं भारत में ही परिचित हो चुका था।

तो पहले मैं आपको आधुनिक अंग्रेज़ी कविता से अपने रब्त-ज़ब्त और केम्ब्रिज में अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ाने के तरीक़े से अपनी जानकारी के बारे में कुछ बता दूं, क्योंकि मेरे ये शग़ल ज़्यादा दिन नहीं चल सके।

डा० लीविस से मिलने पर मैंने उनमें आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के प्रति वह उत्साह नहीं देखा, जिसकी मैंने प्रत्याशा की थी। वस्तुतः, पिछले पच्चीस वर्षों में कविता के नाम से जो कुछ भी लिखा गया था, उससे उन्हें बड़ी निराशा थी। टी० एस० इलियट की प्रतिभा के वे अब भी क़ायल थे, पर उनके व्यक्तित्व और कवित्व की कुछ सीमाएँ भी अब वे देखने लगे थे। बुद्धिजीवीवर्ग ने तो उनको समुचित आदर-मान दिया था पर सामान्य अंग्रेज़ जनता—और वह पढ़ी-लिखी और प्रबुद्ध जनता है—उनको अपने निकट न पा सकी। कारण कई थे। एक तो वे अमरीका-मूलक थे, और देसी-विदेशी का अंतर अंग्रेज़ के मन में कहीं बहुत गहरे काम करता रहता है। फिर, उन्होंने कुछ ऐसे मूल्यों के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की थी जिनके प्रति अंग्रेज़ों की आस्था सदियों पहले डिग चुकी थी, जैसे रोमन कैथलिक चर्च और ईसाई नैतिकता, जिसको खासा धक्का दो विश्वयुद्धों के समय लगा था। अंग्रेज़ी राज्य-तंत्र की उनकी वकालत प्रगतिशील वर्ग को न भायी थी। इलियट का कवि Scholar poet (विद्वान-कवि) था, कविता उनके लिए highest intellectual activity—उच्चतम-बौद्धिक प्रक्रिया—थी और कविता की श्रेष्ठता उनके अनुसार कुछ काव्येतर मान्यताओं और कुछ तकनीकी बारीकियों पर निर्भर थी। मगर अंग्रेज़ मानस में ऐसे जन्मजात कवि की तस्वीर अटकी थी जो युगीन और शाश्वत भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं, आशंकाओं को वाणी देकर सामन्य जनता के साथ सहज संवाद स्थापित कर सके। ऐसे कवि के लिए एक ललक मैंने लीविस की आँखों में भी पाई थी, गो उनकी दृढ़ धारणा थी कि इलियट के बाद अंग्रेज़ी कविता वही नहीं रह सकेगी, जो उनके पहले थी।

मार्जरी को जब यह पता लगा कि मैं आधुनिक अंग्रेज़ी कविता में रुचि रखता हूँ तो उसने अपने निजी पुस्तकालय से इलियट के बाद उभरने वाले

प्रमुख कवियों के कोई पचास कविता-संग्रह मेरे लिए भेज दिए, कुछ आधुनिक काव्य-समालोचना की पुस्तकें भी। उनमें स्पेंडर और आडेन की कृतियों से मैं भारत में भी परिचित हो चुका था नया परिचय एडिथ सिटवेल, मैक्नीस आदि कवियों से हुआ। स्पेंडर जिस तेज़ी से साम्यवाद-पोषित प्रगतिशीलता की ओर झुके थे, उसी तेज़ी से उससे निराश हो सौंदर्यवादी हो गए, आडेन में यथार्थ की चेतना और उसके प्रति कटुताहीन व्यंग्य की भावना स्पष्ट थी, पर आडेन अध्यापन का कार्य करने के लिए अमरीका चले गए और उनका कवि धीरे-धीरे दबने लगा। सभी आधुनिक कवियों पर कमोवेश इलियट का प्रभाव देखा जा सकता था। काव्य के पुराने उपकरणों के प्रति सभीका विद्रोह था, पर नई भाषा, नये मुहावरे, नये प्रतीकों को वांछित गरिमा कम ही लोग दे पाए थे। अत्याधुनिक कवि अपनी अद्भुत अनुभूतियों—जो प्राय: अपने अवचेतन के प्रति अधिक सचेत होने से जागी थीं—और एकदम वैयक्तिक अभिव्यक्तियों के कारण किसी वर्ग के पाठक के साथ अपना संवाद न स्थापित कर पाते थे। विचित्र है कि जिन दो कवियों को सामान्य अंग्रेज़ जनता अपने निकट पाती थी, वे थे—रुपर्ट ब्रुक और डिलन टामस। रुपर्ट ब्रुक के काव्य के ताने-बाने में राष्ट्रीयता का एक प्रबल सूत्र है। महायुद्ध के समय ऐसी कविता के लोकप्रिय होने का कारण सहज ही समझा जा सकता है, पर युद्ध के समय जनता ऐसी तटस्थ मनस्थिति में नहीं होती कि काव्य के गुणों का सही मूल्यांकन कर सके। संभव है, युद्ध के दूर पड़ जाने पर उनके प्रति जन-रुचि बदल गई हो, पर डिलन टामस की जन-मान्यता के कारणों पर कुछ विचार करना होगा। उन्होंने भी बहुत कुछ नये को अपनाया था, पर पुराने में जो स्वस्थ था, उसका बहिष्कार न किया था। उनकी अनुभूतियों में वैयक्तिकता है, पर वे उसे जिस गहराई तक ले जाते हैं, वहाँ दूसरे भी अपना कुछ पाते हैं। अपनी अभिव्यक्ति में वे कला अथवा तकनीक का बड़ा संयत उपयोग करते हैं—बस उतना ही, जितना पाठक के लिए भारी न पड़े। वें अपनी कविता में विद्वत्ता से अधिक मानवता को प्रक्षिप्त करते हैं। एक चौथी बात, विज्ञान की अधुनातनता, अद्यतनता से कविता होड़ नहीं ले सकती, न उसे लेना चाहिए, उसकी गरिमा समय से कुछ पीछे रहने में है या फिर समय से बहुत आगे रहने में। डिलन टामस इस रहस्य को जानते हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि अंग्रेज

जन-मानस जिस प्रकार के कवि की कल्पना अपने अन्दर बसाए है, उसे डिलन टामस का ही कोई विकसित रूप साकार कर सकता है।

उस समय आधुनिक अंग्रेजी कविता के संबंध में मैं कुछ ऐसे ही परिणामों पर पहुँचा था। लीविस से तो मैं दुबारा मिला भी नहीं, पर केम्ब्रिज के और भी विद्वानों और विचारकों से जब कभी मेरी बातचीत हुई, मैंने उन्हें वर्तमान कविता से असंतुष्ट और कविता के भविष्य के बारे में निराश पाया।

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी एकमात्र 'ट्राइपास' परीक्षा के लिए विद्यार्थियों को तैयार करती है, पास करने पर विद्यार्थी अपने नाम के आगे बी० ए० लगा सकता है। एम०ए० नाम का कोई पाठ्यक्रम या परीक्षा नहीं है। ट्राइपास पास करने पर एक निश्चित अवधि के बाद कुछ फ़ीस देकर आदमी एम० ए० की डिग्री, अगर चाहे तो, ले सकता है। कहने का मतलब है; 'ट्राइपास' कोर्स के अंतर्गत जो उच्चतम शिक्षा किसी विषय की आवश्यक है, वह युनिवर्सिटी दे देती है। ट्राइपास के अंग्रेज़ी साहित्य के पाठ्यक्रम के संबंध में मेरी जिज्ञासा थी। प्रत्याशा मेरी यह थी कि अंग्रेज़ी जहाँ की भाषा है, वहाँ तो साहित्य की नवीनतम उपलब्धियाँ—या उनमें जो उच्च कोटि का होगा, वह कोर्स में होगा ही। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि साहित्य के कोर्स में कोई ऐसी पुस्तक न थी जो ४०-५० वर्ष पहले प्रकाशित न हुई हो। अंतिम कवि जो कोर्स में था, वह था—मेथ्यू आरनल्ड, जिसकी मृत्यु १९वीं सदी के अंत में हुई थी। ईट्स, इलियट, गल्ज़वर्दी, शा को हम अपनी युनिवर्सिटियों में कोर्स में लगाए हैं, वहाँ इनमें से कोई कोर्स में न था। जो 'नवीनतम' उपन्यास कोर्स में लगा था, वह था—डी०एच० लारेंस का Sons and Lovers (संज़ ऐंड लवर्स) जो १९१३ में प्रकाशित हुआ था। चर्चा हम १९५४ के कोर्स की कर रहे हैं। और, अपने यहाँ के हिंदी पाठ्यक्रमों की यह स्थिति है कि कवि जी तो साइकिल पर सड़क पर चले जा रहे हैं, और क्लास में उनकी कविता पढ़ाई जा रही है। मैं शायद एक व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत करने के मोह में कुछ अतिशयोक्ति कर गया, पर मैं युनिवर्सिटी में लगे एक ऐसे संकलन के विषय में जानता हूँ, जिसमें जिन कवि जी की कविताएँ सम्मिलित थीं, वही 'प्रोफ़ेसर' के रूप में उन कविताओं को पढ़ाते भी थे।

ऐसा नहीं है कि केम्ब्रिज में युगीन अथवा नवीन साहित्य को उपेक्षा की

दृष्टि से देखा जाता है। उसे पुस्तकालयों में सँजोया जाता है, लोग उसे पढ़ते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना होती है, उस पर लेख अथवा पुस्तकें लिखी जाती हैं, पर कोई साहित्य पाठ्य-क्रमों में स्थान तभी पाता है, जब वह अंग्रेज़ी समाज अथवा जीवन में कोई स्थान बना लेता है। वहाँ साहित्य एक स्वस्थ वृक्ष के समान जब जीवन में, समाज में अपनी जड़ें गहरे जमा लेता है, तब अपनी शाखाएँ, अपने फूल-फल युनिवर्सिटी की छतों तक पहुँचाता है। यहाँ हम युनिवर्सिटी की छतों पर उसकी जड़ों को जमाने का प्रयत्न कर उसकी शाखाओं को, फल-फूल को समाज की धरती तक उतारने का प्रयत्न करते हैं। लगता है, 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्' का पाठ हमने बहुत ध्यान से पढ़ा है। हम ज़रा सोचें कि हम कितने सफल हुए हैं! अंग्रेज़ी समालोचना बहुत पैनी है, वह किसी रचना के गुण-दोष को बड़ी जल्दी ताड़ लेती है, फिर भी वह समय को सबसे बड़ा समालोचक मानती है। साहित्य का सबसे बड़ा गुण है, जीवंतता। उसे जीना चाहिए, अपने बल पर जीना चाहिए। जो समय में नहीं ठहरता, वह दुर्बल था, निष्प्राण था। उसे स्वाभाविक गति से मरने देना चाहिए, हम कहाँ तक मुर्दे ढोएँगे, ढुलाएँगे। अंग्रेज़ी साहित्य से परिचित जानते हैं कि बहुत से लेखक, कवि किसी समय बहुत बड़े लगे थे, बहुत पढ़े गए थे—मुझे जान मूर, मैरी कोरेली याद आ गए हैं—समय में नहीं ठहरे, युनिवर्सिटियों में कभी कोर्स में नहीं लगे। केम्ब्रिज के एक वयोवृद्ध प्रोफ़ेसर ने मुझसे कहा था कि प्रौढ़ समालोचना का काम ही यह है कि वह साहित्य की जीवंतता—उसके समय में ठहरने के कारणों का विश्लेषण करे। इसीसे साहित्य और समाज को जोड़नेवाली बहुत-सी सूक्ष्म गाँठें खुलती हैं। बहरहाल, आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले केम्ब्रिज में बीसवीं सदी का साहित्य पाठ्यक्रमेतर (Extra Mural) व्याख्यानों का विषय तो था, पर पाठ्यक्रम में नहीं। यह (Extra Mural) शब्द ही बड़ा व्यंजक है। इसके अर्थ हैं बाहरी दीवार—यानी जो बाहरी दीवार पर हो, लेकिन जिसे कमरे में प्रवेश न मिला हो।

कक्षाओं में जो व्याख्यान होते थे, वे प्रायः लिखित होते थे—वक्ता और श्रोता दोनों के लिए इसके जो लाभ हैं, उनकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। हम तो अपने यहाँ लेक्चर झाड़ते हैं। व्याख्यान के बीच कोई प्रश्न नहीं

उठाए जाते थे, विद्यार्थी प्राय: नोट लेते थे। सप्ताह में एक बार Discussion Class (प्रश्नोत्तर कक्षा) होते थे और विद्यार्थियों के प्रश्नों का उत्तर दिया जाता था। ठीक तरह का प्रश्न उठाने के लिए भी कम योग्यता नहीं चाहिए।

व्याख्यान-कक्षाओं की पूरक होती थीं सेमिनार-कक्षाएँ, जो युनिवर्सिटी की ओर से नहीं, कालेजों की ओर से आयोजित होती थीं—अब तक कालेज और युनिवर्सिटी का अंतर तो आपको स्पष्ट हो गया होगा। मैं कुछ सेमिनारों में भी जाकर बैठा। लेक्चर क्लास में तो तीन-चार सौ विद्यार्थी भी बैठ सकते थे, सेमिनारों में तीन-चार। यहाँ विद्यार्थी अध्यापक के अधिक निकट संपर्क में आता था, वह अपनी व्यक्तिगत शंकाएँ अध्यापक के सामने रख सकता था और उनका समाधान पाता था। विद्यार्थी लिखित रूप में भी अपना बहुत-सा काम अध्यापक को दिखाते थे, और वह उसका यथोचित संशोधन करता था। पर सेमिनार में अध्यापक जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम करता था, वह था, विद्यार्थियों के पाठ्यक्रमेतर स्वाध्याय को निर्देशित करना—उनकी योग्यता, रुचि, आवश्यकता को जाँच-परख कर। बिना इसके विद्यार्थी पुस्तकों के अरण्य में खो सकता था, जैसे मैं स्वयं अपने विद्यार्थी-जीवन में खो गया था। युनिवर्सिटी का बड़ा पुस्तकालय है ही, पर नगर के, कालेजों के—कभी तो एक में एक से अधिक—अध्यापकों के निजी, इतने पुस्तकालय हैं कि ऐसा मैंने कभी नहीं देखा कि कोई विद्यार्थी कोई पुस्तक पढ़ना चाहता हो और वह उसे प्राप्य न हो। केम्ब्रिज में पुस्तकों की दूकानें भी इसको बुरा नहीं मानतीं, उल्टे इसको प्रोत्साहन देती हैं कि अगर कोई विद्यार्थी कोई किताब खरीदने में असमर्थ हो तो वहीं खड़े-खड़े पढ़े, नोट ले, चाहे घंटों—हाँ, किताबों को मैली न करे।

जब मैं केम्ब्रिज गया, युनिवर्सिटी-स्तर पर अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ने-पढ़ाने का मेरा अनुभव २५ वर्ष का था। पर साहित्य की जो गहरी समझ, उसके प्रति जो व्यापक दृष्टिकोण मैंने वहाँ के अध्यापकों के व्याख्यानों में पाया, वह एक नई चीज़ थी। हम बहुत प्रयत्न करके भी उसका आयात अपने देश में नहीं कर सकते, क्योंकि अंग्रेज़ी जिस प्रकार अंग्रेज़ी-जीवन से जुड़ी है, उस प्रकार हमारे जीवन से न जुड़ी है, न जुड़ सकती है। हाँ, अपनी भाषा, अपना साहित्य पढ़ाने में हम उससे प्रेरणा ले सकते हैं, उससे लाभान्वित हो सकते हैं। वहाँ साहित्य, चाहे वह कितनी ही बड़ी प्रतिभा की देन क्यों न हो, समाज की उपज माना

जवाहरलाल नेहरू द्वारा की गई 'डूडलिंग' की प्रतिलिपि





लेखक केम्ब्रिज में—१९५२



लेखक अपने कमरे की मेज़ के सामने,
पीछे खड़े होकर काम करने की मेज़
केम्ब्रिज—१९५३





लेखक बाधम कालेज, आक्सफर्ड के प्रांगण में—१९५२



लेखक मि० ग्राहम हफ़ के साथ, केम्ब्रिज — १९५४



लेखक मि० हेन के साथ—पी-एच० डी० डिग्री मिलने पर

जाता है, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आर्थिक परिस्थितियों की उपज, क्योंकि प्रतिभा अपनी विशिष्टता के प्रति सचेत होकर भी इनसे अप्रभावित नहीं रह सकती। इसलिए, साहित्य-शिक्षण में उसकी उस पृष्ठभूमि को समझने-समझाने पर पर्याप्त बल दिया जाता है। फिर साहित्य समाज की अकेली अभिव्यक्ति नहीं। किसी भी युग के स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत में जो सूक्ष्म एकसूत्रता होती है, उसे भी देखने-दिखाने का प्रयत्न किया जाता है, साथ ही कलाओं में साहित्य के उस अतिरिक्त गुण को भी, जिसे उसकी वर्धमानता कह सकते हैं। यानी जीवंत साहित्यिक कृतियों में समय का एक आयाम जुड़ता चलता है, जिससे उनका महत्त्व और अर्थ बदलता रहता है। अध्यापकों में अगर कल्पनाप्रवणता और अंतर्भेदी दृष्टि हो—और केम्ब्रिज में यह मैंने बहुतों में देखी—तो वह पुराने और घिसे-पिटे पाठ्यक्रम को भी बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं। मुझे एक वयोवृद्ध अध्यापक का 'रोमियो-जूलियट' पर दिया गया व्याख्यान याद आता है, जिसमें उसने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि जैसे शेक्सपियर को उस भावनात्मक समस्या का पूर्वाभास था, जो विश्वयुद्ध के पश्चात योरोपीय समाज में उठेगी। पुराना साहित्य इसीलिए नहीं पढ़ाया जाता कि उसका ऐतिहासिक महत्त्व है, बल्कि इसलिए भी कि किसी अंश में वह आधुनिक परिस्थितियों-परिवेश से जुड़ा है और युगीन और नवीन को बड़े या महान की संज्ञा तभी दी जाती है, जब वह किसी रूप में अपनी गौरवमयी परंपरा से संबद्ध हो।

अंग्रेज़ी साहित्य की धारा को प्रायः एक और बड़े प्रवाह के अंग के रूप में देखा जाता है—जिसे योरोपीय कह सकते हैं। योरोप अपनी अनेकरूपी विविधताओं के बावजूद एक इकाई है—ऐसी इकाई संसार में किसी भी महाद्वीप को नहीं मिली, न एशिया को, न अमरीका को, न अफ्रीका को, आस्ट्रेलिया को शायद कभी सुदूर भविष्य में मिल जाए। यूनानियों की मानव-वादिता, रोमनों की विधि-व्यवस्था, ईसाइयत का धर्म, विज्ञान का उत्कर्ष, और मशीनी उद्योगों का विकास और विस्तार—इन सबों ने पूरे योरोप को प्रभावित किया है और एक खास नमूने में ढाला है। योरोपीय सभ्यता, संस्कृति के समान योरोपीय साहित्य भी एक अलग इकाई है। अंग्रेज़ी साहित्य को, कहना चाहिए किसी भी योरोपीय भाषा के साहित्य को, तभी सम्यक रूप से

समझा जा सकता है, जब उसे योरोपीय साहित्य के बीच में रखकर देखा-परखा जाए। मुझे यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि केम्ब्रिज में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक बिना किसी अपवाद के. दो-तीन अन्य योरोपीय भाषाओं और साहित्यों के ज्ञाता थे।

मैं फिर कहना चाहूँगा कि भारत के अंग्रेज़ी अध्यापकों को इंग्लैंड भेजकर अगर यह दिखाना है कि वहाँ अंग्रेज़ी कैसे पढ़ाई जाती है और यह सिखाना है कि वे लौटकर उसी तरह से भारत में अंग्रेज़ी पढ़ाएँ तो ब्रिटिश कौंसिल बड़े भ्रम में है। वह अपने उद्देश्य में कभी सफल न होगी। जो सीखा जा सकता है, वह यह है कि हम अपने देश में, अपना साहित्य किस तरह पढ़ाएँ। मुझे हिंदी पढ़ानी होती तो उसके तरीके में कुछ सुधार कर सकता था। पर मुझे हिंदी पढ़ानी नहीं, और हिंदी पढ़ानेवाले अंग्रेज़ी पढ़ानेवाले से नये सुझावों का सबक़ क्यों सीखने लगे! चलिए, बात खत्म हुई।

अपने शोध-कार्य के संबंध में मैं मि० हेन से मिला। वे युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर थे और सेंट कैथरीन्स कालेज के फ़ेलो और सीनियर ट्यूटर। हेन ऊँचे क़द, भरे शरीर, भारी सिर, छोटी-नीली, पर दूर-भेदी आँखों और घनी-भूरी मूँछों से मुझे दबंग व्यक्ति लगे—पिछले महायुद्ध में पूरे छह वर्ष उन्होंने फ़ौजी के रूप में काम किया था और लड़ाई जब रुकी थी, वे ब्रिगेडियर के पद तक पहुँच गए थे। पहले-पहल उन्हें देखकर कोई भी एक बार दहशत में आ सकता था—आवाज भी उनकी भारी, ठहरी-सी और कहीं गहरे से आती प्रतीत होती थी—कूप-गिरा-गंभीर। पर यह उनका बाहरी रूप था। स्वभाव से वे कोमल और किसी हद तक भावुक भी थे, वास्तव में वे आइरिश थे—केल्ट रेस के, आयरलैंड के एक बड़े संभ्रांत परिवार के—उनके पितामह आइरिश कचहरी में जज रह चुके थे, पिता मजिस्ट्रेट, पर उन्होंने किसी कारण ब्रिटिश नेशनैलिटी ले ली थी। उम्र उनकी पचास से कुछ ऊपर थी, पर लगते थे लगभग साठ के।

हेन अपने विद्यार्थी-जीवन में बड़े कुशाग्र थे और उन्होंने अपनी सारी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास की थीं। केम्ब्रिज से ट्राइपास करने के बाद उन्होंने बर्मा शेल में नौकरी कर ली थी और उस सिलसिले में दो-तीन वर्ष भारत में भी रहे थे। सेंट कैथरीन्स कालेज की फ़ेलोशिप मिलने पर उन्होंने

अपनी नौकरी छोड़ दी थी और तब से बराबर केम्ब्रिज में अध्ययन और अध्यापन का काम करते आ रहे थे। फ़ेलोशिप के काल में उन्होंने ईट्स को अपने विशेष स्वाध्याय का विषय बनाया था। विद्यार्थी-जीवन से ही उन्हें ईट्स की रचनाओं में रुचि थी। ईट्स से तो उनका पारिवारिक संबंध था, वे उनसे कई बार मिले थे, उनका ईट्स के साथ पत्र-व्यवहार भी था। अपनी परिस्थिति, योग्यता, रुचि सभी से हेन ईट्स और उनकी रचनाओं को समझने के विशेष अधिकारी थे। आश्चर्य नहीं कि ईट्स पर लिखी उनकी पुस्तक को ईट्स के आलोचना-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। जिस समय मैं उनसे मिला, उस समय भी ईट्स-साहित्य पर मनन-चिंतन की अनेक मौलिक योजनाएँ उनके दिमाग़ में थीं। वे ईट्स को बहुत बड़ा कवि मानते थे—मिल्टन नहीं तो, वर्ड्सवर्थ के बाद अंग्रेज़ी का सबसे बड़ा कवि, और उनकी धारणा थी कि ईट्स के साहित्य का अध्ययन अभी कई दिशाओं में और कई दृष्टियों से होना बाक़ी है।

जब उन्होंने मुझसे पूछा कि 'आप ईट्स के किस पक्ष पर काम करना चाहेंगे?' तो मैंने कहा कि मेरे दिमाग़ में तो यह विषय है—'ईट्स पर भारतीय दर्शन और दंतकथा का प्रभाव।' उनकी राय थी कि यह एकाध निबंध का विषय तो हो सकता है, पर शोध-प्रबंध का विषय नहीं। साथ ही, उन्होंने माना कि यह ईट्स के चिंतन-मनन की दिशा थी और उसने किसी अंश में उन्हें प्रभावित भी किया था, पर ईट्स के चिंतन-मनन की दिशाएँ और भी थीं, उनका मस्तिष्क बहुत जिज्ञासु और बड़ा ग्रहणशील था, और सभी से उन्होंने कुछ न कुछ लिया था, लेकिन उधार के रूप में नहीं, उसे अपनी प्रतिभा की आँच में गलाकर, ढालकर, किसी अभिनव रूप में। हेन का विचार था, उसके विश्लेषण के लिए गहन अध्ययन, अंतर्भेदी दृष्टि और सूक्ष्म कल्पना अपेक्षित है, फिर भी अपनी पकड़ और पहुँच की सीमा में जो मैंने जाना-समझा था, उसकी परख उन्होंने करनी चाही।

पहली बार जब मैंने हेन से मिलने का समय माँगा तो उन्होंने मुझे खाने पर बुला लिया, खाना सात बजे शाम को होने को था। और खाने के पहले, खाने के दरमियान, खाने के बाद आधी रात तक वे मुझसे ईट्स के विषय में बात करते रहे, पूछते रहे और जब मैं उनसे विदा हुआ तो मुझे ऐसा लगा कि

जैसे मैं ईट्स के संबंध में जो कुछ भी जानता था, जो कुछ भी मैंने सोचा था, जो कुछ भी सोच सकता था—सबका सब उनके सामने उँडेल आया। बहुत बाद को एक दिन उन्होंने मुझे बताया था, 'वह तुम्हारा पहला 'वायवा' (मौखिक परीक्षा) था। जब मेरे पास कोई शोधाकांक्षी आता है तो मैं यह देखने का प्रयत्न करता हूँ कि वह शोध करने का अधिकारी है कि नहीं, उसके पास शोध करनेवाला मस्तिष्क है कि नहीं? इसके लिए केवल अकादमिक योग्यता अथवा स्वाध्याय पर्याप्त नहीं, कुछ और भी चाहिए। शोध के लिए एक ख़ास तरह का दिमाग़ चाहिए, जिसमें याददाश्त का वह माद्दा हो जो अक्सर दूर की चीज़ों में संबंध बिठा सके, जो ऐसे तथ्यों अथवा तत्वों की खोज कर सके, उनको पकड़ सके जो नये सत्य का संकेत करते हों। वास्तव में शोध-कार्य आरंभ कराने के पहले निर्देशक को स्वयं एक शोध-कार्य करना पड़ता है, करना चाहिए, और वह है शोधक की शोध या खोज। अगर अधिकारी शोधक मिल गया तो शोध का आधा काम समाप्त समझो।' मैंने कहीं पढ़ा था कि प्राचीन काल में नालंदा के विश्वविद्यालय के फाटक पर दरबान की जगह पर एक महापंडित बैठा रहता था और जब कोई विद्यार्थी वहाँ पढ़ने के लिए आना चाहता था, तब उसे उस दरबान से प्रश्नोत्तर करना पड़ता था। यदि वह उसकी क्षमता से संतुष्ट होता था तो उसे अंदर प्रवेश करने देता था, वर्ना वहीं से लौटा देता था। उस रात हेन को मैंने नालंदा के महापंडित के रूप में ही देखा।

जब मैं चलने लगा तो हेन ने मुझे एक आलमारी दिखलाई जिसमें ईट्स का और ईट्स पर जितना भी साहित्य उपलब्ध था, सब लगा था। पत्र-पत्रिकाओं में ईट्स पर जो अच्छे लेखादि निकले थे, वे भी टाइप कराके रखे हुए थे, एक पूरी फ़ाइल ईट्स के साथ हेन के पत्र-व्यवहार की थी। यह सारी सामग्री हेन ने स्वयं अपनी पुस्तक लिखते समय जुटाई थी, जो दो ही वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। उन्होंने मुझसे कहा, 'तुम प्रतिदिन दो बजे से छह बजे तक मेरे कमरे में बैठकर इन पुस्तकों को पढ़ सकते हो, किसी पुस्तक को ले जाना चाहो तो ले भी जा सकते हो। पहला काम तो यह करो कि ईट्स-रचित और ईट्स पर जितना भी आलोचनात्मक साहित्य प्रकाशित हो चुका है, सबको पढ़ जाओ, सब तुम्हें यहाँ मिलेगा, यहाँ न मिला तो युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में मिलेगा, कुछ

बहुमूल्य दुर्लभ सामग्री ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में मिलेगी। अभी तो तुम इसी बात को नोट करने का प्रयत्न करो कि ईट्स की बौद्धिक जिज्ञासाएँ किस-किस दिशा में थीं।' आखीर में उन्होंने एक बात जोड़ दी कि 'सारे आलोचना साहित्य को पढ़ना इसलिए भी जरूरी है कि तुम जब अपना प्रबंध लिखो तो उन बातों को मत दुहराओ, जो और लोग कह चुके हैं।' क्या हेन ने अपने प्रथम साक्षात्कार में ही मुझे शोध का अधिकारी समझ लिया था?

उन दिनों मेरी दिनचर्या प्रायः यह होती—मैं सुबह नाश्ता करके अपनी डिग से निकलता। पहले नगर की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में जाता, पास ही थी। वहाँ खड़े-खड़े दैनिक पत्रादि देखता और युनिवर्सिटी लाइब्रेरी चला जाता। वहाँ एक-डेढ़ बजे तक पढ़ता। फिर वहीं के कैफ़िटेरिया में हल्का लंच ले सेंट कैथरीन्स कालेज में मि० हेन के कमरे में जा बैठता, वहाँ छह बजे तक पढ़ता। लौटकर खाना खाता और डिग की किसी लड़की या लड़के के साथ घूमने चला जाता, या कोई व्याख्यान सुनने, या किसी सभा-सोसाइटी की बैठक में भाग लेने—केम्ब्रिज में संध्या के कार्यक्रमों की कमी नहीं। कभी-कभी नाटक या सिनेमा देखता। लौटकर रात में देर तक आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य के संग्रह पढ़ता, डायरी, आवश्यक पत्रादि लिखता और सो जाता।

कभी-कभी जब मैं हेन के कमरे में बैठा पढ़ता होता, वे आ जाते, पूछते, 'क्या पढ़ चुके, क्या पढ़ रहे हो? जो मैंने नोट करने को कहा था वह कर रहे हो न?' कभी-कभी कोई नई किताब पढ़ने का सुझाव दे जाते। मेरे काम में उनके इतनी भी रुचि लेने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। अगर उन्होंने मेरे शोधक को पहचान लिया था तो मैंने भी उनमें अपना सही निर्देशक पा लिया था। बिना सही निर्देशन के शोध-कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं होता। निर्देशन भी एक कला है। केवल बहुत अधीत होने अथवा विचारक और विद्वान होने से यह नहीं आती। बहुत अधीत तो झा साहब भी थे, जिनके निर्देशन में मैंने अपना शोध-कार्य आरम्भ किया था, पर उन्होंने मुझे ग़लत रास्ते पर लगा दिया था। उस रास्ते से तो मुझे लौट आना पड़ा, नई राह पकड़नी पड़ी। आध्यात्मिक खोज के लिए हमारे यहाँ एक कहावत प्रसिद्ध है—

'पानी पीजे छान,
गुरु कीजे पहचान।'

साहित्यिक खोज के लिए भी गुरु की पहचान ज़रूरी है। मैंने गुरु को खोजा न था। खोजने की स्वतन्त्रता शोधक को शायद ही कहीं मिलती हो। ऐसी हालत में निर्देशक से कुछ साहस और विवेक की प्रत्याशा की जा सकती है कि अगर वह देखे कि किसी विषय पर वह अधिकारपूर्वक निर्देशन नहीं दे सकता तो स्वयं हट जाए। मुझे बताया गया, ब्रिटिश युनिवर्सिटियों के सामने ऐसे अवसर आए हैं, जब किसी ने किसी विषय पर शोध करना चाहा, और युनिवर्सिटी अधिकारियों ने उससे कह दिया कि खेद है अमुक विषय पर पथ-प्रदर्शन करनेवाला हमारे यहाँ नहीं है, आप किसी दूसरी युनिवर्सिटी में प्रयत्न करें। यह तो मेरा सौभाग्य था कि मि० हेन में मुझे ऐसा विज्ञ और विचक्षण निर्देशक मिल गया था, और उनसे मिलने के पहले दिन से ही मुझे यह विश्वास हो गया था कि उनके आदेशों पर चलने से मैं ठीक दिशा की ओर अग्रसर हूँगा। अभी तो मेरे शोध का विषय ही निर्धारित होना था, और हेन चाहते थे कि उसपर भी मैं अपने प्रयत्न और अपनी सूझ-बूझ से पहुँचूँ। स्वस्थ सहायता इतनी ही होनी चाहिए कि आदमी अपनी सहायता स्वयं करने में समर्थ हो सके।

जैसे-जैसे मैं ईट्स-साहित्य पढ़ता गया—कितनी ही नई पुस्तकें सामने आईं, इलाहाबाद में तो उनकी सम्पूर्ण मौलिक रचनाएँ भी उपलब्ध न थीं—वैसे-वैसे मुझे यह स्पष्ट होता गया कि ईट्स की अभिरुचि, उनका कौतूहल, उनकी जिज्ञासा, उनका शोध-स्वाध्याय कितनी विविध और कैसी-कैसी विचित्र दिशाओं में था। भारत के प्रति उनके आकर्षण की चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ, पर जिस भारत के प्रति वे आकर्षित थे, वह न तो ऐतिहासिक भारत था न राजनैतिक; वह था श्रीमद्भागवत्पुराणकार के शब्दों में 'भारतमद्भुतम्'—अद्भुत भारत—भारत का वह अद्भुत चाहे उसके पुरा साहित्य में मिले, चाहे उसके दर्शन में, चाहे उसकी दंत-कथाओं में, चाहे उसके अंध-विश्वासों में। बात यह थी कि ईट्स जिस युग में वयस्क हुए, उसमें तर्क-सम्मत वैज्ञानिक शोधों ने चर्च-संपोषित ईसाई धर्म की जड़ें हिला दी थीं—कम से कम बुद्धि-जीवी वर्ग की आस्था तो उसमें बिलकुल न रह गई थी, और ईट्स की सही या ग़लत धारणा यह थी कि बिना किसी प्रकार की आस्था के उच्चकोटि की कविता नहीं लिखी जा सकती, भले ही उस आस्था की पटरी आधुनिक

तार्किकता के साथ बैठती हो या न बैठती हो, बल्कि जो जितनी ही अतार्किक हो, वह उतनी ही कवि के लिए महत्त्वपूर्ण है— इसके लिए ईट्स के अपने तर्क थे जिन्हें दूसरों को मनवाने की कला उन्हें खूब आती थी। इसी धुन में आधुनिक सभ्यता से अछूते ग्रामीण जनों के अंध-विश्वासों, उनके बीच प्रचलित लोक-कथा-वार्ताओं में, उनके द्वारा अज्ञात पीढ़ियों से अपनाए गए धर्म-सम्प्रदायों के कर्म-कांडों में उनका कौतूहल 'बढ़ा, पुराने साहित्य, पुरानी सभ्यताओं, पुरानी धर्म-संस्थाओं में जो कुछ भी आश्चर्यजनक, चमत्कारी, रहस्यपूर्ण अथवा गुह्य था, सबकी ओर उनकी जिज्ञासा जागी। उन्होंने यहूदियों के आदि धर्म-ग्रन्थ कब्बाला का अध्ययन किया, प्राचीन यूनान और मिस्र के विख्यात और अल्पज्ञात मनीषियों को अवगाहा, जर्मनी के ईसाई रहस्यवादी जैकब बेहमेन—जो पेशे से जूता गाँठने वाले थे, हमारे यहाँ के भक्त रैदास के प्रतिरूप—और स्वीडेन के स्वप्नद्रष्टा—अक्षरशः जाग्रत स्वप्नद्रष्टा—दार्शनिक ईमैनुएल स्वीडेनबार्ग के विचारों में डुबकी लगाई, मैडेम ब्लावाट्स्की के थियोसोफ़िकल आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया और उनकी प्रायः सभी कृतियाँ मनोयोग से पढ़ीं, साथ ही उन्होंने हरमीटिक आर्डरों, मध्ययुगीन योरोपीय कीमियागरों—ये एक प्रकार के दार्शनिक ही थे जो अपने को कीमियागरी की शब्दावली में अभिव्यक्त करते थे—रोसीक्रूशन, फ़्रीमेसन, मठों, मिस्मरेज़म, सिएंस—जहाँ प्रेतात्माएँ बुलाई जाती थीं, और जिप्सियों के टैरट कार्ड—एक प्रकार के ताश के पत्ते, जिनसे जिप्सी मनुष्य का भाग्य बताते थे—और तरह-तरह के जादू-टोने में खुलकर रुचि ली, सारी ज़िंदगी। अपने इस शुग़ल में ईट्स कितने गम्भीर थे, इसका इससे बड़ा और क्या सबूत होगा कि अपने जीवन के अंतिम भाग में उन्होंने अपने सारे अतार्किक अध्ययन और अनुभव के आधार पर एक सुसंबद्ध सिस्टम, दर्शन, सिद्धान्त अथवा 'धर्म' को ही जन्म दिया,—अपनी बहुचर्चित और विवादास्पद कृति A Vision (ए विज़न) के द्वारा, जिसकी भूमिका एज़रा पाउण्ड को भेजते हुए उन्होंने लिखा : I send you the introduction of a book which will, when finished, proclaim a new Divinity. (मैं तुम्हें अपनी नई पुस्तक की भूमिका भेज रहा हूँ जो प्रकाशित होने पर एक नये ही धर्म अथवा अहदनामे की उद्घोषणा करेगी।)

यह सब जानकर ऐसी कल्पना करना मेरे लिए स्वाभाविक था कि इस सारे अनुशीलन, चिन्तन, मंथन का प्रभाव किसी न किसी रूप में ईट्स के जीवन और सृजन पर निश्चय पड़ा होगा। इसीका विश्लेषण करना मेरे शोध का उद्देश्य हो सकता था। पर इस दर्जे पर तो केवल मेरे शोध का विषय अधिक विस्तृत होकर मेरे सामने स्पष्ट हो रहा था। एक दिन मौक़ा पाकर मैंने मि० हेन से कहा कि अगर मैं अपने शोध का विषय W. B. Yeats and the Irrational (डब्ल्यू० बी० ईट्स और अतार्किकता) रखूँ तो कैसा रहेगा? उन्होंने कुछ देर सोचकर कहा कि 'तुम्हारे पहले विषय की अपेक्षा, ज़ाहिर है, यह अधिक व्यापक है, पर शोध-प्रवन्ध के लिए इसकी भी कुछ सीमाएँ निर्धारित करनी होंगी, गो इसपर अभी से सिर खपाने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे शोध का पहला चरण समाप्त हुआ—ठीक विषय मिल गया। दूसरे चरण में दो तरह का अध्ययन समानान्तर करना है। ईट्स के आलोचना-साहित्य को अब नहीं छूना है। अब एक ओर तो उनके मौलिक साहित्य का पारायण करना है और दूसरी ओर उस अतार्किक सामग्री का अध्ययन, जिसका अवगाहन-अवलोकन ईट्स ने स्वयं किया था। और अपनी स्मृति और कल्पना को इस भाँति सजग रखना है कि एक को दूसरे से जोड़ने अथवा प्रभावित करनेवाली कड़ियाँ चूकने न पाएँ।' उन्होंने मुझे आगाह किया कि ईट्स का मौलिक साहित्य तो बार-बार पढ़ा जा सकता है, पर जिस अतार्किक को उन्होंने पढ़ा-घोखा था, जिसमें वे भीगे-डूबे थे, उसे दुबारा पढ़ना तुम्हारे लिए संभव न होगा—तुम उस सामग्री को प्राय: शुष्क, उबाऊ, दुरूह और अस्पष्ट पाओगे, फिर तुम्हारे पास इतना समय भी कहाँ है! इस काम के लिए छह महीने का समय मेरी समझ में बहुत कम है, पर इतने समय में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अतार्किक के किन पक्षों का ईट्स के साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा था और उन्हीं तक अपने को सीमित रखने और उन्हीं पर विशेष वल देने से विषय-प्रतिपादन में सुविधा होगी, उलझाव न आने पाएगा और कसाव भी वना रहेगा; आखिर शोध-प्रबन्ध की शब्द-सीमा तो हर विश्वविद्यालय में तय रहती है, कैम्ब्रिज में एम लिट्० के प्रबन्ध की शब्द-सीमा ४०,००० और पी-एच०डी० के प्रवन्ध की ६०,००० है। विषय असाधारण अथवा विशिष्ट होने पर एक-चौथाई शब्द अधिक प्रयुक्त करने

की अनुमति मिल जाती है। बी० राजन ने, जो केम्ब्रिज से अंग्रेज़ी साहित्य में डाक्टरेट लेनेवाले पहले भारतीय थे, अपने शोध-प्रबन्ध में केवल ३०,००० शब्दों का उपयोग किया था। हमारे यहाँ मात्रा से अधिक गुण को महत्त्व दिया जाता है।'

मि० हेन के आदेशानुसार मैंने लगकर पढ़ना और नोट लेना शुरू कर दिया। मेरे पास खोने को समय न था। अभी तक केम्ब्रिज में केवल छह महीने रहने की मेरी योजना थी, और इस अवधि में मैं मि० हेन के निर्देशन का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहता था। अक्तूबर में मुझे आक्सफ़र्ड पहुँच जाना था, और वहाँ मेरे लिए शोध-स्वाध्याय, निर्देशन की क्या व्यवस्था होगी, इसका मुझे कोई अनुमान नहीं था।

इस बीच मुझे तीन-चार दिन के लिए आक्सफ़र्ड जाने का सुयोग मिल गया। इंग्लैंड में एक रायल इंडिया सोसाइटी है, पुरानी संस्था है। इसकी स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि इसके द्वारा इंग्लैंड के लोगों को भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवन का कुछ ज्ञान कराया जाय—उद्देश्य व्यावहारिक था, जिनपर हमें हुकूमत करनी है, उनको किसी हद तक जानना-समझना भी चाहिए, हालाँकि इस संस्था के माध्यम से जो जानकारी भारत के विषय में दी जाती थी, वह प्रायः सतही होती थी। सोसाइटी की ओर से प्रति वर्ष इंग्लैंड के किसी प्रसिद्ध नगर में तीन-चार दिनों का एक सेमिनार आयोजित किया जाता था जिसमें विभिन्न भारतीय विषयों पर व्याख्यान अथवा चर्चा-गोष्ठियाँ होती थीं। पहले उसमें केवल अंग्रेज़ों को निमंत्रित किया जाता था, अब उसमें भाग लेने के लिए कुछ भारतीयों को भी बुलाया जाता है। उस वर्ष यह सेमिनार आक्सफ़र्ड में होने को था और किसी संयोग से मेरे लिए भी निमंत्रण आ गया था—मार्ग-व्यय, आवास, भोजन सबकी व्यवस्था सोसाइटी की ओर से होने को थी। मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। सोचा, इसी बहाने आक्सफ़र्ड देख आऊँगा और प्रो० सी० एम० बावरा से परिचय भी कर आऊँगा, जिनके निर्देशन में संभवतः मुझे अपने शोध-कार्य को आगे बढ़ाना होगा।

किसी नये नगर में प्रवेश करने पर आगंतुक की आँखें सबसे पहले उसकी इमारतों की ओर आकृष्ट होती हैं। आक्सफ़र्ड पुराना विश्वविद्यालयी नगर है, शायद केम्ब्रिज से भी पुराना, और उसकी सबसे प्राचीन इमारतें हैं उसके

कालेज और उसके गिरजे। आक्सफ़र्ड को पहली नज़र से देखकर मुझे लगा कि जैसे उसकी सब अच्छी-बड़ी इमारतें बहुत पास-पास बना दी गई हैं—केम्ब्रिज में वे ज़्यादा फैलाव में हैं। फिर केम्ब्रिज समतल भूमि पर बसा है, आक्सफ़र्ड एक छोटी-सी पहाड़ी के ढलान पर, उसकी तराई में। निश्चय ही पहाड़ी पर से आक्सफ़र्ड का विहगावलोकन करना बड़ा रोमहर्षक अनुभव होता, पर उसका संयोग मुझे न मिला। मुझे वाधम कालेज में ठहराया गया था जिसके वार्डेन मि० बावरा थे, वे उन दिनों आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर भी थे। उन्होंने ही रायल सोसाइटी के सेमिनार का उद्‌घाटन किया था।

कार्यक्रमों को रोचक बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया था, फिर भी व्याख्यान एकाध ही गंभीर थे, बाक़ी सामान्य, सतही विषयों पर—ज्ञानवर्धक से अधिक कौतूहल-शामक। एक गोष्ठी में मेरा कविता-पाठ भी हुआ, कई अंग्रेज़ लेखकों-कवियों से मैंने परिचय प्राप्त किया, एक अंग्रेज़-दंपति मेरी कविताओं से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बाद को मुझे अपने घर बुलाया, जो मानमथशायर में था। उन्होंने मेरी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद की एक योजना बनाई—मैं अपनी कविताओं का शाब्दिक अनुवाद गद्य में दे दूं और वे उसे कवित्वपूर्ण भाषा-छंदों में बाँधें। परिणाम अधिक संतोषजनक नहीं लगे, फिर इस कार्य में मेरी विशेष रुचि भी नहीं थी, अभी तो मेरे सिर पर शोध का भूत सवार था और उसीसे निपटने के लिए मेरे पास पर्याप्त समय न था।

आक्सफ़र्ड में समय लेकर मैंने मि० सी० एम० बावरा से मुलाक़ात की। उन्होंने इस बात पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की कि केम्ब्रिज में मि० हेन की देख-रेख में मैं ईट्स पर शोध-कार्य कर रहा हूँ। मेरा विषय The Element of Irrational in the Poetry of W. B. Yeats (डब्ल्यू० बी० ईट्स की कविता में अतार्किकता के तत्व) उन्हें भी पसंद आया। उनकी इच्छा थी कि मैं ईट्स की दर्शन-पुस्तक A Vision पर कुछ मौलिक सूझ-बूझ की बातें कह सकूं, क्योंकि ईट्स स्वयं इस पुस्तक को बहुत महत्त्व देते थे और उनके कुछ समालोचक अगर उसे उनके ज्ञान का निचोड़ मानते थे तो कुछ उनकी सनक, बहक, बकवास। दो-ढाई महीनों में अपने कार्य की प्रगति का जो ब्यौरा मैंने बावरा को दिया था, उससे उन्हें संतोष था और चलते समय उन्होंने मुझसे पूछा था, 'अक्तूबर से तुम्हारे लिए यहाँ जगह सुरक्षित है, आ रहे हो न ?' और मैंने

त पाक से कहा था, 'निश्चय।'

तभी जैसे केम्ब्रिज से आता हुआ एक शंकालु स्वर मेरे कानों में गूंज उठा था, 'शायद नहीं।'

यह स्वर विश्वा का था।

'विश्वा' कौन ?

हमारे देश में बहुप्रचलित विश्वास है कि नक्षत्र मनुष्यों के भाग्य को प्रभावित करते या बदल देते हैं। मैंने अपने जीवन के अनुभवों से जाना है कि हमारे भाग्य को मोड़ देने या बदलने के लिए लाखों-करोड़ों मील दूर पड़े ग्रह-नक्षत्रों को प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, हमारे पथ में सहज गति से आ पड़े लोग प्राय: ऐसा काम अनजाने ही कर जाते हैं। अपने जीवन में आए ऐसे कई लोगों की मुझे याद है, न मैं उन्हें खोजने गया था, न वे मुझे खोजते आए थे, पर वे मिले तो परिचयों और घटनाओं की ऐसी शृंखला बनी कि उसका अनुसरण कर मैं ऐसी जगह या स्थिति पर पहुँच गया, जो मेरे लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं भाग्य-निर्णायक भी थी। ऐसे व्यक्तियों को मैंने अपनी निजी शब्दावली में 'नक्षत्र-पुरुष' या नारी संज्ञा दे रखी है।

मेरे लड़कपन में मेरे परिवार-पास-पड़ोस में एक शब्द इस्तेमाल होता था—नछत्रहा—फलनवाँ बड़ा नछत्रहा है। यह शब्द ऐसे व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था, जिसका संग-संसर्ग कुछ अनिष्ट कर दे। मेरा नक्षत्र-पुरुष उसी शब्द से प्रेरित है, पर वह अनिष्टकारी तक सीमित नहीं। नक्षत्र-पुरुष मैं हर ऐसे आदमी को कहना चाहूँगा जो भाग्य को किसी प्रकार प्रभावित करे।

केम्ब्रिज में भी मुझे एकाधिक नक्षत्र-पुरुष मिले।

सबसे पहले नक्षत्र-पुरुष विश्वनाथ दत्त थे।

विश्वनाथ दत्त, जिन्हें मैं बाद को विश्वा कहने लगा था, अमृतसर के निवासी थे। उन्हें मैंने पहले-पहल अपने एक अध्यापक-मित्र के घर पर देखा था, जिनके वे प्रिय शिष्यों में थे। लखनऊ युनिवर्सिटी से इतिहास और शायद अंग्रेज़ी में भी एम० ए० करने के बाद वे डाक्टरेट करने के लिए केम्ब्रिज आए थे, पिता उनके समृद्ध व्यापारी थे और बहुत बड़ा खर्च उठाकर उन्होंने अपने बेटे को सपत्नीक तीन बरस केम्ब्रिज में रहने और पढ़ने के लिए भेजा था। विश्वा की पत्नी का नाम कमला था। वे मुझसे दो वर्ष पूर्व केम्ब्रिज पहुँचे

थे। कमला ने भी किसी डिग्री या डिप्लोमा के लिए पढ़ना शुरू कर दिया था। विश्वा की अवस्था उस समय लगभग पचीस के होगी—केम्ब्रिज के प्रभावों को सचेत ग्रहण कर सकने की उपयुक्त अवस्था। जिस समय मैं केम्ब्रिज पहुँचा, विश्वा पूरी तरह केम्ब्रिज की परंपरा में भिन चुके थे।

मैं केम्ब्रिज की परम्परा को परिभाषित करने नहीं जा रहा हूँ, पर उसका एक सतही और विनोदी पक्ष है—केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड की प्रतिद्वंद्विता के प्रति सचेत होना, केम्ब्रिज की महत्ता का गर्व करना और आक्सफ़र्ड को उसकी तुलना में हीन समझना—इसकी ओर मैं पहले भी संकेत कर चुका हूँ। दोनों युनिवर्सिटियों के विद्यार्थी जब आपस में मिलते हैं तो दो-एक फ़िक़रे एक-दूसरे की युनिवर्सिटी की अवमानना में ज़रूर कस देते हैं। और विद्यार्थी ही नहीं, बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचे हुए लोग भी, शायद अपने विद्यार्थी-जीवन के संस्कारों से अभिभूत, ऐसी फ़िक़रेबाज़ी से बाज़ नहीं आते। आर्चबिशप आफ कैंटरबरी जो आक्सफ़र्ड के स्नातक थे, जब केम्ब्रिज की एक धर्म-सभा में बोलने के लिए बुलाए गए तो उन्होंने अपने पहले ही वाक्य में फ़ब्ती कसी कि चूँकि पिछले पचास बरसों में केम्ब्रिज ने कोई आर्चबिशप नहीं पैदा किया इसलिए उसने सोचा, चलो आक्सफ़र्ड से उधार माँग लें। ऐसे और भी उदाहरण मेरी स्मृति में हैं।

मैंने आक्सफ़र्ड न जाने और केम्ब्रिज में ही सारा समय बिताने का जो निश्चय किया, उसका मुख्य श्रेय विश्वनाथ दत्त को है।

आते ही मैंने अपनी योजना उनसे बताई थी कि मैं छह महीने केम्ब्रिज रहूँगा और नौ महीने आक्सफ़र्ड, और उन्होंने पहले दिन से ही मेरे आक्सफ़र्ड जाने का विरोध किया था। इसमें केवल आक्सफ़र्ड के प्रति उनकी विपक्षधरता (प्रेजुडिस) ही न थी। केम्ब्रिज में ही रहने के पक्ष में उनके पास कुछ तर्क भी थे। उनका कहना था, 'आप छह महीने केम्ब्रिज़ रहेंगे, नौ महीने आक्सफ़र्ड रहेंगे, आप अपने शोध-विषय पर अच्छी से अच्छी नोट-सामग्री एकत्र करेंगे, इंग्लैंड की सबसे बड़ी दो युनिवर्सिटियों के दो ईट्स-विशेषज्ञों का निर्देशन आपको प्राप्त होगा, फिर भी जब आप अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत करेंगे और आपको डाक्टरेट मिल जाएगी—मिल तो शायद जाएगी ही—तो डिग्री आपकी हिंदुस्तानी मानी जाएगी—घी नहीं, डालडा। हिंदुस्तान में जैसी

मनोवृत्ति है, जिससे मैं बखूबी परिचित हूँ और जिससे आप भी अपरिचित न होंगे, उसमें 'फ़ारेन' डिग्री के लिए जितनी इज़्ज़त है, उतनी 'नेटिव' डिग्री के लिए नहीं। आदमी रुपये खर्चता है, मेहनत करता है, अपनी योग्यता बढ़ाता है तो यह भी चाहता है कि उसको मान्यता मिले, उसको उसका प्राप्तव्य दिया जाए। फिर आपका विषय इतिहास या अर्थशास्त्र होता तो बहुत फ़र्क़ न पड़ता कि आप डिग्री इंग्लैंड से ले रहे हैं या हिंदुस्तान से; आपका विषय तो अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य से संबद्ध है। आपकी डिग्री तो टकसाली तभी साबित होगी जब आप अंग्रेज़ों की चोटी की युनिवर्सिटी से, अंग्रेज़ी के गढ़ से, अंग्रेज़ी डिग्री लें। आपने पंद्रह महीने विदेश में रहने का प्रबंध किया है, केवल नौ महीने और रहने का इंतज़ाम कर लें, एक ही युनिवर्सिटी से संबद्ध रहें—ज़्यादा अच्छा होगा केम्ब्रिज से, और किसी वजह से नहीं तो सिर्फ़ इस कारण कि आप यहाँ पहले आ गए हैं—और यहीं से डाक्टरेट लेकर देश वापस लौटें।'

विश्वा जब भी मुझे मिलते इन्हीं बातों को दुहराते, केम्ब्रिज के डाक्टर के भविष्य जीवन के सुखद सपने दिखलाते—सब्ज़ बाग़—'इस डिग्री के पाने पर आप किसी बड़ी युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के विभागाध्यक्ष के रूप में ले लिए जाएँगे। आक्सफ़र्ड या केम्ब्रिज से अंग्रेज़ी में डाक्टरेट किए हुए कितने लोग हैं भारत में—केम्ब्रिज से एकमात्र बी० राजन, और वे फ़ारेन सर्विस में ले लिए गए हैं। आपको भी कोई उच्च पद सरकार दे सकती है,' वग़ैरह, वग़ैरह। आश्चर्य है कि कभी-कभी विकसित मस्तिष्क वाले भी कल्पना के क्षणों में भविष्य की सच्चाइयों की धुँधली-सी झाँकी पा जाते हैं।

केम्ब्रिज से डाक्टरेट कर लेने पर—करना आसान तो नहीं था—भविष्य में किसी ऊँचे पद अथवा ऊँचे वेतन का अनिश्चित सपना विदेश में और नौ मास ठहरने के लिए मुझे मुश्किल से प्रेरणा दे सकता था। अलबत्ता एक ही जगह रहने और एक ही के निर्देशन में काम करने में जो संगति संभव थी, वह मुझे बावरा से केवल आधे घंटे बातचीत करके स्पष्ट हो गई थी—हेन के और उनके दृष्टिकोण में वैपरीत्य नहीं तो अंतर अवश्य था। और उससे मेरे शोध की एकता विखंडित हो सकती थी। साथ ही केम्ब्रिज में जो प्रचुर सामग्री उपलब्ध थी, उसे देखकर, और हेन के निष्णात निर्देशन में थोड़ा-बहुत काम

करके, मेरी ऐसी धारणा हो चली थी कि यहाँ रहकर मैं अपने शोध-कार्य को जिस परिपूर्णता से संपन्न कर सकूँगा, उससे हिंदुस्तान में नहीं। मैं अपने नाम के आगे केवल एक डिग्री जोड़ने के प्रलोभन में ईट्स पर काम करने को तत्पर नहीं हुआ था। ईट्स के काव्य ने मेरे मन में एक समस्या उठाई थी और उसी का समाधान पाने को मैं पिछले दस-बारह बरसों से छटपटा रहा था। मेरा शोध मेरी दृष्टि में विधिवत समाधान पाने की प्रक्रिया मात्र थी, और डिग्री होती—चाहे केम्ब्रिज की चाहे इलाहाबाद की—मेरे समाधान पाने की सफलता पर प्रामाणिकता की मुहर, केम्ब्रिज की, निश्चय ही, अधिक संतोषप्रद होती, क्योंकि वह निर्विवाद रूप से अधिक अधिकारी विद्वानों द्वारा लगाई जाती।

अपने प्रवास को नौ मास और बढ़ाने का निर्णय लेने के पहले मुझे तेजी से सलाह करनी थी। साथ ही घर की और अपनी आर्थिक स्थिति और आवश्यकता को भी ध्यान में रखना था। तेजी को १४ महीने विना युनिवर्सिटी के वेतन के, मेरी रायल्टी और बैंक में जमा थोड़ी-बहुत राशि के बल पर घर चलाना होता। मुझे ९ मास केम्ब्रिज में रहने के खर्च के अतिरिक्त ६ टर्म की (साल में तीन टर्म होते हैं— ईस्टर टर्म, माइकेलमास और लेंट टर्म) कालेज की फ़ीस की भी व्यवस्था करनी होती, क्योंकि युनिवर्सिटी से संबद्ध किसी कालेज का नियमित विद्यार्थी रहकर ही मैं वहाँ की डिग्री के लिए शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर सकता था; शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने की फ़ीस अलग लगती और वापसी सफ़र-खर्च का इन्तज़ाम तो मुझे करना ही था। इस सब के लिए बड़े संयत अनुमान से मुझे १०,०००/= की ज़रूरत होती। मेरे प्रवास की अवधि में ९ मास और जोड़ लेने पर अगर तेजी को आपत्ति न होती तो १०,०००/= और ब्लाक ग्रांट की आशा मैं नेहरू जी अथवा मौलाना आज़ाद की सिफ़ारिश पर शिक्षा मंत्रालय से कर सकता था—आशाएँ कितनी बड़ी छलना सिद्ध होती हैं!

तेजी को अपने नये प्रस्ताव के विषय में मैंने बहुत डरते-डरते लिखा। जब बात छह महीने मेरे इंग्लैंड में रहने की उठी थी, तब उन्होंने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी, जब दस महीने प्रवास में रहकर लगे हाथ योरोप-भ्रमण की, तब उन्होंने अपना समर्थन दिया था, जब पन्द्रह महीने केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड में

रहकर शोध-सामग्री एकत्र करने की, तब उन्होंने कोई आपत्ति न की थी, और अब जब चौबीस महीने केम्ब्रिज में रहकर शोध-कार्य वहीं पूरा करके लौटने की बात खड़ी हुई तो मुझे पता नहीं था, उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। उनके पत्र मेरे पास बराबर आया करते थे। केम्ब्रिज में अपने मानसिक तनाव की बात मैं पहले लिख चुका हूँ, तेजी भी इलाहाबाद में बैठी उसी प्रकार का मानसिक तनाव अनुभव कर रही थीं। अक्सर उन पर कमज़ोरी और उदासी के दौर आते, उन्हें लगता कि उनकी हिम्मत और ताक़त आधी रह गई है, और अब वे मुश्किलों और मुसीबतों का सामना करने में उतनी समर्थ नहीं हैं, जितनी मेरे सान्निध्य में थीं। कभी-कभी उन्हें लगता कि मेरे बिना इलाहाबाद में वे सर्वथा अजनबी और असुरक्षित हैं और अगर उन पर कोई खतरा आए तो उन्हें और उनके बच्चों को बचानेवाला कोई नहीं है। मैं अपने पत्रों से उन्हें दिलासा देता, ढाढस बँधाता, जीवन में आई अनेक परिस्थितियों का सामना करने की उनकी क्षमता की उन्हें याद दिलाता, उनका हौसला बढ़ाता, पर मुझे यह ख्याल भी आता कि ढाई-तीन महीने में उनका यह हाल है तो पन्द्रह महीने कैसे कटेंगे! कभी-कभी मुझे आशंका होती कि उनकी मानसिक स्थिति ऐसी ही रही तो संभव है, एक दिन अचानक मुझे देश लौट जाना पड़े। पर तेजी ने अपने उत्तर से मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। एक झटके से जैसे उन्होंने अपनी सारी दुर्बलता दूर हटा दी और मेरे सामने एक स्पष्ट लक्ष्य देखकर उन्होंने बड़े आत्म-विश्वास से मुझे लिखा—'अगर नौ महीने और वहाँ रहने से आपका शोध-कार्य वहीं पूरा हो जाता है तो आप ख़ुशी से उसे पूरा करके ही लौटें। हाँ, इतना ज़रूर निश्चित कर लें कि आपको वहाँ का खर्च शिक्षा मंत्रालय से मिल जाएगा। यहाँ की चिंता करने की आपको ज़रूरत नहीं। यहाँ जो कुछ उपलब्ध है और होगा, उसीसे हम अपना काम चला लेंगे। कष्ट अगर उठाना ही पड़ा तो मैं उठाऊँगी, बच्चों को किसी प्रकार की तकलीफ़ न होने दूंगी। आप वहाँ एकाग्रता से काम करें। बच्चे प्रतिदिन यहाँ आपकी सफलता के लिए प्रार्थना करेंगे, देखिए, उन्हें निराश न होना पड़े, नहीं तो ईश्वर पर से ही उनका विश्वास हट जाएगा।' श्रम-संघर्ष के लिए तेजी मुझे प्रेरित कर सकती हैं, यह तो मैं जानता था, पर वे मुझे सफल होने की इतनी बड़ी क़सम भी दिला सकती हैं, इसकी कल्पना मैंने न की थी। नारि, तू

अपनी भीरुता को इतनी जल्दी कैसे अपनी धीरता में बदल देती है—अपनी मृदुता को अपनी दृढ़ता में !

तेजी से लाइन क्लियर मिलने पर मैं मि० हेन से मिला। वे इस बात से बहुत प्रसन्न हुए कि मैंने दो वर्ष केम्ब्रिज में ही रहकर अपना शोध-कार्य पूरा करने और यहीं से पी-एच० डी० के लिए शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने का इरादा किया है। उन्होंने यह तो माना कि जिस प्रकार का शोध-कार्य मेरे मन में है, उसे पूर्ण करने के लिए दो वर्ष का समय पर्याप्त है पर पी-एच० डी० की डिग्री शायद मुझे न मिल सके। उन्होंने मुझे बतलाया कि 'शोध के लिए केम्ब्रिज में बाहर से बहुत-से लोग आते हैं। कुछ लोगों के पास यहाँ रहने को साल भर का समय होता है, कुछ के पास दो वर्ष का और कुछ के पास तीन वर्ष या इससे अधिक का। यहाँ की आर्ट्स फ़ैकल्टी ने शोध-संबंधी कार्य को तीन श्रेणियों में बाँट दिया है कि सभी तरह के लोग अपनी रुचि-सामर्थ्य-सुविधा के अनुसार इनसे लाभान्वित हो सकें। जो केवल एक वर्ष यहाँ रह सकते हैं, उनके लिए शोध-विधि (Method of Research) पर व्याख्यान होते हैं, उन्हें पुराने ग्रंथों को संपादित अथवा संशोधित करना सिखाया जाता है, शोध की नैतिकता (Ethics of Research) का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है और शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने की तकनीक बताई जाती है—एकरूपता और व्यवस्था लाने के लिए योरोप में प्रायः हर काम वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है, शोध-प्रबंध प्रस्तुत करने की भी एक वैज्ञानिक रीति है। कोर्स पूरा करने पर शोधार्थी को रिसर्च का एक डिप्लोमा दिया जाता है। जो लोग दो वर्ष के लिए आते हैं, उन्हें एम० लिट्० की डिग्री के लिए तैयार किया जाता है। वे किसी बड़े विषय के एक अंग को अपने शोध के लिए चुनते हैं। उनसे किसी मौलिक खोज की प्रत्याशा नहीं की जाती। प्रायः वे अपने विषय में व्यक्त किए गए, इधर-उधर फैले ज्ञान को, अपनी स्थापना (hypothesis) के अनुरूप—और स्थापना तो उन्हें बनानी ही पड़ती है—संचित, सुव्यवस्थित करते हैं, अधिक से अधिक वे उसपर टिप्पणी करते हैं। जो लोग तीन वर्ष का समय दे सकते हैं, उन्हें पी-एच० डी० के लिए रजिस्टर किया जाता है। वे शोध का कोई सम्यक् विषय लेते हैं, उनसे उम्मीद की जाती है कि वे अपने विषय पर कोई ऐसी मौलिक खोज करेंगे जिससे किसी लेखक अथवा उसकी रचना अथवा उसके

युग के संबंध में पुरानी और प्राय: प्रचलित या स्वीकृत धारणा को बदला जा सके, कम से कम उसे चुनौती दी जा सके। संक्षेप में, उनका शोध ज्ञान-वृद्धि में योगदान (Contribution to knowledge) हो। डी॰ लिट्॰ तो प्राय: मानद डिग्री है जो किसी-किसी वयोवृद्ध स्कालर को उसके जीवन भर के सृजनशील समालोचनात्मक कार्य पर दी जाती है। केम्ब्रिज में साहित्य के एक मात्र डी॰ लिट्॰ डा॰ टिलयार्ड हैं। उदाहरण के लिए W. B. Yeats and India एम॰ लिट्॰ का विषय हो सकता था। W. B. Yeats and the Irrational पी-एच॰ डी॰ का विषय है, और चूंकि तुम केवल दो वर्ष उसे दे सकोगे, इसलिए फ़ैकल्टी ऐसा समझेगी कि तुम उसके साथ पूरा न्याय नहीं कर सकोगे, और नियमत: वह तुम्हें एम॰ लिट्॰ के लिए रजिस्टर करेगी।'

यह सब बतलाने के बाद मि॰ हेन ने मुझे राय दी कि 'तुम्हें डिग्री के नाम का ख्याल छोड़कर शोध पर ध्यान देना चाहिए। नियम हमारे यहाँ के रूढ़ नहीं हैं। अंग्रेज़ जब भी नियम बनाते हैं तो यह ध्यान में रखकर कि संभव है, जीवन की कोई परिस्थिति उनके अंतर्गत न आ सके, यानी वे अपने नियमों में अपवाद के लिए कोई न कोई लूप-होल छोड़ देते हैं। एम॰ लिट्॰ की थीसिस बहुत अच्छी हो तो डिग्री कमेटी को यह अधिकार है कि वह उसे पी-एच॰ डी॰ की डिग्री के योग्य क़रार दे। इसी प्रकार पी-एच॰ डी॰ की थीसिस अगर स्तरीय न हो तो उसपर केवल एम॰ लिट्॰ की डिग्री दे या उसे बिलकुल अस्वीकार कर दे। यहाँ ऐसे उदाहरण हैं कि लोगों ने चार-चार बरस काम कर थीसिस प्रस्तुत की है और उसे रिजेक्ट कर दिया गया है या उस पर एम॰ लिट्॰ दी गई है, ऐसे एक अध्यापक फ़िट्ज़ विलियम हाउस में अब भी हैं। और ऐसे भी उदाहरण हैं—गो बहुत कम—कि एम॰ लिट्॰ के लिए थीसिस तैयार की गई है परंतु निर्देशक अथवा परीक्षकों ने उसे पी-एच॰ डी॰ के योग्य समझा है और डिग्री कमेटी को उनकी अनुशंसा (Recommendation) माननी पड़ी है।' अंत में मि॰ हेन ने कुछ रुककर और थोड़ा मुस्कराते हुए कहा, 'मैं आशा करता हूँ कि तुम एक अच्छी थीसिस लिखोगे और मुझे उसके गुणों के आधार पर उसे पी-एच॰ डी॰ के लिए अनुशंसित करने का अवसर मिलेगा।'

मैंने मि॰ हेन को बतलाया कि 'मैं दो बरस से अधिक केम्ब्रिज में रहने की

स्थिति में नहीं हूँ। शोध-कार्य मैं अवश्य पूरा करना चाहता हूँ, डिग्री मुझे कोई भी मिले।

मैंने अपना नाम सेंट कैथरीन्स कालेज में लिखा लिया, और एम० लिट्० की रजिस्ट्री के लिए जो प्रमाणपत्रादि आवश्यक थे, वे आर्ट्स फ़ैकल्टी में प्रस्तुत कर दिए, जिनमें प्रस्तावित शोध-विषय पर २००० शब्दों का एक निबंध भी लिखकर देना था।

मि० हेन ने ऐसी व्यवस्था करा दी कि जिस दिन से मैंने केम्ब्रिज में रहना शुरू किया था—वहाँ जितनी रातें मैं सोया था, उसका प्रमाणपत्र मिसेज़ मलेव्स्का ने दिया—उस दिन से मैं कालेज का विद्यार्थी समझा जाऊँ, गो पिछले टर्म की फ़ीस भी मुझे देनी पड़ी। इससे लाभ यह हुआ कि छह टर्म पूरा होने पर, यानी अप्रैल '५४ में मैं अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर सकने का अधिकारी हो गया।

अब मि० हेन युनिवर्सिटी की ओर से मेरे निर्देशक नियुक्त हुए और मैं हफ़्ते में एक बार नियमित रूप से निर्देशन के लिए उनके पास जाने लगा। सप्ताह भर में जो कुछ मैं पढ़ता, उस पर जो कुछ मुझे सूझता, उसकी जो प्रतिक्रिया मेरे ऊपर होती उससे मैं मि० हेन को अवगत कराता, वे उसपर मुझसे सवाल पूछते या उसपर हमारी बहस-चर्चा होती। काफ़ी दिनों तक उनके निर्देशन का रूप केवल मौखिक रहा। कभी मैं कालेज के उनके कमरे में उनसे मिलता और कभी वे मुझे अपने बँगले पर बुला लेते—अधिकतर शाम को बँगले पर ही।

मि० हेन का बँगला शहर से कुछ दूर हटकर मिलिंगटन रोड पर था, जिसपर आमद-रफ़्त ज़्यादा न थी। वहाँ मैं इतनी बार गया था कि आज भी उसकी याद आने पर उसका पूरा नक़्शा मेरी आँखों के आगे खड़ा हो जाता है। बँगला लाल ईंट का दुमंज़िला होकर भी छोटा था। प्रवेश द्वार आगे से न होकर बगल से था, जो एक पतली गैलरी में ले जाता था, जिसके सिरे पर ऊपर जाने का ज़ीना था। गैलरी के एक ओर था किचन, खाने का कमरा और मिसेज़ हेन के उठने-बैठने का कमरा, दूसरी ओर थी मि० हेन की काफ़ी कुशा-दह स्टडी, जिसका एक हिस्सा ड्राइंग रूम की तरह इस्तेमाल होता था। ऊपर की मंज़िल पर तीन बेडरूम थे। बँगले के आगे एक अच्छा-खासा लान था,

जिसके तीन ओर मौसमी फूलों की क्यारियाँ बनी थीं—बाग़बानी का काम मिस्टर और मिसेज़ हेन अपनी फ़ुरसत की घड़ियों में ख़ुद करते थे। पीछे सेब की एक छोटी बगीची थी जिसके पेड़, मि० हेन ने मुझे बताया था, उनकी पैतृक भूमि स्लाइगो (जहाँ ईट्स की ननिहाल थी) से लाकर लगाए गए थे। उसके सेबों को खाने का अवसर मुझे बहुत बार मिला था। उनके एक खास तरह के स्वाद, सुगंध (flavour) को मैं आज तक नहीं भूला।

मकान में केवल हेन-दम्पति रहते थे। उनकी बेटी अपनी शिक्षा समाप्त कर कनाडा चली गई थी, जहाँ वह किसी स्कूल में पढ़ाती थी, और बेटा केम्ब्रिज से ट्राइपास करने के बाद लंदन की किसी अच्छी फ़र्म में काम करने लगा था। दोनों उस समय तक अविवाहित थे। पर उनके विवाह के लिए चिंतित अथवा उत्सुक मैंने हेन-दम्पति को कभी नहीं देखा था। मिसेज़ हेन का नाम विवियन था, जिन्हें मि० हेन 'वी-वी' कहकर पुकारते थे और शुरू-शुरू में मैं समझता था कि वे शुद्ध हिंदुस्तानी शब्द 'बीवी' का प्रयोग करते हैं; अनुमान करता था कि यह शब्द शायद उन्होंने अपने भारत-प्रवास में किसी हिंदुस्तानी परिवार से सीखा होगा।

मैं हेन के यहाँ जाता तो उनकी स्टडी में बैठता, जिसकी दीवारें किताबों-भरी क़द्दे-आदम आलमारियों से ढकी थीं—हेन बताते कि उनमें बहुत-सी किताबें उनके पिता और पितामह के पुस्तकालय की हैं, कभी वे कोई-कोई निकालकर मुझे दिखाते भी। इंग्लैंड में किताबों की उम्र बड़ी होती है, उनपर जल्दी न तो मौसम का असर होता है और न उनमें कीड़े लगते हैं, शायद वहाँ की ठंडी आबोहवा के कारण। स्टडी में ईट्स की वृद्धावस्था की एक तस्वीर लगी थी जो मि० हेन ने अपने कैमरे से खींची थी और बाद को बड़ी करवाई थी। काम करने की मेज़-कुर्सी के अलावा उसमें एक गद्देदार आरामकुर्सी भी थी। हेन आते तो प्राय: आरामकुर्सी पर बैठते और मैं मेज़ वाली कुर्सी पर। मिसेज़ हेन एक ट्रे में चाय लाकर हमारे सामने रख जातीं, घर में कोई नौकर नहीं था, वे ख़ुद ही बनातीं। अपने प्रवास में मुझे कई अंग्रेज़ घरों में जाने का मौक़ा मिला, मैंने किसी के यहाँ घरेलू काम-काज करनेवाला नौकर नहीं देखा, गो वे अच्छी-ख़ासी माली हालत वालों के थे। कभी-कभी जब हमारी बातें ज्यादा देर खिंच जातीं और संध्या गहराने लगती तो मि० हेन कोई ड्रिंक लेते

—मदिरा, मेरे लिए कोई साफ़्ट-ड्रिंक मँगाई जाती। यदा-कदा जब हमारी बातें खत्म न होतीं और खाने का समय आ जाता तो मि० हेन मुझे खाने के लिए रोक लेते—इंग्लैंड में रात का खाना लोग जल्दी ही खाते हैं, यही कोई सात-साढ़े सात बजे, डिग में हम साढ़े छह बजे खाया करते थे। मिसेज़ हेन मेरे लिए जल्दी-जल्दी कोई शाकाहारी भोजन तैयार करतीं और बात हमारी खाने की मेज़ पर भी चलती जाती।

जब शोध-संबंधी बातें अधिक करने को न होतीं, या जल्दी खत्म हो जातीं तद-हेन ईट्स से अपनी मुलाक़ातों या उनके व्याख्यानों या उनकी गोष्ठियों के अनेक रोचक संस्मरण सुनाते। शायद ही कोई ऐसा प्रसंग हो जिसपर वे ईट्स की कुछ पंक्तियाँ नहीं उद्धृत कर सकते थे, उन्हें ईट्स की पचासों कविताएँ याद थी, किन्हीं-किन्हीं नाटकों के पूरे के पूरे कथोपकथन। कभी-कभी वे ईट्स की कविताओं को बड़े ही भावपूर्ण अथवा आवेशपूर्ण ढंग से सुनाते—उनकी कविताएँ रसात्मक (Sentimental) भी हैं और प्रवचन-परक (Rhetorical) भी। ईट्स की कविताएँ तो मैंने भी कई-कई बार पढ़ी थीं, उन दिनों अधिक ही पढ़ रहा था, पर मि० हेन के काव्य-पाठ से जो अर्थ खुलता, जो संकेत मिलते, जो भावों और विचारों का उद्बोधन होता वह मेरे लिए अभूतपूर्व था।

ईट्स अपने एक कथन को अक्सर दुहराते थे कि कविता मंत्र है—Incantation। एक दिन, मुझ याद है, हेन से इसी पर चर्चा चल पड़ी। हेन की यह धारणा मात्र नहीं, स्वयं उनकी खोज थी कि ईट्स यह मंत्र-प्रभाव शब्दों की अंतर्ध्वनि से उत्पन्न करते थे—बिना उनके अर्थों से किसी प्रकार का समझौता किए। उदाहरण के लिए उन्होंने ईट्स की वे पंक्तियाँ सुनाईं जो उन्होंने अपनी क़ब्र पर खुदवाने के लिए लिखी थीं—

Cast a cold eye
On life, on death.
Horseman pass by!

कास्ट ए कोल्ड आई
आन लाइफ़, आन डेथ.
हार्समन, पास बाई !

फिर इनमें प्रयुक्त शब्दों की अंतर्ध्वनि को उभारने के लिए, उनपर बल देने के लिए, उन्होंने इन पंक्तियों को इस प्रकार पढ़ा :

कास ए को
आई आन
लाई आन
डेथ हास
मन पास
बाई...

जब उन्होंने पंक्तियाँ समाप्त कीं तो ऐसा लगा कि जैसे अब कोई उनमें 'छू:' जोड़ दे तो तत्काल कोई जादू खड़ा हो जायगा। वास्तव में उस संध्या को ईट्स की पंक्तियों में मंत्र (Incantation) खोजने का स्वयं एक मंत्र मुझे मिल गया था।

हेन के पास ईट्स के काव्य-पाठ के कुछ रेकार्ड भी थे—उन्हींके स्वर में। ईट्स अपनी सभी कविताएँ स्वर-लय बद्ध कर पढ़ते थे, जिसे अपने यहाँ कहेंगे, तरन्नुम के साथ। कभी-कभी हेन उन्हें मुझे सुनाते, एक पुरानी चाल के ग्रामोफ़ोन पर बजाकर। ईट्स की कुछ कविताएँ अच्छे गायकों के स्वर में भी रेकार्ड की गई थीं, विशेष याद है इस गीत की 'O, who could have foretold that the heart grows old.' (किसने यह समझा था कि हृदय भी वृद्ध हो जाता है!) इस गीत की हू-ब-हू नक़ल मिसेज़ हेन अपनी आवाज़ में कर सकती थीं और एकाध बार इसे उनसे सुनने का अवसर भी मुझे मिला था। उनके एक गीत पर बैंड-ध्वनि भी बाँधी गई थी। गीत था— 'Down by the sally garden my love I did meet.' (मिली प्रेयसी मेरी मुझको उस सैलानी बाग़ में।)

ईट्स के संबंध में मैं बहुत-सी पुस्तकें, पत्रिकाएँ पढ़ रहा था, पर उन सबसे, मैं निःसंकोच कहना चाहूँगा, मुझे ईट्स को समझने में उतनी सहायता न मिली थी, जितनी हेन के साथ उनकी चर्चा में बिताई संध्याओं से। शोध की प्रक्रिया से गुज़रे हुए सभी लोग इस बात की हामी भरेंगे कि यह काम बहुत नीरस हो सकता है। कम से कम अपने शोध के संबंध में मुझे जो

१०-१२ घंटे रोज़ पढ़ना पड़ता था, वह तो महा नीरस था। वह तो ऐसा ही था जैसे रेगिस्तान में सफ़र करना—इसी शीर्षक से मैंने केम्ब्रिज में एक कविता लिखी थी,* शायद वह उसी अनुभव से प्रेरित हुई हो। सुनते हैं, रेगिस्तान के यात्रियों का यह अनुभव है कि महाबंजर, बालुए मैदानों के बीच में भी कहीं-कहीं हरियाली होती है, छायादार वृक्ष होते हैं, पानी के चश्मे होते हैं जिन्हें Oasis या शाद्वल भूमि कहते हैं। मैं अपने रेगिस्तान के सफर की शाद्वल भूमियाँ उन संध्याओं को कहना चाहूँगा जो मैंने मि० हेन के सान्निध्य में गुज़ारी थीं।

कभी मैंने पढ़ा था—'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।' मैं हमेशा सोचा करता था कि इसका लेखक काव्य को आनंद के लिए पर्याप्त नहीं मानत, काव्य के गुण-दोष विवेचन की चर्चा में सुख मानता है, काव्य का 'शास्त्र' तो वही हुआ। निश्चय इसका लेखक कोई काव्य-रसिक नहीं, किसी विद्यापीठ में पाठ्य-पुस्तक पढ़ाने वाला अध्यापक होगा। हेन के संपर्क में मुझ पर इस संस्कृत की पंक्ति का एक दूसरा ही अर्थ खुला। हेन के साथ 'काव्य' की भी चर्चा होती और 'शास्त्र' की भी—यानी शोध-संबंधी छान-बीन की, विश्लेषण-परीक्षण की। और यह मि० हेन जैसे कुशल कीमियागर का ही काम था कि वे 'काव्य' को 'शास्त्र' की चर्चा से ज्ञानमय और 'शास्त्र' को 'काव्य' की चर्चा से रसमय कर देते थे। हेन ने मेरे शोधार्थी को ही नहीं सँवारा, मेरे अध्येता और अध्यापक को भी, लेकिन इसका मुझे बड़ा खेद है कि उसका लाभ मुझे जिन्हें पहुँचाना था, उन्हें मैं न पहुँचा सका।

सृजन के संबंध में एक समस्या मेरे मन में बहुत दिनों से उठती रही है और उसपर मैंने बहुत सोचा-विचारा है, पर उसका कोई समाधान मुझे अब तक नहीं मिला। समस्या संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती है कि सृजन के लिए—और सृजन को मैं कविता लिखने तक ही सीमित न रखना चाहूँगा, इसके अंतर्गत शोध-प्रबंध जैसी चीज़ लिखना भी रखा जा सकता है—शांत मनस्थिति अधिक अनुकूल पड़ती है या उद्विग्न, यानी मन की उपशमित, विश्रांत स्थिति या तनाव-खिंचाव की स्थिति। दुनिया के सर्जकों ने शायद

*देखिए 'रेगिस्तान का सफ़र' शीर्षक कविता, मेरे काव्य-संग्रह 'बुद्ध और नाचघर' में।

दोनों मनस्थितियों में सृजन किया है। मैं स्वयं अपने सृजन की घड़ियों की याद करता हूँ तो लगता है कि मैंने दोनों स्थितियों में लिखा है। दोनों स्थितियों में सृजन की संभावना मान लें तो एक दूसरा सवाल उठता है कि किस स्थिति में सृजन ज़्यादा अच्छा होता है, और यहाँ मुझे भय है, सर्जक स्वयं निष्पक्ष निर्णय नहीं दे सकता। समीक्षक शायद बुरे-अच्छे या ज़्यादा अच्छे का विवेचन कर सकता है, किसी हद तक निष्पक्षता से भी, पर वह कैसे जानेगा कि कौन रचना किस मनस्थिति में की गई, जब तक कि सर्जक ही उसे इसका ज्ञान न करा दे। और सर्जक का ज्ञान सदा विश्वसनीय होगा, इसमें मुझे संदेह है। क्यों?

क्योंकि सृजन का क्षण सर्जक को अपनी सृष्टि में इतना डुबानेवाला होता है कि उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस मनस्थिति में है। सृजन बड़ी पेचीली प्रक्रिया है और मन पारे से भी अधिक चंचल। सृजन आरंभ होते ही, माध्यम कोई भी हो, सर्जक अपनी सृष्टि का अंग बन जाता है, और मेरा ऐसा अनुभव है, वह अपने मन की स्थिति का न स्वामी रह जाता है, न दास, न भोक्ता ही। सृजन की प्रेरक स्थिति को परिणाम, और परिणाम को सृजन की प्रेरक स्थिति समझना मन के लिए बाएँ हाथ का खेल है। हो सकता है, उद्विग्न मन विश्रांति पाने के लिए ही सृजन करता हो। अंग्रेज़ी में सृजन के लिए एक शब्द compose (कंपोज) करना भी प्रयुक्त होता है, विशेषकर संगीत के संदर्भ में। compose होने का अर्थ विश्रांति पाना भी है। शायद compose स्थिति पाने के लिए मन compose करना आरंभ करता हो या compose करते-करते मन composed (विश्रांत) हो जाता हो। एक ही शब्द के दो अर्थों के बीच कोई सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अनुभव नहीं छिपा, इसे मानने को मैं सहसा तैयार नहीं हो सकता। शायद सारा सृजन ही खिंचाव, तनाव अथवा उद्विग्नता की मनस्थिति की उपज हो, विश्रांत मन सृजन की झंझट में क्यों पड़ना चाहेगा, गो मन इतना अनग्रकथनीय (unpredictablel) है कि उससे यह बईद नहीं कि वह बैठे-बिठाए बुलाए कि आ बैल मुझे मार। फिर एक बात और समझ लेनी चाहिए, जो ज़्यादा बारीक है और शायद सर्जक के लिए ही अनुभवगम्य—सृजनशीलता अपनेआप में एक तनाव पैदा करती है—कलात्मक तनाव—भाव और अभिव्यक्ति के माध्यम के बीच। यह भी हो सकता है कि सर्जक वास्तविक तनाव के अभाव में, तनाव

का रस पाने के लिए अपने को एक कलात्मक तनाव में डाल देता हो—विश्रांति की स्थिति से तनाव की स्थिति अधिक जीवंत है, इतना तो मानना ही होगा, फिर उसके 'रस' में क्या आपत्ति हो सकती है !

एक और स्थिति हो सकती है। सृजन से विश्रांत मन के उद्विग्न होने की बात शायद ही कभी सुनी गई हो, विश्रांत मन संभवतः सृजन से परम शांति को उपलब्ध होता हो—शायद संत सर्जकों का ऐसा ही अनुभव हो, और कलात्मक या सृजनात्मक तनाव केवल उस परम शांति की पूर्व स्थिति—वास्तविकता तो यही है कि शांति का अनुभव परिपूर्ण तभी हो सकता है, जब उसकी पूर्व पीठिका में किसी तरह का तनाव हो, भले ही वह कलात्मक अथवा कृत्रिम ही क्यों न हो।

इस ऊहापोह में तुलसीदास हमारी कुछ सहायता कर सकते हैं। 'मानस' तो सृजन ही कहा जायगा। उसके सृजन के हेतु में तुलसीदास ने दो बातें कहीं—'स्वांतः सुखाय' और 'स्वांतस्तमः शांतये'। 'सुख' से शांति का अर्थ सहज ही ले सकते हैं, 'तम' से उद्विग्नता, खिचाव, तनाव, अशांति का। कह सकते हैं कि तुलसी ने स्वांतः तम से सृजन आरंभ किया, और सृजन करते-करते स्वांतः सुख को उपलब्ध हुए, गो तुलसीदास ने मानस के आरंभ में 'स्वांतः सुखाय' लिखा, और अंत में 'स्वांतस्तमः शांतयेः'। सृजन की यात्रा में यह बिलकुल संभव है कि यात्री प्रस्थान-बिंदु पर लक्ष्य की ओर देखे और लक्ष्य पर पहुँचने पर उलटकर प्रस्थान-बिंदु की ओर।

आप पूछ सकते हैं कि यहाँ इतने विस्तार से सृजन की इस प्रक्रिया की चर्चा करने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? मैं आपसे एक वाक्य में कहना चाहता था कि केम्ब्रिज में चाहे मैंने कविता लिखी, चाहे डायरी, चाहे शोध-प्रबंध, सिवा एकाध अपवाद के, सब कुछ मैंने एक तनाव की स्थिति में किया। हो सकता है, जैसा कि मैंने ऊपर सुझाव दिया है, उस तनाव से मुक्ति पाने को ही मेरा मन यह सब सृजन करता रहा। तनाव की स्थिति में जो लिखा गया, वह किस स्तर का है ? वही बग़ैर-तनाव की स्थिति में लिखा जाता तो कैसा होता ? तनाव की स्थिति में सृजन न किया जाता तो मेरे मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता ?—आदि कई प्रश्न हैं, जिनपर आप भी सोच सकते हैं।

केम्ब्रिज में लिखी मेरी कविताएँ तीन संग्रहों में आ चुकी हैं, डायरी भी

प्रकाशित हो चुकी है, मेरे शोध-प्रबंध के दो संस्करण हो चुके हैं। इनका आपकी दृष्टि में कुछ मूल्य हो तो उनके पीछे जो तनाव रहे हैं, शायद उनके प्रति भी आपका कौतूहल हो।

अपनी मुझ पर—सर्वथैव—निर्भरा पत्नी और अपने दो छोटे-छोटे, प्यारे-प्यारे बच्चों को छोड़कर दो बरस के लिए सात समुंदर पार जा बैठने से जो तनाव मेरे मन में हो सकता था, उसे मैं कितनी ही बार दोहराऊँ, कितनी ही तरह से, उसका पूरा आभास मैं आपको नहीं करा सकता। इसलिए उसे मैं आपकी ही कल्पना पर छोड़ता हूँ। मेरे लिए और तरह के भी तनाव थे। उन तनावों के लिए समय पर मैंने समाज-संसार से लेकर नियति-नियंता तक सब को कोसा था। अब समय बीत जाने पर, मैं ऐसा समझने लगा हूँ कि तब जो कुछ मैं उपलब्ध कर सका, चाहे शोध-साफल्य के रूप में, चाहे काव्य के रूप में, चाहे गद्य-रचना के रूप में, वह सब उन तनावों के कारण ही संभव हो सका—उनकी चुनौती स्वीकार करने से, उनके साथ संघर्ष करने से, उनसे पराजित न होने से और उनकी कटुता और कठोरता से भी अपने लिए—शायद औरों के लिए भी—कुछ प्रेरक, कुछ उत्साहवर्धक सँजो लेने से—

Then, welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough,
Each sting that bids nor sit nor stand
But go!

तो फिर हर अड़ंगे का स्वागत,
जो ज़िंदगी के चौरस रास्ते को ऊबड़-खाबड़
बना देता है,
हर ठोकर का (स्वागत), जो कहती है, न बैठो,
न खड़े रहो,
बस आगे बढ़ते चलो।

मुझे २४ महीने प्रवास में रहने और पढ़ाई के खर्च की आवश्यकता थी, और मैं दस महीने का केवल रहने-रहने का खर्च फीस में रखकर केम्ब्रिज में बैठा था। जिसे मोटर से किसी ऐसे लंबे सफ़र पर जाना हो, जिसके रास्ते में

पेट्रोल मिलने की कोई संभावना न हो, वह निश्चिततापूर्वक तभी अपनी कार चला सकता है, जब उसका टैंक फ़ुल हो। और जिसका टैंक फ़ुल न हो, उसकी आशंका और भय का अनुमान सहज ही किया जा सकता है—न जाने कब कहाँ पेट्रोल खत्म हो जाय और उसे अपनी यात्रा स्थगित कर देनी पड़े। क्या ऐसी मनस्थिति शोध जैसे एकाग्रता माँगनेवाले काम के लिए अनुकूल हो सकती थी ?

दो वर्ष केम्ब्रिज में रहने की योजना बनाने के पूर्व मैंने कुछ इस प्रकार सोचकर अपने को आश्वस्त कर लिया था—बी० एन० कौल ने जिस राशि को इंडिया हाउस के द्वारा भेजने का वादा किया था, उसे वे वित्तीय वर्ष के अंत में भेजवा हीं देंगे, जिससे मुझे पाँच महीने और रहने का खर्च मिल जायगा। बाक़ी १०,०००/= रुपये जो मुझे नौ महीने और केम्ब्रिज में रहने, कालेज की फ़ीस देने, और वापसी सफ़र के लिए चाहिए, उसके लिए मैं शिक्षा मंत्रालय को प्रार्थनापत्र भेजूंगा। नेहरू जी ने मौलाना आज़ाद से मेरा परिचय करा दिया था, मेरी 'बोनाफ़ाइड'—हिंदी में क्या कहेंगे, 'नाम-काम-धाम' ?—की तसदीक़ कर दी थी, केम्ब्रिज मैं किसलिए जा रहा था, यह भी उन्हें बता दिया था, साथ ही मेरे प्रति अपनी कृपा नहीं तो सहानुभूति और मेरे कार्य के प्रति अपनी अभिरुचि का संकेत कर दिया था। मैं आशा कर सकता था कि मेरे प्रार्थनापत्र पर अवश्य ध्यान दिया जायगा, पर शिक्षा-मंत्रालय से उत्तर की प्रत्याशा में केवल दिन बीतते रहे, याद दिहानी के पत्रों का भी कोई असर न हुआ। अंततोगत्वा मैंने नेहरू जी को लिखा, पर पत्र जाने और उत्तर आने की संभाव्य अवधि के बाद मैंने केवल प्रतीक्षा और निराशा के दिन ही गिने। कारण क्या था ?

मेरे एक मित्र थे जो शिक्षा मंत्रालय में काफ़ी ऊँचे पद पर काम कर रहे थे। उन दिनों उनकी पोस्टिंग अमरीका-स्थित भारतीय राजदूतावास के शिक्षा विभाग में हो गई थी, वे श्रीमती पंडित के प्रिय पात्रों में थे, जो उस समय वहाँ राजदूत थीं।

मित्र किसी निजी या सरकारी काम से भारत जा रहे थे और दो-चार दिनों के लिए लंदन रुके थे। मुझे उनके कार्यक्रम का पता लगा तो मैं लंदन जाकर उनसे मिला। कई घंटे उनके साथ रहा, बहुत दिनों बाद उनसे मिलना

हुआ था, अपने-अपने अतीत, वर्तमान, और भविष्य की योजनाओं के विषय में एक-दूसरे को बहुत कुछ कहना-सुनना था।

मैं अपना शोध-कार्य पूरा करने को दो वर्ष केम्ब्रिज में रह रहा हूँ, मेरी इस बात को उन्होंने कुछ संदेह की मुद्रा से सुना, जैसे भीतर-भीतर कह रहे हों, ग़ैरों से कहने के लिए यह अच्छा है, पर अपने दोस्त से ही क्यों छिपाने की कोशिश करते हो ?

आख़िर उनसे न रहा गया। बोले, 'अमरीका में फ़लाँ से तो तुम्हारे बारे में मैं कुछ और ही सुनकर आया हूँ कि तेजी से तुम्हारा विवाह-संबंध विच्छेद होने की सीमा पर पहुँच गया है, कि तुम इलाहाबाद की एक मुसलमान लड़की के प्रेम में हो जो आजकल इंग्लैंड में है और उसीके साथ शादी करके तुम यहीं व्यवस्थित होना चाहते हो, कि तेजी के भरण-पोषण के लिए तुमने कुछ भी वहाँ नहीं छोड़ा, यहाँ तक कि अपने छोटे-छोटे बच्चों का भी कुछ ख्याल नहीं किया। इसीलिए तेजी किसी प्रकार की नौकरी की खोज में है।'···

मेरी स्मृति सहसा बारह बरस पीछे जाकर घटनाओं के अंबार को खुलिहारने लगी।

उस मुसलमान लड़की का जन्म एक उदार संभ्रांत परिवार में हुआ था, शिक्षा उसकी कान्वेन्ट में हुई थी, पर विवाह उसका एक निहायत दक़ियानूसी परिवार में हो गया। ससुराल कारागार हो गई, जिससे निकलने को वह तड़प रही थी। तभी किसीने उसका परिचय मुझसे कराया था। परिचय ने निकटता का रूप लिया। किसी क्षण में अपनी बेड़ियों से त्राण पाने को उसने मेरी ओर भी देखा था, संभवतः मुझे अपने उन दिनों के अंधकार से त्राण दिलाने के लिए भी। और एक-दो बार उसने मेरे ९-ए, बेली रोड में आकर मेरे एकाकीपन को सहलाया भी था। उसके आगे कुछ नहीं···

क्या मैंने उसकी चर्चा कभी किसी से की थी ? की हो तो कुछ अस्वाभाविक नहीं। किसी ख़ास नारी से उपेक्षित हो, किसी आम नारी को आकर्षित करने का गर्व पुरुष शायद ही छिपा पाता हो। घटित ठहर गया था पर कथित चलता गया था। कहानियाँ मेरे साथ 'मधुशाला' की रचना के समय से ही जुड़ने लगी थीं और कभी-कभी वे बड़ी ही अजीबो-ग़रीब शक्ल में मेरे कानों तक पहुँचती थीं और एक दिन उनसे खिन्न होकर मैंने लिखा

था, 'आकुल अंतर' की पंक्ति है, 'नहीं यह कोई बात नई; जहाँ कहीं मैं गया कहानी मेरे साथ गई।'

मैंने मित्र को विश्वास दिलाया कि जो उन्होंने सुना है उसमें कोई तत्व नहीं। बातें बहुत से कानों, ज़बानों पर उतरती-चढ़ती एकदम विकृत हो गई हैं। मेरे लिए तो कब की समाप्त, पर मुझमें रुचि रखनेवाले न जाने किस कारण उन्हें अपनी स्मृति में बनाए, दुहराए, अदलते-बदलते चले जाते हैं।

मित्र को मेरी बातों पर विश्वास नहीं हुआ।

किसी अन्य परिस्थिति में मित्र की बात सुनकर शायद मैं हँसकर टाल देता। पर उन दिनों मैं जिन मानसिक तनावों में था, उसमें मैं बहुत उद्विग्न हुआ। अब तो उस उद्विग्नता की साक्षी 'कड़ुआ अनुभव'* की पंक्तियाँ हैं जो मैंने उस समय लिखी थी।

कुछ दिनों के बाद मित्र वही कहानी दिल्ली की एक पार्टी में सुना रहे थे जिसमें नेहरू-पंडित परिवार के सदस्य उपस्थित थे।

सुनने वालों में थे इलाहाबाद के मेरे एक मित्र भी।

उन्होंने वहाँ से लौटकर सारी बातें तेजी को बताईं।

तेजी अपनी छोटी-मोटी परेशानियाँ, जो दिनानुदिन के जीवन में खड़ी ही हुआ करती थीं, मुझे न लिखती थीं, पर इस अफ़वाह को वे मुझसे न छिपा सकीं।

मुझमें उनका इतना दृढ़ विश्वास था कि इस पर अपनी प्रतिक्रिया बतलाते हुए उन्होंने मुझे लिखा था कि अगर ईश्वर भी आकर मेरे सामने ऐसा कहता तो मैं उससे फ़ौरन कहती कि तू झूठा है।

फिर भी उसकी सच्चाई की आशंका का एक सूक्ष्म सूत्र उनके पत्र में मौजूद था, जिसने उनकी शब्दावली को कातर कर दिया था।

तेजी की तेज़ी—जो वे कभी-कभी दिखा ही जाती थीं—तो मैं बर्दाश्त कर जाता था, वह मुझे प्रिय भी हो गई थी पर उनकी विनम्रता, उनका दैन्य भाव, उनके साश्रु नयन मेरे लिए असह्य थे। मैंने तेजी को एक छोटा-सा पत्र

*देखिए 'कड़ुआ अनुभव' शीर्षक कविता, मेरे काव्य संग्रह 'बुद्ध और नाचघर' में।

लिखा, पर एक-एक शब्द जैसे अपने रक्त से कि उनकी सच्चाई में मेरे शत्रु को भी संदेह न हो।

पर उन्हें आश्वस्त करने से अधिक मैं स्वयं अपने को आश्वस्त करना चाहता था।

मित्र ने कहाँ-कहाँ यह कहानी न सुनाई होगी? क्या शिक्षा मन्त्रालय में भी नहीं?

क्या उन्हें पता न होगा कि मेरा प्रार्थनापत्र वहाँ पहुँचा था, एक बड़ी आवश्यक माँग के लिए, जिस पर मेरा भविष्य निर्भर था?

क्या उन्हें इसका ध्यान न होगा कि यह कहानी मेरे कितने विरुद्ध जायगी?

क्या वे जानबूझकर मेरा अहित करना चाहते थे?

क्या मैंने कभी उनका अहित किया था, और वे मुझसे अपना बदला चुका रहे थे?

नहीं, नहीं, मैंने उनके साथ कुछ असाधारण भलाई की थी। इसीलिए मेरे साथ कुछ बुरा करना उनके लिए स्वाभाविक था:

हमें भी आ पड़ा है दोस्तों से काम कुछ यानी
हमारे दोस्तों के बेवफ़ा होने का वक़्त आया। (हरीचंद अख़्तर)

मनस्विद कहते हैं, जिसके साथ तुम उपकार करते हो, वह दबता है, हीन भावना ग्रस्त होता है, अपने में अपमानित, लज्जित अनुभव करता है और इस कारण वह तुम्हें अपमानित-लज्जित करने का अवसर ढूँढ़ता है। किसी के प्रति कुछ उपकार करो तो उसे भी अपने प्रति कुछ उपकार करने का अवसर दो, वर्ना तुम उसे अपकार करने का अवसर दोगे। कहते हैं, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की किसी ने बड़ी बुराई की तो उन्होंने अपनी डायरी खोलकर देखी कि आश्चर्य है, इस आदमी के साथ तो मैंने कभी कोई भलाई नहीं की।

शिक्षा मंत्रालय और प्रधानमंत्री-सचिवालय के मौन का रहस्य खुल गया। मेरी कहानी की प्रतिध्वनियाँ शायद वहाँ पहुँच गई थीं। एक कहावत प्रसिद्ध है, अफ़सर के आँख नहीं होती, केवल कान होते हैं।

कुछ दिनों बाद शिक्षा मंत्रालय से पत्र मिला, सौ पौंड आपके लिए भेजे

जा रहे हैं, अगर विदेश में अपने ख़र्च पर आप अपनी पढ़ाई न कर सके तो इस राशि से अपने लौटने का प्रबंध कर लें।

प्रधानमंत्री-सचिवालय से पत्र मिला कि आपसे दो सौ पौंड भिजवाने का जो वादा किया गया था, वह भेजा जा रहा है, आगे यहाँ से किसी प्रकार की सहायता की आशा न रक्खें।

बीबी का हाथ पकड़कर तो मैंने पहुँचा पकड़ लिया था, पर जब मैंने सरकार का हाथ पकड़कर पहुँचा पकड़ना चाहा तो उसने हाथ झटक कर अँगूठा थमा दिया। क्या उसके कानों में मित्र ने कुछ कह दिया था?

मेरा अनुमान ग़लत नहीं था।

सबूत जल्दी मिल गया।

थोड़े दिनों बाद नेहरू जी केम्ब्रिज आए। अवसर था—रानी एलिज़ाबेथ द्वितीय का राज्यारोहण समारोह। उन्हें उस अवसर पर केम्ब्रिज युनिवर्सिटी की तरफ़ से डाक्टर आफ़ ला की मानद उपाधि दी गई थी, टामस मन को डाक्टर आफ़ लिटरेचर की, ऐसी उपाधियाँ पानेवालों में और कई विश्व-विख्यात विभूतियाँ थीं।

मैंने पंडित जी से मिलने का समय माँगा। खड़े-खड़े दो मिनट उन्होंने मुझसे बात की—उनकी मुद्रा से मुझे लगा, जैसे उन्हें मेरे बारे में कुछ संदेह हो, पर जिसका निवारण वे मुझसे ही कर लेना चाहते हों, साथ ही ऐसी सहज मुसकान बिखेरते हुए जिसके सम्मोहन में केवल सच-सच कहना ही संभव हो।

'तुम अभी तक यहीं हो! पहले तो इतने दिन ठहरने का इरादा नहीं था! क्या कर रहे हो यहाँ पर?'

'यहीं पर अपना शोध-कार्य पूरा कर लेने का इरादा बन गया और उसके लिए यहाँ दो बरस रहना ज़रूरी है।'

'मैंने तो कुछ और बातें सुनी हैं तुम्हारे बारे में।'

इस वाक्य के साथ पंडित जी ने सीधे मेरी आँखों में अपनी आँखें डालीं, जैसे वे मेरे बिना कुछ कहे हुए भी मेरे मन की बात जान लेंगे।

काश, उनके पास कुछ समय होता और अकेले में बैठकर मैं उनको अपनी तरफ़ से सफ़ाई दे सकता। पर समय उनके चारों ओर तेज़ी से भाग-दौड़ रहा था। कितने ही लोग थोड़े-से फ़ासले पर खड़े थे, उनकी ओर उत्सुकता से

देखते हुए कि वे उन्हें परिचय-पहचान की मुस्कान दें और वे उनसे दो बातें कर लें। मेरे मुँह से सिर्फ़ एक वाक्य निकला था—

'सच्चाई किसी दिन खुलेगी…।'

मेरे इन शब्दों से उनकी सुनी हुई बातों का प्रतिकार उनके चेहरे पर रजिस्टर हो, इसके पूर्व ही पास खड़ी किसी लड़की ने अपनी आटो-ग्राफ़ बुक उनकी ओर बढ़ा दी थी, और नेहरू जी ने उसपर अपने हस्ताक्षर करने के बजाय उसके गाल पर एक हल्की-सी चपत लगा दी थी। मैं उन्हें प्रणाम कर पीछे हट आया था। उस चपत में क्या मेरे लिए भी कुछ संकेत था?

फिर मैंने आर्थिक सहायता के लिए न उन्हे लिखा, न शिक्षा मंत्रालय को।

केम्ब्रिज में दो बरस रहकर वहीं अपना शोध-कार्य पूर्ण करने की योजना मैंने जिस आर्थिक आधार पर बनाई थी, वह मुझे इस तरह दग़ा दे जायगी, इसकी कल्पना मैंने नहीं की थी, फिर भी केवल आर्थिक कारणों से मैं अपनी योजना को छोड़ने के लिए तैयार न था। इस योजना को पूर्ण करने के लिए बहुत-सी ऐसी बातें करनी थीं जिनमें अर्थ की बड़ी से बड़ी राशि सहायक नहीं हो सकती थी। उनके लिए अपने को तैयार करके, उनके लिए अपने में क्षमता का विश्वास जगा करके, उनके लिए अपने निकटस्थों से वांछित सहयोग का आश्वासन पा करके यदि मैं कुछ चाँदी के टुकड़ों के अभाव में अपनी योजना को अधूरी छोड़ने के लिए बाध्य होता तो इसे मैं अपने जीवन की सबसे दयनीय त्रासदी समझता।

फिर भी इतना तो सीख ही चुका था कि दुनिया में जहाँ चाँदी के टुकड़े काम आते हैं, वहाँ कोई दूसरी चीज़ काम नहीं आती।

मेरे कार्य ने मेरी योग्यता-क्षमता को चुनौती पहले ही दे रखी थी। अब दुनिया ने मेरे चरित्र को भी चुनौती दी थी। इस कलंक को मैं अपने कार्य की सफलता से ही धो सकता था। मैंने निश्चय किया, अब मैं अपने बल पर उन चाँदी के टुकड़ों को जुटाऊँगा जो मेरे काम के लिए आवश्यक हैं :

'निज भुज बल मैं बैर बढ़ावा'

मैंने अपने क़लम की ओर देखा।

जो अप्रत्याशित परिस्थिति मेरे सामने आ पड़ी थी, उसकी चुनौती तेजी ने अपने स्वभाव के अनुरूप और ज़्यादा तेज़ी से ली। उन्होंने फ़ौरन मुझे लिखा, आप अपना काम करते जाएँ, आपको जितने ख़र्च की ज़रूरत पड़ेगी, मैं आपको भेजूंगी।

शायद उन्होंने अपने ज़ेवरों की ओर देखा।

मैंने अपने प्रकाशक से 'सोपान' के प्रकाशन की बात फिर चलाई। अगर वे ५०००/= अग्रिम रायल्टी नहीं दे सकते तो कुछ कम कर सकते हैं। बात ३०००/= पर तै हो गई। तेज़ी ने २०००/= अपने पास से मिलाकर मुझे ५०००/= भेज दिए। उन्होंने तो और भेजने का आश्वासन दिया था, पर मैंने यह अंतिम राशि उनसे ली, मेरा अंदाज़ था, अब कम ही पैसे उनके पास बचे होंगे। अब अधिक से अधिक किफ़ायत करके देखना था कि अपने अनुमान से कितने कम पर मैं अपना काम चला सकता हूँ, गो अपने क़लम के बल पर कुछ और कमा सकने की योजना भी मेरे दिमाग़ में चल रही थी।

केम्ब्रिज में अपने काव्य-सृजन की चर्चा मैंने अभी तक नहीं की, पर इस दर्जे पर वह अनिवार्य हो उठी है।

मैंने 'नीड़ का निर्माण फिर' में संकेत किया था कि मैं अपनी प्रस्तावित 'प्रणय पत्रिका' के द्वारा राग का एक दर्शन प्रतिपादित करना चाहता था। मेरी वह योजना पूरी नहीं हुई। आज लगता है कि बहुत अच्छा हुआ जो मेरी वह योजना पूरी नहीं हुई। मैं एक बड़ा ख़तरनाक काम करने जा रहा था। दर्शन कितना ही गंभीर-सूक्ष्म क्यों न हो, वह जीवन नहीं हो सकता; जीवन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। दर्शन के प्रतिपादन में इस बात का बड़ा भय था, संभावना तो थी ही कि मेरा सृजन वैचारिक अथवा मानसिक स्तर से होने लगता, अनुभूतियों के अथवा जैविक प्राणों के स्तर के विपरीत। उस स्तर से मैंने कभी नहीं लिखा था, लिखता तो निश्चय असफल होता, कम से कम मुझे तो उससे संतोष न होता। उसमें बारीकी होती, कला होती, अभिव्यक्ति की सफ़ाई होती, परिष्कार-निखार होता, एक स्वीकृत, मान्यताप्राप्त मानदंड से शायद उसे उच्च कोटि की कविता की श्रेणी में मान लिया जाता, ऊँची कक्षाओं के पाठ्यक्रम में रखने योग्य, पर उसमें ज़िंदगी का सबूत देने वाली साँसें न

होतीं, उसके पदों, उसकी लयों में रक्त दौड़ता हुआ न प्रतीत होता, उसके वाङ्मय शरीर में जीवन का ताप न महसूस होता—जीवन का स्पंदन। विदेश पहुँचने पर मेरी जिन मानसिक अथवा भौतिक परिस्थितियों ने मुझे लिखने को विवश किया, उन्होंने और कुछ न किया हो, एक बार फिर मुझे जीवन से जोड़ दिया। मैं जीवन की खुरदुराहट को, यहाँ तक कि उसके भदेसपन (भनिति भदेस) को कला की चिकनाहट पर तरजीह देता हूँ, दर्शन की अरूपता, वायवीयता पर तो सौ-सौ बार। जीवन का जीवंत स्वर ही कविता, नहीं तो कविता मुझे बख्शे।

मेरे अंदर कहीं जो एक ठोस कर्मठ बैठा है, वह कविता को—काव्य-रचना को—जीवन का विलास (Luxury) मात्र समझता है। जब वह जागता है, सक्रिय होता है, तब वह मेरे कवि को एक कोने में ले जाकर बिठा देता है—अब आप थोड़ी देर के लिए चुप रहिए। पर मेरा कवि भी बड़ा ज़िद्दी है, मेरा कर्मठ ज़रा-सा ग़ाफ़िल हुआ नहीं कि वह खिसक कर बीच कमरे में पहुँच जाता है और अपना राग अलापने लगता है। 'अपना' कहने में ही भूल हो गई। राग उसका अपना नहीं होता। उसमें मेरा कर्मठ अपने ही अंतर की प्रतिध्वनि सुनने लगता है, इसलिए उसका विरोध नहीं कर पाता।

एम० ए० (फ़ाइनल) की तैयारी करते समय, मेरे पाठकों को याद होगा, मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि अब जब तक परीक्षाएँ समाप्त नहीं हो जातीं, मैं कविताओं को हाथ नहीं लगाऊँगा, पर नतीजा क्या हुआ था? परीक्षा के ठीक पहले कविता की पंक्तियाँ मेरे दिमाग़ में गूंजने लगी थीं और बिना उन्हें रूप दिए मैं अपने मन को पाठ्यक्रम की ओर एकाग्र नहीं कर पाता था।

बारह बरस बाद मैं वही ग़लती फिर दुहराने चला था।

मैं एक सीमित समय में एक सीमित उद्देश्य पूरा करने के लिए विदेश जा रहा था। मैंने समझा था कि मैं अपने शोधक, अध्यापक, अधिक से अधिक कविता के विद्यार्थी-पारखी को साथ लेकर जा रहा हूँ, अपने कवि को पीछे ही छोड़े जा रहा हूँ, पर मेरा कवि मेरे दिमाग़ की किसी परत में छिपकर केम्ब्रिज पहुँच गया था।

हवाई जहाज़ी यात्रा के कारण जिस तेजी से मैं अपने स्नेह-सुगठित परिवार से बीस घंटे के अंदर छह हज़ार मील की दूरी पर फेंक दिया गया था,

उसमें मेरा भावाकुल होना स्वाभाविक था। अगर मैं चौबीस-पचीस की रूमानी उम्र में अपने को ऐसी स्थिति में पाता तो बड़े आँसू बहाता, बड़ी आहें भरता, रामगिरि आश्रम में पड़े विरही यक्ष के समान। यक्ष निश्चय अपनी जवानी में शापग्रस्त हुआ होगा। कहते हैं, यक्ष सदा जवान रहते हैं। न भी होते तो कालिदास उन्हें बना देते। कम से कम अपने यक्ष को उन्होंने ऐसा ही बना दिया है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि अपनी ४५ वर्ष की अवस्था में मैं कम भावुक या कम भावप्रवण हो गया था, पर मेरा विवेक इतना अवश्य जग गया था कि भावनाओं पर अंकुश लगा सके, उन्हें अपने इच्छाबल से दबाकर रख सके। और इन्हीं दबी भावनाओं की परतों में ही तो मेरे कवि को छिपने की जगह मिल गई। भावनाएँ एक सीमा के बाद कोई दबाव सहन नहीं कर पातीं, और जब-जब ये सीमाएँ टूटीं, मेरे कवि को शब्दों में मुखरित होना पड़ा।

मुझे अच्छी तरह याद है, केम्ब्रिज में मैंने अपनी पहली कविता विश्वा के जन्मदिन पर लिखी थी।* 'कवियों की क़ौम होती है बड़ी बदज़ात, लिखें वे किसी पर, करते हैं अपनी ही बात।'—इस कविता में भी मैंने जीवन में गंभीरता की वकालत की थी, जो मेरे स्वभाव का अंग थी ही, और जिसे केम्ब्रिज के गंभीर वातावरण में और प्रश्रय मिला था। विश्वा और उनकी पत्नी कमला ने जो स्नेह, सद्भाव, समादर मेरे प्रति दिखाया था, उससे मैं दिन-प्रतिदिन उनके निकट आता गया था। किसी दिन, न जाने किस प्रसंग में, विश्वा के जन्मदिन की चर्चा आ गई और अनायास मेरे मुंह से निकल गया, 'विश्वा, तुम्हारे जन्मदिन पर मैं तुम्हें एक कविता लिखकर दूंगा।'

कविता क्या मैंने लिखकर दी, पंडोरा का बाक्स ही खोल दिया। यूनानी दंतकथा के अनुसार पंडोरा एक स्वर्ग-बाला थी, जिसे देवताओं ने प्रोमीथियस के भाई एपीमीथियास की पत्नी के रूप में भेजा था और दहेज में उसे एक संदूक़ दिया था पर उसे खोलने की मनाही कर दी थी। नारी-सुलभ कौतूहल से एक दिन पंडोरा ने यह देखने को कि उस वर्जित बाक्स के अंदर क्या है—वर्जित फल में एक अतिरिक्त आकर्षण होता ही है—उसका ढक्कन उठा दिया था और मानव की सारी आपदा-विपदाएँ उसके अंदर से निकल-निकलकर

*देखें '''का जन्मदिन' शीर्षक कविता, 'बुद्ध और नाचघर' में।

संसार में फैल गई थीं। सब के नीचे 'आशा' थी। इसके पूर्व कि वह भी निकले, पंडोरा ने ढक्कन छोड़ दिया था, और वही 'आशा' अब मनुष्य की सारी दुरवस्थाओं में उसे सँभालती है। विश्वा के जन्मदिन पर लिखी रचना से मैंने कविता के बाक्स का ढक्कन ढीला कर दिया था और अपने प्रवास भर उसे बंद न कर सका। जैसे पंडोरा के बाक्स से 'आशा' मात्र न निकल पाई थी, वैसे ही मेरे बाक्स से भी शोध-कार्य पूरा करने की लगन न निकल पाई थी। उसीने मेरी काव्य-रचना पर यत्किंचित नियंत्रण रक्खा, वर्ना मैं थीसिस लिखने के बजाय दो-चार कापियाँ कविता से भरकर लौट आता, और लोगों को कहने का मौक़ा मिलता—'गए रहे हरि भजन को ओटन लगे कपास।' ग़नीमत यह हुई कि मैं हरि-भजन भी करके लौटा और 'कपास ओटन' करके भी, पर इन दोनों में कितनी कशमकश मैंने झेली, इसे मैं ही जानता हूँ।

हरि-भजन तो बड़ा सरस हो सकता है, पर अपने शोध के संबंध में अतार्किकता का जो साहित्य मुझे पढ़ना पड़ता था, उससे अधिक शुष्क और नीरस से कभी मेरा साबक़ा न पड़ा था। वह तो मरुभूमि के बीच यात्रा करने जैसी अनुभूति थी, जहाँ न कहीं हरी घास, न शीतल छाया, न कहीं जल-धार, न विहगों का स्वर-विहार, न कोई संगी, न साथी। ऐसे यात्री के लिए अपना मन बहलाने को कभी-कभी गा लेना कितना ज़रूरी था! उस परिस्थिति में अपने को रखकर ही शायद यह महसूस किया जा सके कि

'होगा सबसे बड़ा वरदान
मेरे सफ़र में गाया हुआ गान'

और कुछ ऐसी घटनाएँ भी घटती रहीं, अपने सर्वथा प्रतिकूल, सर्वथा विरुद्ध, और उनका प्रतिकार करने में मैं अपने को सर्वथा असमर्थ पाता रहा, सिवा इसके कि अपने कुछ शब्दों से अपने भीतर की भड़ास निकाल लूँ या अपने अंदर किसी सैद्धान्तिक शक्ति की संचार कर लूँ। मेरे मित्र ने मेरे बारे में जो अफ़वाहें फैलाई थीं और उनका जो दुष्परिणाम मुझे भोगना पड़ा था, वे ऐसी ही घटनाएँ थीं और उन्हींकी प्रतिक्रिया में 'कड़ुआ अनुभव' और 'दोस्तों के सदमे' जैसी कविताएँ लिखी गई थीं।*

*देखिए : 'बुद्ध और नाचघर'।

मैंने केम्ब्रिज-प्रवास में सौ से ऊपर कविताएँ लिखीं। आप घबराएँ नहीं कि मैं हर एक कविता की पृष्ठभूमि आपको बताने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि केवल कविताओं की बातें बहुत-से लोगों को रुचिकर नहीं होतीं। 'नीड़ का निर्माण फिर' के बहुत से पाठकों की यही शिकायत थी कि उसमें मैं अपने कवि के प्रति अधिक सचेत हो गया हूँ। मैं यहाँ केवल एक ही बात कहना चाहता हूँ कि केम्ब्रिज में बैठकर मैंने जितनी भी कविताएँ लिखीं, हर एक के पीछे एक ठोस घटना है, ठोस जीवनानुभूति है, ठोस पृष्ठभूमि है, ठोस मनोभूमि है—और यह बात मेरी प्रायः सभी कविताओं पर लागू है। इस आधार से जो अभिव्यक्ति हुई है, उसे कोई कविता माने, न माने, अच्छी कविता माने या बुरी कविता माने, मेरे लिए कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मैंने अपनी भावनाओं के विस्फोट से, अनुभूतियों की कचोट से ही अपना क़लम चलाया है, अपनी ज़बान खोली है। क़लम चलाने और ज़बान खोलने की कला की अनेक श्रेणियाँ हैं, इससे मैं अनभिज्ञ नहीं हूँ। आप श्रेणियों की ऊँचाई-नीचाई की जाँच-पड़ताल करें, मैं तो जीवन की सच्चाइयों से चिपका अभिव्यंजन-कला की निम्नतम श्रेणियों पर भी संतुष्ट हूँ। सच कहूँ तो जीवन की कविता को सँवारने से कभी मुझे फ़ुरसत ही न मिल सकी कि शब्दों की कविता को सँवारूँ। वह तो सहज-स्वाभाविक गति से जैसी निकल गई, निकल गई।

केम्ब्रिज में हर बार कविता लिखकर मुझमें एक अपराध की भावना जागती थी कि जो समय मुझे शोध-कार्य को देना था, वह मैं अन्यायतः कविता को दे रहा हूँ, फिर भी मैंने काव्य-प्रेरणा के क्षणों पर अधिक नियंत्रण नहीं रखा था। मेरे पास जितने पैसे थे, उतने से काम न चला तो मुझे अपना एक और संग्रह तैयार कर रखना था, अग्रिम रायल्टी पर देने को या उसका कापीराइट बेच देने को। कुछ छंदोबद्ध कविताएँ केम्ब्रिज आने के पूर्व मैंने लिख रखी थीं, केम्ब्रिज में मैंने कुछ मुक्त छंद की कविताएँ लिखीं। सोचा था, दोनों को मिलाकर, कुछ अजीब-सा नाम देकर, 'कुछ टूटे कुछ साबित' छपने के लिए तैयार कर दूंगा। सद्यः उपयोग इन कविताओं का यह भी था कि इन्हें भारत भेज देता था और वे वहाँ के मासिक-साप्ताहिकों में प्रकाशित हो जाती थीं और उनका थोड़ा-बहुत पारिश्रमिक तेजी को मिल जाता था। जब वहाँ आमदनी के सारे ज़रिए बंद हो गए थे—प्रकाशक ने 'सोपान' पर अग्रिम

रायल्टी क्या दी थी, शेष पुस्तकों पर सालाना रायल्टी भी बंद कर दी थी—तब तेजी के लिए पारिश्रमिक-रूप में मिले एक-एक पैसे की क़ीमत थी। प्रस्तावित संग्रह प्रकाशक मेरी शर्तों पर लेने को तैयार न हुए और उनकी शर्तों पर मैं देने को मजबूर भी न रहा। मेरी आर्थिक आवश्यकताएँ कुछ और तरीक़ों से पूरी हो गईं।

थी नवामोज़ फ़ना हिम्मते-दुश्वार-पसंद,
सख़्त मुश्किल है कि यह काम भी आसाँ निकला

वास्तविकता यह है कि शोध-कार्य को साधना इतना मुश्किल था कि उसके सामने आर्थिक कठिनता आसान ही लगी।

केम्ब्रिज के पुराने विद्यार्थियों ने मुझे बताया था कि वहाँ रहनेवालों को एक ख़ास बीमारी होती है जिसे 'थाइसिस' के जोड़ पर 'केम्ब्रिजाइटिस' कहते हैं। केम्ब्रिज में लगातार बहुत दिनों तक—यानी दो-तीन महीने—रहनेवालों पर अचानक एक उदासी का दौरा आता है, जिसमें वहाँ के वातावरण का सारा गांभीर्य जैसे छाती पर बैठ जाता है, उस समय न वहाँ भूख लगती है, न नींद आती है, न पढ़ने में मन लगता है, न किसी का संग-साथ सुहाता है, यहाँ तक कि केम्ब्रिज का प्राकृतिक सौंदर्य भी उस स्थिति से उबारने में कारगर नहीं होता। उसकी दवा केवल एक है कि दो-चार दिनों के लिए आदमी केम्ब्रिज से बाहर चला जाए। लौटने पर दिमाग़ तरोताज़ा मालूम होता है और केम्ब्रिज एक नई तरह से आकर्षक और सुंदर प्रतीत होता है।

केम्ब्रिज में मुझे भी इस प्रकार के दौरे कई बार आए, हालाँकि कारण मेरे लिए केम्ब्रिज का लगातार निवास ही नहीं था। और मैंने बीच-बीच में ब्रिस्टल, मानमथ, ब्लैकपूल, लेक डिस्ट्रिक्ट, स्टोक्स (जहाँ मार्जरी बोल्टन का घर था) और हेक्सम (जहाँ वह काम करती थी) की यात्रा की। अधिक के लिए न मेरे पास पैसे थे, न मेरे पास समय था, और न शायद मेरी आवश्यकता ही थी। 'केम्ब्रिजाइटिस' से त्राण दिलाने के लिए निश्चय मेरी कविता-कल्पना की यात्राएँ कम सहायक नहीं सिद्ध हुई होंगी—

हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।
जब घन अँधियारा तारों से ढल धरती पर
आ जाता है,
जब दर-परदा-दीवारों पर भी नींद-नशा
छा जाता है,
तब यंत्र-सदृश अपने बिस्तर से हो बाहर
चुपके-चुपके
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।
समतल-भू-तल, बत्ती की पाँतों के पहरे
में सुप्त नगर,
अंबर को दर्पण दिखलाते सरवर, सागर,
मधुबन, बंजर,
हिम-तरु-मंडित, नंगी पर्वत-माला, मरुथल,
जंगल, दलदल,
सबकी दुर्गमता के ऊपर मुसकाता हूँ।
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।

केम्ब्रिज से बाहर पाँव रखते ही मेरा कार्य मुझे पीछे खींचने लगता था और मैं जल्दी-से-जल्दी वापस लौटने के लिए आतुर हो उठता था, सिवा इसके कि जब मैं लंदन जाता था, क्योंकि वहाँ जाना सिर्फ़ तफ़रीह के लिए नहीं होता था, बल्कि ब्रिटिश म्यूज़ियम के पुस्तकालय में काम करने के लिए।

कई तरह के मानसिक व्याघातों के बीच भी मैं अपना शोध-कार्य एक संतोषजनक ढर्रे पर चलाए जा रहा था, पर दुर्भाग्यवश उसके रास्ते में भी एक बाहरी अवरोध आकर खड़ा हो गया। मुझे हेन का निर्देशन पाँच-छह महीने ही मिला था कि उनके लिए अमरीका से एक व्याख्यान-परियात्रा (Lecture tour) का निमंत्रण आ गया और वे युनिवर्सिटी से चार महीने की छुट्टी लेकर चले गए। उनके जाने के समाचार से मैं बड़ा दुखी हुआ। उससे निश्चय मेरे काम में बाधा पड़नी थी। जब मुझे दो वर्ष के अंदर अपने शोध की लंबी यात्रा

तै कर लेनी थी, तब मेरे लिए उनके एक-एक दिन के पथ-प्रदर्शन का मूल्य था और हेन १२० दिनों के लिए मुझे बीच रेगिस्तान में दिग्विमूढ़ छोड़कर यू० एस० ए० चले जा रहे थे! पर उन्हें मैं रोक भी कैसे सकता था! युनिवर्सिटी की ओर से उनके स्थान पर मि० ग्राहम हफ़ मेरे निर्देशक नियुक्त हुए। हेन के बाद वही केम्ब्रिज में ईट्स के सबसे बड़े विशेषज्ञ माने जाते थे। वे क्राइस्ट कालेज (जिसमें किसी समय मिल्टन रहा करते थे) के फ़ेलो और युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी साहित्य के लेक्चरर थे। हेन जाते समय मुझे आश्वस्त कर गए थे कि उन्होंने हफ़ को मेरे कार्य की दिशा और प्रगति से अवगत कर दिया है और वे मेरे काम को आगे बढ़ाने में समुचित सहायक हो सकेंगे।

हफ़ हेन से उम्र में कुछ कम ही होंगे, क़द-काठी में उनसे उन्नीस नहीं बल्कि पन्द्रह-सोलह। पिछले महायुद्ध में वे पूर्वी मोर्चे पर बंदी बना लिए गए थे और उन्हें कई वर्षों तक जापानियों की कैद में रहना पड़ा था, जिसका असर उनके स्वास्थ्य पर ही नहीं पड़ा था, उनके दिमाग़-स्वभाव पर भी। उनके सिर पर असमय गंज आ गई थी और उनके चेहरे पर झुर्रियां। वैसे वे ऐंग्लो-सैक्सन रेस के थे जो अपनी प्रकृति से ही अपने में खिंचे और अपने अंदर ही सिमटे रहने में एक प्रकार के गर्व का अनुभव करते हैं। उनका-मेरा संबंध निर्देशक-शोधार्थी की औपचारिक सीमा से कभी ऊपर न उठ सका।

उनके संपर्क में आने के पहले ही मैं अपने शोध-विषय की सीमाएँ बना चुका था। भारतीय प्रभाव ईट्स पर पड़ा ही था, इसके अतिरिक्त उन पर मुख्य प्रभाव थे—कब्बाला के, स्वीडेनवार्ग के और जैकब बेहमेन के। मडाम ब्लावाट्स्की की थियोसोफ़ी के प्रभाव में वे अपनी युवावस्था में ही आ गए थे, पर अपनी बढ़ती उम्र के साथ उसके संबंधों से वे बराबर इन्कार करते रहे, हालांकि मेरा ऐसा अनुमान था कि अपने दर्शन के मूल तत्व उन्होंने मडाम ब्लावाट्स्की से ही लिये थे। इसे सिद्ध करने के लिए मुझे सबूत खोजने थे। इस दर्जे तक मैं अपना ध्यान इसी पर केन्द्रित कर रहा था कि इन तत्वों से ईट्स के मस्तिष्क का निर्माण किस रूप में हुआ था या उनकी विचार-प्रक्रिया किन तंतुओं को पकड़ कर चलती थी। मैं अपने पाठकों को याद दिला दूं कि मैंने W. B. Yeats: His Mind and Art (डब्ल्यू०बी० ईट्स: उनका मनस् और

उनकी कला) पर शोध आरंभ किया था। और इस आरंभिक चिंतन के कारण, अब भी मेरा मुख्य आकर्षण ईट्स के 'माइंड' की ओर था।

हालांकि हफ़ को मालूम था कि वे केवल चार महीने के लिए मेरे निर्देशक नियुक्त हुए हैं, फिर भी उन्होंने मेरे कार्य में पूरी तरह रुचि ली। उन्होंने सब से पहले मेरे शोध-प्रबंध की रूप-रेखा माँगी और इलाहाबाद में किये गये मेरे काम को भी देखने की इच्छा व्यक्त की।

उनकी राय थी कि मैंने अपने शोध की समस्या को साहित्यिक रखने के बजाय मनोवैज्ञानिक बना दिया है। उन्होंने मुझसे कहा कि हम ईट्स की क़द्र इसलिए नहीं करते कि उन्हें गुह्य या रहस्य में रुचि थी, और न इसलिए कि उन्हें किसी प्रकार की पराभौतिक शक्ति में विश्वास था या वह उन्हें प्राप्त थी—ऐसा दावा उन्होंने कभी-कभी किया भी था—बल्कि इसलिए कि उसके द्वारा या उसके प्रभाव में उन्होंने उच्च कोटि की कविता कैसे लिखी, एक नई तरह की कविता, एक नई अभिचेतना (Sensibility) जगानेवाली कविता। मुझे पता नहीं कि हेन मुझे किस दिशा में ले जाते, पर हफ़ के अभिमत ने निश्चय ही मेरे शोध को एक नया मोड़ दिया और मैं ईट्स की चित्र-विचित्र अभिरुचि और उनके सृजन में संबंध देखने की ओर अधिक उन्मुख हुआ।

हफ़ ने मेरे शोध-विषय के शीर्षक पर भी आपत्ति की। और इसके लिए उनके पास कुछ अकाट्य तर्क थे। अतार्किकता के अंतर्गत मैं भारतीय प्रभावों को भी रख रहा था, जिसमें उपनिषद भी अनिवार्यतः सम्मिलित थे। पुरोहित स्वामी के सहयोग से ईट्स ने दस उपनिषदों का अनुवाद किया ही था। हफ़ का कहना था कि हम उपनिषदों को अतार्किकता के अंतर्गत कैसे रख सकते हैं—वे तो तर्क की सबसे ऊँची उड़ानों से उच्चरित हुए हैं। मैं यह बता दूं कि अपने बंदी जीवन में हफ़ को बौद्ध और हिंदू दर्शन पर पढ़ने को कुछ किताबें मिल गई थीं। उन्हीं के सुझाव पर, मैंने अपने शोध-शीर्षक को बदलकर W. B. Yeats and Occultism (डब्ल्यू० बी० ईट्स के साहित्य में निगूढ़ तत्त्व) किया।

हफ़ के ही निर्देशन में, मैंने W. B. Yeats and India (डब्ल्यू० बी० ईट्स और भारत) पर अपना पहला निबंध लिखा, जिसे बाद को मैंने दो में विभाजित किया।

(i) Yeats and Mohini Chatterji and Tagore.
(ईट्स और मोहिनी चटर्जी तथा टैगोर)

(ii) Yeats and Purohit Swami and the Upanishads.
(ईट्स और पुरोहित स्वामी तथा उपनिषद)

आगे चलकर यही मेरे शोध-प्रबंध के दो अध्याय बने।

प्रबंध लिखने की मेरी प्रक्रिया यह थी : पहले मैं पेंसिल से एक रफ़ ड्राफ़्ट तैयार करता, फिर उसको संशोधन कर क़लम से साफ़ कापी बनाता। चूंकि मेरी हस्तलिपि पढ़ने में हफ़ को कठिनता होती इसलिए मैं उसे टाइप करा लेता। टाइपिंग का खर्च बहुत आता था। मैंने एक पोर्टेबिल टाइपराइटर खरीद लिया कि सीखकर खुद टाइप किया करूँगा। सीख तो थोड़ा-बहुत मैंने लिया पर तेज़ी न पकड़ सका। उसपर बहुत-सा समय बर्बाद होते देख, मैंने बाहर की टाइपिंग की ही शरण ली। हफ़ की टिप्पणी जब लेख पर मिल जाती तो उनके सुझावों के प्रकाश में मैं उसे एक नये रूप में ढालता। उसकी तीन टाइप-कापियाँ बनवाता। एक मार्जरी बोल्टन को भेज देता, उसकी टिप्पणी के लिए—उसने शुरू से मेरे काम में रुचि ली थी। एक अपने सहयोगी शोधार्थी को—केम्ब्रिज में ऐसी प्रथा है कि शोधार्थी एक-दूसरे के प्रबंध को पढ़कर उसकी त्रुटियों की ओर संकेत करते हैं। एक अपने पास रखता। जब मार्जरी और सहयोगी की टिप्पणियाँ और सुझाव आ जाते तो अपनी प्रति पर 'मास्टर कापी' तैयार करता। वही अंतिम रूप से शोध-प्रबंध में सम्मिलित की जाती।

शोध-विषय से संबद्ध साहित्य का अध्ययन करना, उस पर नोट लेना, निर्देशक से चर्चा-विवाद करना, चिंतन करना, यह सब अपनी जगह पर ठीक था, पर मुख्य बात तो यह थी कि उसको शोध-प्रबंध के अंग के रूप में कैसे प्रस्तुत किया जाय? मुझे यह देखकर संतोष था कि हफ़ एक व्यावहारिक दृष्टि से मुझसे काम करा रहे थे। उन्होंने विश्लेषणात्मक रीति से काम करने का सुझाव देकर मेरे लिए सुविधाजनक कर दिया था कि मैं एक बड़ी समस्या को अंशों में विभाजित कर उसका हल निकाल सकूँ। हेन का दृष्टिकोण संश्लेषणात्मक था, ईट्स का दिमाग़ पूरे का पूरा अपने उलझे-पुलझे रूप में जब मेरे सामने आता था तो मैं समझ नहीं पाता था कि किस ओर से उसे

निरुवाना शुरू करूँ। यह बात भी मुझे हफ़ के निर्देशन से स्पष्ट हुई कि ईट्स के दिमाग़ की सुलझाहट कविता के सिरे से शुरू की जा सकती थी। दूसरे शब्दों में, ईट्स के चित्र-विचित्र दार्शनिक विचारों का उलझा-पुलझापन सृजन के, कला के, कविता के स्तर पर उतरकर सुलझाहट में बदल जाता था। इसी में उनकी कविता का आकर्षण भी था, उनकी कविता की मौलिकता भी थी। हफ़ का निर्देशन एक तरह से मेरे लिए सौभाग्यपूर्ण ही रहा, बाद को मेरे शोध-प्रबंध के दो परीक्षकों में एक वे रखे गए।

जब हेन अपनी छुट्टी से वापस लौटे, तब फिर उन्होंने मुझे अपने निर्देशन में लिया। उन्होंने हफ़ द्वारा कराये गये काम के प्रति अपनी सहमति प्रकट की और उसी प्रकार कब्बाला, स्वीडेनवार्ग और जैकब वेह्मेन पर अध्याय तैयार करने का आदेश मुझे दिया। ईट्स के दर्शन की संश्लिष्ट व्याख्या पर फिर भी उनका आग्रह बना रहा, यानी उनकी दर्शन पुस्तक A Vision पर। मुझे स्मरण आया कि प्रोफ़ेसर सी० एम० बावरा ने भी मुझसे यह प्रत्याशा की थी कि मैं उक्त ग्रंथ पर कुछ नया प्रकाश डाल सकूँगा। ईट्स के समालोचकों के लिए यह अद्‌भुत पुस्तक एक पहेली बनकर खड़ी थी। इस पुस्तक को, और इस पर जितना मैंने पढ़ा-सोचा था, और इसके रचयिता के दिमाग़ को जैसा मैंने समझा था, उससे मेरी यह धारणा बन गई थी कि इसका उत्स मैडम ब्लावाट्स्की की थियोसोफ़ी में है, पर इसे सिद्ध करने के लिए केवल थियोसोफ़िकल साहित्य का अवलोकन ही पर्याप्त न था, इसके लिए मुझे लंदन और डबलिन की थियोसोफ़िकल सोसाइटी से संपर्क करना था, उनके प्रारंभिक रेकार्ड को देखने के लिए, और अगर संभव हो तो श्रीमती ईट्स से भी मिलना था, जो उस समय तक जीवित थीं और डबलिन में रहती थीं।

हेन मुझसे कहते कि 'इस काम के लिए तुम्हें एकाध महीने आयरलैंड में जाकर रहना भी पड़ सकता है—श्रीमती ईट्स के पास ईट्स के पुराने से पुराने कागद-पत्र सब सुरक्षित हैं, उनमें तुम्हारे काम की बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। A Vision के संबंध में एक स्थान पर ईट्स ने स्वयं कहा था कि वह श्रीमती ईट्स की 'आटोमेटिक स्क्रिप्ट' के आधार पर लिखी गई थी। तुम्हें श्रीमती ईट्स आटोमेटिक स्क्रिप्ट दिखा सकती हैं, अगर वह वास्तव में हो। फिर अभी आयरलैंड में डबलिन की थियोसोफ़िकल सोसाइटी

के कुछ पुराने सदस्य जीवित मिल सकते हैं जो ईट्स के यौवन के साथी थे और उनसे इस संबंध में बड़ी रहस्योद्घाटनकारी सूचनाएँ इकट्ठी की जा सकती हैं।'

शोध की पूर्णता के लिए आयरलैंड की यात्रा ज़रूरी।

यात्रा के लिए अतिरिक्त खर्च ज़रूरी।

मुझे चिंता बनी रहती, खर्च कहाँ से आएगा, जब केम्ब्रिज में ही पूरा समय रहने के लिए मेरे पास पैसे नहीं थे।

मैंने इतने दिनों में यह हिसाब लगा लिया था कि मेरे रहने-खाने और कुछ ऊपरी खर्च पर लगभग एक पौंड प्रतिदिन आता है। मैं हर रात कंजूस के समान अपने पौंड गिनता। कालेज की फ़ीस के लिए आवश्यक राशि अलग करके देखता तो बस इतना ही बचता कि चार-पाँच महीने मुश्किल से चल सकता, और रहना मुझे था बारह महीने और।

इस चिंतनीय स्थिति से कुछ त्राण मुझे एक-दूसरे नक्षत्र-पुरुष ने दिलाया। उनका नाम रनवीर सिंह बावा था।

उनसे मेरा प्रथम परिचय १६५० में धर्मशाला में हुआ था जहाँ मैं अपने मित्र महाराज कृष्ण रसगोत्र के साथ कुछ समय बिताने के लिए गया था। उस समय तक वे दोनों कुंवारे थे और अपने एक और कुंवारे मित्र के साथ 'माउंट प्लेज़ेंट' में रहते थे। तीनों साथी वहाँ के एक डिग्री कालेज में अध्यापक थे। मुझे 'माउंट प्लेज़ेंट' की विशेष स्मृति इसलिए है कि वहाँ रहते हुए मैंने अपनी 'मिलन यामिनी' को अंतिम रूप दिया था, और उसकी प्रेस कापी बनाई थी।

केम्ब्रिज में बावा स्टेटिसटिक्स (सांख्यिकी) में डिप्लोमा करने के लिए आए थे। एक दिन किसी बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बताया कि उनका साप्ताहिक खर्च तीन-साढ़े तीन पौंड आता है। मैं तो फ़ौरन इसका गुर सीखने के लिए उत्सुक हो गया।

बावा ने रहने के लिए एक ऐसी 'डिग' खोज ली थी, जहाँ कमरे में गैस का चूल्हा था, और वे अपने लिए रात का खाना स्वयं बनाते थे। उन्होंने बताया कि यहाँ खाने-पीने की चीज़ें मँहगी नहीं हैं, हाँ, आदमी ज़रूर मँहगा है, वह जिस चीज़ में अपना श्रम लगाएगा, वह ज़रूर मँहगी हो जायगी। सूप, सब्ज़ी,

डबलरोटी वही; लैंडलेडी गर्म कर देगी, उबाल देगी, टोस्ट बना देगी तो उसका दाम चौगुना लेगी। ज़रूरी बर्तन लैंडलेडी से मिल जाते हैं। सब्ज़ी, डबलरोटी, अंडा, नमक, चीनी, चीज़, मक्खन, फल आदि हफ़्ते में एक बार लाकर रख दो, खराब नहीं होते, सारा मुल्क ही फ़्रीजिडेयर है—ठंड इतनी पड़ती है। कितनी ही चीज़ें टिन-बंद मिलती हैं, उन्हें बस खोलो, गर्म करो, खाओ। उन्होंने मुझे बताया कि खाना बनाने पर वे पन्द्रह मिनट से ज्यादा सर्फ़ नहीं करते।

बावा ने मेरे लिए गैस चूल्हे वाले कमरे की डिग खोज दी। एक दिन मेरे साथ चल कर ज़रूरी सामान ख़रिदवा दिया। मेरे कमरे में आकर कई शामों को उन्होंने मुझे खाना बनाने की शिक्षा दीं। मेरा इम्तहान भी उन्होंने लिया। और मैं अच्छे नंबरों से पास हुआ, यानी एक दिन मैंने उन्हें अपने हाथ से बनाकर खाना खिलाया और वे खाकर प्रसन्न-संतुष्ट हुए। केम्ब्रिज में आकर मैंने बहुत-कुछ नया सीखा और बहुत-से गुरु किए। सुनते हैं, दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु किए थे। 'एकाक्षर प्रदातारं योन गुरुमभि मन्यते' की आन पर चलूँ तो केम्ब्रिज में किए मेरे गुरुओं की संख्या चौबीस से कम न आएगी। मुझे याद आ रहा है, डिग की एक लड़की ने मुझे क़मीज़ में बटन लगाना सिखाया था। बटन तो क़मीज़ों के टूटते ही थे, और तेजी वहाँ टाँकने के लिए नहीं, या टाँकना भूल जाने पर डाँटने के लिए। वहाँ तो किसी न किसी तरह अपनेआप ही टाँकना पड़ता था और हर बार इस काम को बिना उँगलियों का दो-चार बूंद रक्त-दान किए मैं न कर पाता था। एक दूसरी फ़्रेंच लड़की ने मुझे मोज़े रफ़ू करने की विधि बताई थी। इंग्लैंड में पहुँचते ही मार्जरी और नैस्टर ने मुझे कितनी ही ज़रूरी बातें बताई-सिखाई थीं, उनको गुरु न मानना कृतघ्नता होगी। पंटिंग—कैम नदी में नाव चलाना—मुझे एक अंग्रेज़ लड़के ने सिखाया था। टाइपिंग सीखी ही थी, लौटने के पहले डांसिंग के भी दो-चार क्लासों में गया था। शोध से संबद्ध मेरे दो निदशक थे ही, फिर केम्ब्रिज के बहुत-से व्याख्यानों से मैंने कितना ज्ञान संचित किया। इन सब वक्ताओं को अपना गुरु मानूं—मानना तो चाहिए—तो दत्तात्रेय, शायद, मेरे गुरुओं की संख्या पर मुझसे ईर्ष्या करेंगे।

साढ़े तीन पौंड प्रति सप्ताह की बचत पर मैं बहुत प्रसन्न हुआ, बहुत

पछताया भी। बाबा से मेरी भेंट पहले क्यों न हुई!

पर केम्ब्रिज में बाबा के भी एक गुरु थे, रूपचंद साहनी। उनका रहने-खाने का खर्च केवल ढाई पौंड प्रति सप्ताह आता था। उन्होंने एक ऐसी डिग खोज ली थी, जहाँ सेल्फ़ सर्विस थी। कमरे का किराया एक पौंड प्रति सप्ताह था—कमरे की सफ़ाई और बिस्तर लगाने का काम खुद करना पड़ता था। वे अपना सुबह का नाश्ता भी खुद बनाते, रात का खाना भी, लंच तो हल्का जहाँ लोग काम करते हैं, वहीं ले लेते हैं। उन्होंने साइंस के किसी विषय पर पी-एच० डी० की, और करते ही उन्हें अमरीका की किसी युनिवर्सिटी में बड़ी अच्छी जगह मिल गई। किफ़ायतशारी के उनके पास अचूक नुस्खे थे। कान्वोकेशन में डिग्री लेने के लिए केम्ब्रिज में काला सूट और काला जूता पहनना पड़ता है। डा० साहनी के पास जूता ब्राउन था। जूते इंग्लैंड में बहुत मँहगे मिलते थे। साहनी ने एक डिब्बी काले पालिश की खरीदी और रात में कई बार जूते पर पालिश कर-करके सुबह तक उसे काला कर दिया।

बाबा बाद को एक कमरा खाली होने पर उसी डिग में चले गए।

जब साहनी ने अमरीका के लिए प्रस्थान किया तो बाबा ने उनका कमरा मुझे दिला दिया। बाबा के और मेरे कमरे तीसरी मंज़िल पर थे, साथ मिले। साथ रहने से हम एक-दूसरे के बहुत निकट आए। फिर तो हमने एक ही 'रसोई' कर ली। सुबह दोनों के लिए नाश्ता मैं तैयार करता, शाम को दोनों के लिए खाना बाबा बनाते। इससे हमारे खर्च में और भी कमी आई। औसतन दो-दो पौंड से अधिक प्रति सप्ताह हमारे खर्च न आते।

पाँच पौंड प्रति सप्ताह की बचत!

मेरे लिए तो यह बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुई।

मेरे शोध का दो-तिहाई काम हो चुका था। केवल ईट्स-दर्शन पर मुझे जो कहना था, उस पर मैं समुचित सामग्री न एकत्र कर सका था। लंदन की थियोसोफ़िकल सोसाइटी से जो सामग्री मिल सकती थी, वह तो मैं वहाँ कुछ रोज़ रहकर देख-परख आया। वह मेरे बड़े काम की थी, पर उससे अधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री डबलिन में थी, विशेषकर श्रीमती ईट्स के पास।

मैंने आयरलैंड की यात्रा करने का निश्चय किया।

इस बीच घर पर—इलाहाबाद में—एक बड़ी विषम परिस्थिति उठ

खड़ी हुई, और मुझे लगा कि अब तो शायद आयरलैंड न जाकर मुझे भारत ही लौट जाना पड़ेगा। मैंने किस बुरी साइत में विदेश के लिए प्रस्थान किया था !

तेजी घर-गिरिस्ती और बच्चों की देख-रेख के लिए सर्व समर्थ हैं, यह मानते हुए भी, चलते समय इस बात से मैं अतिरिक्त आश्वस्त था कि यदा-कदा मर्द की आड़ को पूरा करने के लिए राजन वहाँ हैं। उनकी क़ानून की अंतिम परीक्षा होने वाली थी, पर वकालत की ट्रेनिंग के लिए फिर भी लगभग एक साल उनको इलाहाबाद में ही रहना था, और तेजी ने भी जब-तब अपने नारि-स्वभाव की भीरुता में राजन की उपस्थिति से कुछ बल-संबल ग्रहण किया था।

लेकिन अपनी ट्रेनिंग समाप्त करने के बाद राजन को अपनी प्रैक्टिस आरंभ करने के लिए अपने घर बाँदा जाना था, जहाँ उनके वृद्ध पिता अकेले ही रहते थे।

मेरे विदेश चले जाते ही, अपने अंदर सामर्थ्य-साहस की कमी की बात तेजी ने अपने पत्रों में बहुत बार लिखी थी, पर वास्तव में अपने अकेले, असुरक्षित और असहाय होने की अनुभूति उन्हें राजन के बाँदा चले जाने के बाद हुई। हमने संस्कारों से अपनी नारी को कितना पुरुष-निर्भरा बना दिया है !

नगर में अगर हमारी घनिष्ठता किसी से न थी तो हमारी शत्रुता भी किसी से न थी। अगर मुझे इसकी आशा नहीं थी कि किसी मुसीबत में कोई हमारी मदद करेगा तो इसका भय भी नहीं था कि कोई अकारण हमारे निरीह परिवार को नुक़सान पहुँचाएगा।

फिर मेरे तो लड़कपन और यौवन के कई वर्ष गली-मुहल्लों में बीते थे। गली-मुहल्ले के जीवन की कुछ खराबियाँ हैं तो कुछ ख़ूबियाँ भी हैं। वहाँ आपके निजी जीवन में ताक-झाँक तो की जायगी, पर साथ ही अगर आपका परिवार किसी ऐसी स्थिति में है, जैसी स्थिति में दुर्भाग्यवश मेरा परिवार था, तो उसकी मान-मर्यादा की रक्षा का दायित्व सारा मुहल्ला अपना समझेगा। मैं भूल गया था कि अब मैं सिविल लाइन में रहता हूँ, जहाँ आपके यहाँ कुछ अनहोनी हो जाय तो उसका पता आपके पड़ोसी को अखबारों से लगता है।

जहाँ आस-पड़ोस के हस्तक्षेप की कोई आशंका न हो, वहाँ कोई सिरफिरा किसी की नाजुक हालत का नाजायज़ फ़ायदा उठाने की बात सोचे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। 'सिविल' लाइन ने 'अनसिविल' नहीं तो कैसी नकारात्मक शालीनता विकसित की है !

तेजी ने अपनी एकाकी और अरक्षित स्थिति में—एकाकी नारी तो सीता के समय से अपने को अरक्षित समझती आई है—एक ऐसे ही सिरफिरे 'सज्जन' की काली छाया अपने निकट घनीभूत होती देखी।

'सज्जन' मेरे हमउम्र, पढ़े-लिखे, प्रकाशन के व्यवसाय में थे। उनके पिता ने कहीं बाहर से आकर इलाहाबाद में प्रेस का काम शुरू किया था और उसमें बहुत सफल हुए थे। इलाहाबाद की मिट्टी में एक ख़सूसियत है—बाहर से आकर उस पर जमनेवालों के लिए वह बहुत अनुकूल पड़ती है। इलाहाबाद में जितने जाने-माने, नामी-गिरामी लोग हैं, उनमें से ९९% आपको ऐसे मिलेंगे जो बाहर से आकर इलाहाबाद में बस गए, खासकर उसकी सिविल लाइन में—स्यूडो इलाहाबादी। और हाँ, एक बात और ग़ौर करने के क़ाबिल है कि इलाहाबाद का पौधा तभी पलुहाता है, जब वह इलाहाबाद छोड़ दे।

छोटे शहर में भी बिना किसी समान रुचि के लोगों का आपस में मिलना-जुलना कम ही हो पाता है। लेखक-प्रकाशक का संपर्क कभी-न-कभी हो ही जाना था। 'सज्जन' से किसी पार्टी में परिचय हुआ था और कई वर्षों तक हमारी निकटता उससे आगे नहीं बढ़ी जिसे, अंग्रेज़ी में सोशल फ्रेंडशिप कहते हैं, यानी कहीं हम मिल जाते तो सलाम-दुआ हो जाती, या कभी-कभार एक-दूसरे के घर हो आते।

प्रकाशन के अतिरिक्त उन्हें बाग़बानी का शौक था, विशेषकर गुलाब उगाने का, जिसमें एक समय तेजी की भी बड़ी रुचि थी, और उसके कारण हमारा एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना बढ़ा था।

मेरे विदेश जाने के बाद वे तेजी के पास अधिक आने लगे—बहाना, उनके गुलाब के बाग़ की देख-रेख।

पहले जब आते, अपनी पत्नी को साथ लाते।

बाद को यदा-कदा अकेले भी आने लगे।

फिर तो जब आते, पत्नी को कभी साथ न लाते।

राजन जब तक घर पर थे, उनके व्यवहार में एक सुसंस्कृत नागरिक का शिष्टाचार दृष्टिगोचर होता।

राजन के जाने के बाद, धीरे-धीरे उनकी चेष्टाओं में परिवर्तन आने लगा। तेजी को उनके इरादों को भाँपते देर न लगी।

और एक दिन उन्होंने अपना बाहरी भिखारी भेस उतार कर अपने को अपने असली राक्षसी रूप में प्रकट कर दिया।

कामातुराणां न भयं न लज्जा

पर जिस धनुहीं को अपनी ओर झुकाकर उन्होंने उस पर प्रत्यंचा चढ़ाने की कल्पना की थी, वह तो शभु-शरासन सिद्ध हुआ। 'टरइ न संभु सरासन कैसे'...

और जो तेजी की ओर से उन्हें विरोध मिला तो वे उग्रता, उद्दंडता पर उतर आए।

कामात् जायते क्रोधः।

और उस क्रोध में उन्होंने जो अनर्गल बातें कहीं और जो अशोभन, असभ्य और वहशियाना हरकतें कीं, उनको अगर तेजी ने मुझे ज्यों-का-त्यों लिख दिया होता तो मैं पत्र पाने के बाद पहले हवाई जहाज़ से घर लौट आता और उनका...।

पर तेजी ने अपने ऊपर संयम रक्खा।

मूल बात का संकेत तो उन्होंने कर दिया, पर स्थिति की गंभीरता मुझपर न व्यक्त होने दी। फिर भी वे जानती थीं कि उनके पत्र की प्रतिक्रिया मुझपर क्या होगी। आवेश में आकर लौट आने की मुझे उन्होंने मनाही की थी। सूचित किया था कि उंन्होंने संबद्ध व्यक्ति को आगाह कर दिया है कि भलमंसी इसीमें होगी कि वे आगे से हमारे घर पर पाँव न रक्खें। साथ ही राजन को तार देकर बुला रही हैं, और 'सज्जन' की पत्नी को उनके पति की सारी हरकतों से अवगत कर रही हैं।

तेजी के ये दोनों क़दम कारगर सिद्ध हुए।

राजन के पिता ने उन्हें फ़ौरन इलाहाबाद भेजा और उन्हें ताक़ीद की

कि जब तक मैं न लौटूं, तब तक वे तेजी के पास ही रहें और उनकी और उनके बच्चों की पूरी तरह देखभाल करें। अपने किसी संबंधी से मुझे उनके जैसी आत्मीयता नहीं मिली।

'सज्जन' ने अपने घर जो नाटक देखा होगा, उसका मज़ा तो वे ही जानते होंगे।

मेरे घर तो फिर उन्होंने मुँह न दिखाया, सिवा एक बार के।

फिर भी हैरानी, परेशानी और बेचैनी के मैंने कितने दिन काटे, कितनी रातें काटीं !

और मेरा मन आश्वस्त नहीं हुआ, जब तक राजन ने इलाहाबाद पहुँचकर मुझे विश्वास नहीं दिलाया कि वहाँ सब कुछ ठीक है और मुझे चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर चिंता ने मुझे जल्दी न छोड़ा।

तेजी ने बार-बार मुझे पत्र लिखा—'आपने जो काम उठाया है, उसमें सफल होने को हमने बहुत कुछ दाँव पर लगा दिया है।

एक जुआ के दाँव पर हम सब दीन लगाय
लाज बचै, इज्जत रहै राम जो देयँ जिताय।

अगर इस काम में भी व्याघात पहुँचता है तो हम सब प्रकार वंचित होंगे। वह तो आपको पूरा करके ही लौटना है। मेरी इज़्ज़त को जो चुनौती मिली थी, उसका उत्तर मैंने अपनी दृढ़ता के साथ दिया है। आपका काम भी आपकी इज़्ज़त के लिए एक चुनौती ही है। आप भी इसका उत्तर अपने श्रम-संकल्प से दें। किसी भी कारण आपको असफलता मिली तो कितनी भी व्याख्याओं से आप उसे सफलता में नहीं बदल सकेंगे। अपने जीवन भर का अर्जित धन, मान लुटाकर अगर हम दुनिया की हँसी के पात्र ही बनकर रह गए तो हमसे अधिक अभागा कौन होगा!'

उन दिनों के मानसिक तनावों में मैंने एक कविता लिखी थी—शीर्षक था'''तेरे कूचे से हम निकले'

ग़ालिब का शेर याद आया था—

'निकलना ख़ुल्द से आदम का सुनते आए थे लेकिन
बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।'

वह कविता मैंने प्रकाशित नहीं की। कर देता और उसे 'सज्जन' देखते और उनमें हया होती तो वे आत्महत्या कर लेते।

ठंडे दिमाग़ से सोचने पर मैंने भी यही समझा कि मेरे लिए 'नान्यः पंथा विद्यते अयनाय'—शोध-कार्य को किसी भी हालत में पूरा करना ही है।

पर इसके बाद विदेश में एक भी दिन मैंने शांति और निश्चितता से न बिताया। हर दिन का महत्त्व केवल इतना रह गया कि वह आकर मुझे अपने कार्य-लक्ष्य की ओर बढ़ाए और जाकर मेरे और मेरे घर-परिवार के बीच समय की दूरी को कम करे।

शोध-कार्य की पूर्णता के लिए मुझे आयरलैंड जाना ही था।

मैंने सारी तैयारी कर ली।

हेन ने मुझे श्रीमती ईट्स तथा अन्य कई ईट्स और ईट्स-साहित्य में रुचि रखनेवालों के नाम पत्र दिए, सीधे भी उन्हें पत्र लिखे। एक पूरी शाम उन्होंने मुझे देकर बताया कि 'मैं तुम्हें आयरलैंड वहाँ केवल कुछ कागद-पत्रों को देखने-परखने के लिए नहीं भेज रहा हूँ, गो यह काम भी ज़रूरी है और वहीं हो सकता है, मैं तुम्हें इसलिए भेज रहा हूँ कि वहाँ तुम घूम-फिरकर विभिन्न वर्गों के लोगों से मिलो—नगर, क़स्बों, गाँवों में, शिक्षा-संस्थानों, हाट-बाज़ारों में, क्लबों-पबों में, गिरजाघरों में, मेले-ठेले में। आइरिश चरित्र की एक अपनी विशेषता है जो उसे औरों से अलग करती है। मेरी ऐसी धारणा है कि उसे समझे बिना कोई ईट्स को पूरी तरह नहीं समझ सकता—ईट्स टिपिकल (नमूने के?) आइरिशमैन हैं। अतार्किकता की ओर उनका झुकाव भी ईट्सियन से अधिक आइरिश है।'

पिछले दिनों जिन तनावों से मैं गुज़रा था, उनकी चर्चा मैंने हेन से न की थी, पर वे समझ गए थे कि किसी कारण मैं उखड़ा-उखड़ा-सा रहता हूँ और मेरा मन काम से उचट गया है, क्योंकि उन दिनों विशेष बल देकर वे मेरे कुशल-क्षेम के विषय में पूछा करते थे। चलते समय उन्होंने कह दिया, 'अपनी ऐसी मानसिक स्थिति में तुम्हें आयरलैंड की यात्रा सुखद होगी, आयरलैंड बड़ा सुंदर देश है, उसके निवासी और सुंदर हैं, पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ, विशेषकर

उसकी 'कोलीन्स' *।' फिर उन्होंने हँसकर जोड़ दिया, 'देखो, किसी 'कोलीन' के सम्मोहन में न पड़ जाना। वे बहुत आकर्षक होती हैं। मुझे आशा है, तुम अपनी यात्रा से तरो-ताज़ा होकर लौटोगे, साथ ही अपने काम के लिए बहुत-सा उपयोगी मसाला भी इकट्ठा करके।'

इंग्लैंड-निवासियों को आयरलैंड जाने के लिए आइरिश वीज़ा की ज़रूरत नहीं होती, यह छूट इंग्लैंड से संबद्ध और कई देशों के लिए है, जिनमें भारत भी सम्मिलित है। पर ट्रेवेल एजेन्ट के द्वारा ट्रेवेलर्स आइडेंटिटी कार्ड बनवा लेना अच्छा रहता है। जहां तक आइरिश सरकार का संबंध है, आयरलैंड में प्रवेश करने पर चुंगी के दफ़्तर में जो अता-पता माँगा जाता है, उतना ही पर्याप्त होता है। मेरे पास अपना पासपोर्ट था ही, मैंने थामस कुक से समुद्री मार्ग से आयरलैंड जाने का टिकट ख़रीद लिया।

उन दिनों लिवरपूल से रात को एक स्टीमर छूटता था जो सुबह-सुबह डबलिन पहुँचा देता था। थामस कुक से ही मैंने डबलिन में प्रथम सप्ताह रहने का प्रबंध भी पक्का करा लिया।

ट्रेन से लिवरपूल पहुँचकर मैंने स्टीमर पकड़ा। स्टीमर बहुत बड़ा नहीं था—कुल यात्री डेढ़-दो सौ के लगभग होंगे। अगस्त का महीना था, न बहुत ठंडा, न बहुत गर्म, प्रायः लोग खुले डेक पर पड़ी बेंचों और कुर्सियों पर बैठकर यात्रा कर रहे थे। स्टीमर पर आइरिश बियर बहुत सस्ती मिलती है, और ९९% यात्रियों ने तो बोतलों पर बोतलें चढ़ाई होंगी। बीच रास्ते में हवाएँ तेज़ हो गईं और हमारा स्टीमर हचकोले खाने लगा। छोटे स्टीमर वैसे भी ज़्यादा हिलते-डुलते हैं। मैंने सुन रखा था कि अंग्रेज़ समुद्र-यात्रा की अभ्यस्त क़ौम है—द्वीप में रहनेवाले जो हुए। पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आधे से अधिक मुसाफ़िरों को सी-सिकनेस हुई और बहुतों ने उलटियाँ कीं। समुद्र में स्टीमर से यह मेरी पहली यात्रा थी, फिर भी दूसरों को उल्टी करते देखकर भी मुझे मतली तक न आई।

उठ पड़ा तूफ़ान, देखो,
मैं नहीं हैरान, देखो,

---

* **Colleens**– आयरलैंड की वारांगनाएं

एक झंझावात भीषण मैं हृदय में से चुका हूँ।
मूल्य अब मैं दे चुका हूँ।

(निशा निमंत्रण)

आयरलैंड की यात्रा की छाप मेरे मानस-पटल पर जितनी स्पष्ट, जितनी गहरी है, उतनी कम जगहों की है। वहाँ मैंने जो कुछ भी देखा-सुना, वह अपने पूरे विस्तार में मेरी स्मृति में अंकित है और आज चौबीस वर्षों के बाद भी धुंधला नहीं पड़ा। मैं सोचता हूँ, ऐसा क्यों हुआ होगा ? कारण शायद यह है कि मैं एक बड़े दुःख की अनुभूति के बाद आयरलैंड गया था। अज्ञेय की एक पंक्ति है :

दुःख सब को मांजता है।

यह सच है। दुख मनुष्य के मन को माँजकर दर्पण-स्वच्छ कर देता है। फिर जो भी उसके समक्ष आता है, वह उसमें अविकल, अविरल प्रतिबिंबित होता है। मुझे भय हो रहा है—कहीं मैं अपनी आयरी-यात्रा को अनुपात से अधिक स्थान न दे दूं।

बंदरगाह से डबलिन सात मील दूर है, बंदरगाह डुनलियरी कहलाता है। शहर को बस या टैक्सी से जाते हैं। क्षितिज से निरभ्र आकाश में उठते हुए सूर्य के प्रकाश में डबलिन को देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे मैं आँखों पर हरा चश्मा लगाकर वहाँ उतर पड़ा हूँ—चारों ओर हरियाली ही हरियाली। हरी घास-भरी भूमि, हरे पेड़-पौधों की सघनता की प्रत्याशा तो मैं करता हुआ आया ही था—इसी कारण तो आयरलैंड को 'एमरल्ड आइलैंड' कहते हैं—मरकत द्वीप। पर मैं यह नहीं जानता था कि यहाँ मनुष्य ने प्रकृति की हरियाली से होड़ लगाने में कोई कोर-कसर' नहीं छोड़ी—यहाँ ट्रेन के डिब्बे हरे हैं, ट्रामें, बसें हरी हैं, लेटर-बाक्स हरे हैं, मार्ग-निर्देशक स्थान हरे हैं, पुलिस—'जिन्हें आयरलैंड में 'सिविक गार्ड्स' कहते हैं—और फ़ौजियों की पोशाकें हरी हैं, लाल इंट के बने मकानों के दरवाज़े-खिड़कियाँ हरी रँगी हैं, वैसे ही जगह-ब-जगह रेलिंगें हरी हैं, करेंसी नोट भी हरे रंग के हैं। पर इतनी हरियाली का शौक़ीन यहाँ का बाशिन्दा स्वयं हरा नहीं है—'हरा' इस अर्थ में

कि कच्चा ! वह पक्की, सिझो, मेच्योर क़ौम का है। उसके पास अपना इतिहास है, अपनी परंपरा है, अपनी संस्कृति है और इनपर उसे गर्व है। 'हरा' खुश व खुर्रम के अर्थ में लें—'राम भरोसे जो रहै जंगल में हरियायँ' —तो भी आयरवासी 'हरा' नहीं। इसके लिए एक तो उनका रोमन-कैथलिक धर्म उत्तरदायी है, जिसमें हर ईसाई आदम की आदि अपराध-भावना से दबा रहता है; दूसरे, उनके देश पर हुए आक्रमणों की शृंखला, और सात सौ वर्षों की दासता और उससे त्राण पाने का उनका अनवरत संघर्ष, जिसमें भोगी-झेली यातनाएँ आयरी जनता को ऐसी ही याद हैं, जैसे वे कल की घटनाएँ हों। अच्छी स्मृति कितना बड़ा अभिशाप है, इसे मुझसे अधिक कौन जानेगा ! कभी-कभी मैं सोचा करता हूँ कि पूर्व जन्म में मैं आइरिशमैन रहा हूँगा। उसके चेहरे पर सस्ती हँसी नहीं, उसकी आँखों में मूल्य देकर सँजोई गंभीरता है, संजीदगी है,

आए थे हँसते-खेलते मैख़ाने में 'फ़िराक़'
जब पी चुके शराब तो संजीदा हो गए।

उसने कटु अनुभवों की शराब छक कर पी है। वह संजीदा है, पर मनहूस नहीं। उसने शायद अपनी गंभीरता की अतिशयता से राहत पाने के लिए ही एक Sense of Humour (सेंस आफ़ ह्यूमर), एक विनोद-वृत्ति, एक व्यंग्य-वृत्ति विकसित की है। वह अपनी चुटीली बातों से, बिना खुद हँसे, आपको हँसा सकता है। वह बोलता है, प्रायः अधिक ही, तो अपने को हल्का करने के लिए। वह भीतर कहीं भारी है।

डबलिन पहुँचकर सबसे पहले मैंने श्रीमती ईट्स से सम्पर्क किया, फ़ोन से। मेरे बारे में मि० हेन ने उन्हें अलग से पत्र लिख दिया था, जो उन्हें मिल चुका था। उन्होंने मुझसे कहा कि 'आजकल 'अंतर्राष्ट्रीय अश्व प्रदर्शनी सप्ताह' चल रहा है। आप फ़ीनिक्स पार्क आ जाएँ और प्रदर्शनी में कुआला प्रेस स्टाल पूछ लें। मैं दिन भर वहीं रहती हूँ।'

कुआला प्रेस ईट्स ने अपनी दो विधवा बहनों के भरण-पोषण के लिए अपने मकान के निचले हिस्से में खुलवा दिया था। वे ईट्स की छोटी-मोटी पुस्तकों का प्रथम संस्करण सीमित संख्या में हाथ-बने काग़ज़ पर स्वयं अपने हाथों से

ट्रैडिल मशीन चलाकर छापती थीं, प्रतियों का दाम अधिक होता था, पर उनकी बड़ी माँग रहती थी, कभी-कभी ईट्स प्रतियों पर अपने हस्ताक्षर भी कर देते थे। उनके दूसरे संस्करण नहीं छप सकते थे। ईट्स के देहावसान के बाद कुआला प्रेस आर्ट-प्रिंटर हो गया था। ईट्स की पंक्तियाँ, अक्सर उन पर चित्र बनवाकर, मोटे काग़ज़ों पर छपती थीं जिन्हें लोग अपने ड्राइंग रूमों में टाँगने के लिए ख़रीदते थे। पंक्तियों पर हाथ-बने चित्र भी बेचे जाते थे। कुछ चित्र ईट्स की बेटी के बनाए होते थे, वह चित्रकार थी, चित्रकारी ईट्स परिवार में पुश्तैनी थी। ईट्स के पिता जान ईट्स चित्रकार थे, छोटे भाई जैक ईट्स भी, ईट्स ने स्वयं कई वर्षों तक चित्रकारी की नियमित शिक्षा ली थी और इसका प्रभाव उनकी कविताओं पर स्पष्ट है।

डबलिन का हार्स-शो एक तरह से नागरिक मेले का अवसर प्रदान करता है और आयरलैंड की कला-कारीगरी-व्यवसाय की बहुत-सी चीज़ें वहाँ बिकने को आती हैं। कुआला प्रेस स्टाल भी इसी ध्येय से लगाया गया था। वहीं मैं पहले-पहल मिसेज़ ईट्स से मिला, जो अपनी ननदों की सहायता करने के लिए स्टाल पर बैठती थीं। स्टाल छोटा था, सहायता की कोई विशेष आवश्यकता न थी, पर मुझे उनके चेहरे से लगा कि वे अपने पति के प्रेमियों, प्रशंसकों को देखकर हर्षित होती थीं, जो उनकी पंक्तियों से सज्जित चित्रों को ख़रीदने आते थे। श्रीमती ईट्स-सी पतिपरायणा मैंने पश्चिम में शायद ही कोई दूसरी देखी हो।

अश्व-प्रदर्शनी की जो छाप मेरे दुख-मँजे मन पर पड़ी, वह मेरे अगले तीन जन्मों तक भी मिटाई न जा सकेगी। अमृतोद्भव उच्चैःश्रवा के वंशजों का ऐसा चुस्त, दुरुस्त, स्वस्थ, सुंदर, जीवंत स्वरूप न मैंने पहले कभी देखा था और न बाद को ही देखा। कोलीनों के सम्मोहन में तो मैं न पड़ा, पर घोड़ों के सम्मोहन से मैं अपनी रक्षा न कर सका। वे मुझे पीठ पर चढ़ा साहित्य-क्षेत्र के न जाने कितने घोड़ों से मेरा परिचय करा लाए। ईट्स ने तो एक बादल से दूसरे बादल पर छलांग मारनेवाले घोड़ों से लेकर ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर गाड़ी खींचने वाले घोड़ों तक का ज़िक्र किया है। अपने ऐपीटाफ़ में जिस 'हार्समैन' को उन्होंने संबोधित किया है उसका घोड़ा कितना थका है!—'न' होते घोड़े पर 'हार्समै' का दीर्घ स्वर-भार—वह तो बीतती उम्र का प्रतीक

है—घुड़सवार जीवात्मा। याद आया, ग़ालिब ने भी घोड़े को उम्र का प्रतीक माना है, पर वह किस तेज़ी से उम्र को काट रहा है, और घुड़सवार का कोई बस उस पर नहीं चलता,

रौ में है उम्र-अस्प कहाँ देखिए थमे,
नै बाग हाथ में है न पा है रकाब पर।

शेक्सपियर के घोड़ों पर तो एक पुस्तक लिखी जा सकती है। एन्टनी के प्रेम में पड़ी क्लियोपाट्रा उस घोड़े से ईर्ष्या करती है, जिसे अपनी पृथुल जाँघों से दबाकर एन्टनी दौड़ाता है। 'मैकबेथ' में डंकन की हत्या की भीषण रात को घोड़े एक-दूसरे को खाने को उद्यत हो उठते हैं—कैसा भयावना दृश्य है!

औ यह जितना अद्भुत है, उतना ही सच है—
डंकन के घोड़े मस्ताने, तेज तुखारी,
ताजी तड़पे, तोड़ अस्तबल बाहर झपटे,
बँधे न बाँधे; जैसे वे विरुद्ध मानव के
युद्ध छेड़ने को उद्यत हों
और यह सुना
गया, उन्होंने एक दूसरे को खा डाला।

और तुलसी के 'सावँकरन' हयों को कोई कैसे भूले

जे जल चलहिं थलहिं की नाईं
टाप न बूड़ बेग अधिकाईं।

ईट्स के घोड़े बादलों पर चलते हैं, तुलसी के जलाशयों पर। किस पर किस को तरजीह दें?
और

जेहि बर बाजि राम असवारा,
तेहि सारदउ न बरनै पारा।

क्लियोपाट्रा ने तो एन्टनी के घोड़े के प्रति अपनी ईर्ष्या व्यक्त कर दी, शारदा

से इतना भी न हुआ। चुप ही हो गईं। और राम को बन में छोड़कर सुमंत के रथ के घोड़ों की मूक-मुद्रा-व्यक्त विरह-वेदना किसे न विचलित कर देगी :

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे,
बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।
अढ़ुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे,
राम वियोगि विकल दुख तीछें।
जो कह रामु लखनु वैदेही,
हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही।
बाजि विरह गति कहि किमि जाती,
बिनु मनि फनिक विकल जेहि भाँती।

कभी मैंने 'मानस' के पशु-पक्षियों पर एक निबंध लिखना चाहा था। शायद अब भी कभी लिखूं। कोई और भी इस विषय पर लिख सकता है।

अश्व-प्रदर्शनी से अश्व काव्य-प्रतीक रूप में शायद मेरे दिमाग़ में भी पैठा। इससे पहले घोड़े को प्रतीक-रूप में अपनी कविता में संभवतः मैं कभी नहीं लाया था। इसके बाद तो कई बार लाया हूँ। 'आरती और अंगारे' से 'जाल समेटा' तक अगर मेरे घोड़ों में कोई दम-खम, कोई सजीवता हो तो मैं चाहूँगा उसका श्रेय आप डबलिन के हार्स शो को दें।

सुंदर-स्वस्थ घोड़ों को देखकर चमकती आयरी आँखों से मुझे यह समझने में देर न लगी कि हिंदुओं ने जो भक्ति गाय को दी है, अंग्रेजों ने जो प्रेम कुत्तों को, वह आयरवासियों ने घोड़ों को दिया है। पशु-प्रेम प्रकृति से जोड़नेवाली ऐसी कड़ी है, जिसकी मशीनी युग में उपेक्षा कर मनुष्य अपनी बहुत बड़ी हानि करेगा। ख़ैर, हम तो पशुपतिनाथ के उपासक ही हैं।

अश्व-प्रदर्शनी जब तक चलती रही, मैं बराबर वहाँ जाता रहा, वहाँ मुझे आयरी जनता का एक प्रतिनिधि क्रास-सेक्शन (लघु संस्करण ?) देखने को मिला और उससे आयरी चरित्र को समझने में मुझे बड़ी सूहायता मिली। बीच-बीच में मैं कुआला प्रेस के स्टाल पर जाकर बैठता और श्रीमती ईट्स से बात करता।

पहले उन्हें मुझसे बात करने में कुछ हिचक थी। कारण यह था कि एक

साक्षात्कार करने वाले से उन्हें बड़ा कटु अनुभव हुआ था। वह अमरीकी था। उसने ईट्स के जादू-टोने में विश्वास और उसके कुछ प्रयोगों के विषय में मिसेज़ ईट्स से कुछ गोपनीय बातें कहलवा ली जो एक छिपे टेपरेकार्डर पर रेकार्ड होती रहीं। अमरीका जाकर उसने Yeats and Black Magic (ईट्स और जादू-टोना), W. B. Yeats the Magician (जादूगर डब्ल्यू० बी० ईट्स) शीर्षक से कई लेख लिखे। अमरीका में ऐसे सनसनीखेज़ लेखों के लिए बड़ा बाज़ार है। मैंने मिसेज़ ईट्स को यक़ीन दिलाया कि मैं कोई ऐसी धोखेबाज़ी करने नहीं आया हूँ, मेरा ध्येय विशुद्ध साहित्यिक है। मुझे प्रसन्नता हुई कि मैं जल्दी ही उनका विश्वास प्राप्त कर सका और उनसे मुझे जो सूचनाएँ मिलीं, जो सहयोग मिला, वह मेरे शोध के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ।

मुझे दूसरे-तीसरे दिन ही पता चल गया कि थामस कुक ने मेरे ठहरने की जो जगह तै की है, वह ईट्स के मकान से बहुत दूर है। मिसेज़ ईट्स ने मुझे एक 'डिग' का पता दिया, जो उनके यहाँ से नज़दीक थी और सस्ती भी थी।

मैं सुबह नाश्ता लेकर उनके यहाँ पहुँच जाता और दिन भर ईट्स के अध्ययन-कक्ष में बैठकर काम करता, लंच पास के एक रेस्टराँ में कर आता।

ईट्स को दिवंगत हुए लगभग पन्द्रह वर्ष बीत चुके थे, पर ईट्स की कोई पुस्तक, कोई पांडुलिपि, कोई चीज़ उन्होंने इधर-उधर न होने दी थी; बल्कि ईट्स के जीवन-काल में जो चीज़ें इखरी-बिखरी थीं, उन्हें भी उन्होंने सँभालकर रख दिया था। यह काम बिना अपने पति के प्रति अनन्य प्रेम और उनके कार्य के प्रति अदम्य आस्था के संभव नहीं था।

ईट्स का मकान काफ़ी बड़ा था—चारों ओर उसके बहुत-सी खुली ज़मीन। उनका अध्ययन-कक्ष एक हाल जैसा था—मकान का सबसे बड़ा कमरा, चारों ओर ऊँची शीशेदार आलमारियाँ किताबों से भरी, एक सिरे पर काम करने की मेज़ और कुर्सी, पीछे आतशदीन, कारनिस पर कलाकृतियों के कुछ नमूने—एक चीनी कृति थी, जिससे प्रेरित होकर ईट्स ने अपनी Lapiz Lazuli (लापीज़ लाज़ूली = नील मणि) कविता लिखी थी, दीवारों पर ब्लेक के कुछ चित्र, जिनकी कविता के भी ईट्स बड़े प्रेमी थे, और जिन पर अपने एक मित्र के सहयोग से उन्होंने एक बड़ी प्रामाणिक पुस्तक लिखी थी। मिसेज़ ईट्स ने पहले ही दिन जैसे किसी पुरानी यादगार को सहलाते हुए, और उसे

सुरक्षित रखने के अपने प्रयत्नों पर कुछ गर्व-सा करते हुए, मुझसे कहा था, 'विली का अध्ययन-कक्ष'—वे अपने पति के लिए 'विलियम' का संक्षिप्त रूप 'विली' नाम का प्रयोग करती थीं—'अब भी वैसा ही है, जैसा वे छोड़कर गए थे'…

ईट्स के पुस्तकालय की पुस्तकों का नाम देखना भी अपनेआप में एक शिक्षा थी। उसमें एक आलमारी में मैडम ब्लावाट्स्की की कृतियों को देखकर मैं बड़ा आश्वस्त हुआ। मेरी स्थापना थी कि ईट्स ने अपने दर्शन के मूल सिद्धांत मैडम ब्लावाट्स्की से लिए थे, यहाँ एक सबूत था। पुस्तकों पर लगे निशानों ने कुछ और संकेत दिए।

ईट्स ने अपने हाथ से जिस कागज़ पर कुछ भी लिखा था, श्रीमती ईट्स ने उसे नष्ट नहीं होने दिया था। ऐसे पन्नों की संख्या सत्तर हज़ार से ऊपर थी, और कमाल तो यह था कि इन सबकी श्रीमती ईट्स ने विषय-काल के क्रम से तालिका बना रखी थी।

मुझे ईट्स का संबंध थियोसोफ़िकल सोसाइटी से जताने वाले कागद-पत्रों की आवश्यकता थी। श्रीमती ईट्स ने उन्हें मेरे लिए निकाला।

डबलिन-लंदन थियोसोफ़िकल सोसाइटी की सदस्यता के समय ईट्स ने कुछ पैम्फ़्लेट लिखे थे; ये छपे भी थे; इनकी प्रतियाँ केवल श्रीमती ईट्स के पास थीं। ये D.E.D.I. (डी० ई० डी० आई०) के नाम से छपी थीं। सदस्यों को इस तरह का एक गुप्त नाम दिया जाता था। यह नाम ईट्स को मिला था। यह लैटिन में 'डेविल एस्ट डियस इनवर्सस' का सांकेतिक रूप है—शैतान है खुदा का उलटा। इस शीर्षक से मैडम ब्लावाट्स्की की पुस्तक The Secret Doctrine (दि सीक्रेट डाक्ट्रिन) का एक अध्याय ही है। मैंने इस पैम्फ़्लेट से कुछ उद्धरण अपनी थीसिस में दिए हैं।

A Vision, ईट्स की दर्शन-पुस्तक के संबंध में मेरी जिज्ञासा होने पर मिसेज़ ईट्स ने मुझे उसके सात ड्राफ़्ट दिखाए। उन दिनों मिसेज़ ईट्स ने ईट्स की टाइपिस्ट का काम किया। प्रथम ड्राफ़्ट ईट्स की हस्तलिपि में है। उससे मिसेज़ ईट्स ने टाइप किया। हर बार ईट्स उसमें कुछ काट-छाँट कर देते और मिसेज़ ईट्स फिर-फिर टाइप करके नया ड्राफ़्ट उनके सामने प्रस्तुत करतीं। इन ड्राफ़्टों के सूक्ष्म अध्ययन से दो बातें स्पष्ट हुईं—

1. पहले और अंतिम ड्राफ़्ट में लगभग बारह वर्ष का अंतर है।
2. अंतिम ड्राफ़्ट में जिन विश्वविश्रुत दार्शनिकों के नाम जोड़े गए हैं, उनकी प्रथम ड्राफ़्ट में कोई चर्चा नहीं है।

इससे यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि उनके दर्शन का उत्स कहीं और है। बाद के दार्शनिकों के अध्ययन से क्रमशः उनका अधिकाधिक समर्थन लिया गया है। पर एक समस्या बनी की बनी रह गई। A Vision का प्रथम ड्राफ़्ट किस आधार पर तैयार किया गया? ईट्स ने ऐसा संकेत दिया था कि वह मिसेज़ ईट्स की 'आटोमेटिक स्क्रिप्ट' के आधार पर तैयार किया गया। मैंने श्रीमती ईट्स से जानना चाहा कि क्या 'आटोमेटिक स्क्रिप्ट' सुरक्षित है और क्या वे मुझे दिखा सकती हैं? श्रीमती ईट्स ने मुझसे कहा कि आटोमेटिक स्क्रिप्ट है, परंतु वे अभी उसे दिखाने के लिए तैयार नहीं हैं। यहीं बात खत्म हो गई।

डबलिन में मैं मि० जे० एम० होन से भी मिला। वे ईट्स के Official Biographer (अधिकारप्राप्त जीवनीकार) बनाए गए थे और उन्होंने १९४२ में ईट्स का सम्यक् जीवन-चरित प्रकाशित किया था। ईट्स के आदेशानुसार उनके सारे कागद-पत्र होन के देखने-परखने के लिए उपलब्ध कराए जाने को थे—निजी और गोपनीय सभी प्रकार के। उन्होंने मुझसे बताया कि श्रीमती ईट्स ने उनसे कुछ भी नहीं छिपाया, पर जब आटोमेटिक स्क्रिप्ट की बात उठी तो उन्होंने अपना मुँह बन्द कर लिया। जहाँ होन को भी सफलता न मिली थी, वहाँ मेरी दाल क्या गलती! मुझे कुछ निराशा हुई, पर मिसेज़ ईट्स के प्रति किसी प्रकार की शिकायत का भाव मेरे मन में नहीं उठा। प्राप्त तथ्यों से जो परिणाम मैंने निकाले, वे मेरी थीसिस में हैं, यहाँ उनका विस्तार सामान्य पाठक के लिए शायद ही रुचिकर हो।

फिर भी मिसेज़ ईट्स ने मुझे बहुत सहयोग दिया और मेरे प्रति बड़ी सद्भावना दिखाई।

वे बड़ी ममतामयी थीं और अपने पति के जीवन और काव्य में रुचि लेने वालों को बड़े स्नेह और समादर से देखती थीं। मैंने उनके घर में बैठकर लगभग एक मास काम किया। मुझे याद आता है, कभी लंच के समय वर्षा हो रही होती तो वे मुझे बाहर न जाने देतीं, कहतीं, 'मुझे अपने लिए तो खाना

बनाना ही है, तुम्हारे लिए भी कुछ बना दूंगी—तुम खाते ही क्या हो, अंडा, टोस्ट, उबली हुई सब्ज़ियाँ, फल ! शाकाहारी जो ठहरे।' वे मुझे अपनी ही टेबिल पर बिठाकर खाना खिलातीं और अपने और मेरे घर-परिवार के विषय में बातें करतीं। लड़का उनका विवाहित था और उसके अपने बाल-बच्चे थे, अलग रहते थे, इतवार-इतवार मिलने आते थे। आज़ादी मिलने के बाद आयर की अपनी राष्ट्रभाषा गेलिक के प्रचार पर ज़ोर दिया जा रहा था, स्कूलों में वह अनिवार्य कर दी गई थी। मिसेज़ ईट्स को शिकायत थी, 'मेरे पोते-पोतियाँ जो भाषा बोलते हैं, वह मैं नहीं समझ पाती। पता नहीं, भविष्य में वे अपने दादा की लिखी हुई चीज़ें पढ़ पाएँगे या नहीं।' उनकी लड़की किसी स्कूल में पेंटिंग की शिक्षा लेती थी, सुबह ही घर से निकल जाती थी और शाम को लौटती थी। बेटा उनका आइरिश पार्लियामेंट में सेनेटर था, ईट्स भी अपने अंतिम वर्षों में थे। विचित्र है कि बेटे को अपने पिता के साहित्य में कोई रुचि नहीं थी, कुछ थी तो बेटी को। मिसेज़ ईट्स अक्सर चिंता व्यक्त करतीं, 'बिली की चीज़ों का, जो मैंने सालों से जोगा कर रखी हैं, पता नहीं, मेरे बाद क्या होगा !'

ईट्स की एक-एक चीज़ के साथ जो स्मृतियाँ जुड़ी थीं, उन्हें वे माला की तरह फेरती थीं। एक दिन याद है, उन्होंने मुझे वह प्रशस्ति-पत्र और तमग़ा दिखाया था, जो उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने पर दिया गया था। उस अवसर पर ईट्स ने जो व्याख्यान दिया था, बड़ा ही मार्मिक है। सोने के तमग़े के एक ओर ईट्स का पूरा नाम खुदा है, दूसरी ओर कविता की देवी खड़ी है और एक नवयुवक उसके चरणों में बैठा वीणा बजा रहा है। ईट्स ने उसे देखकर कहा था, 'एक दिन मैं जवान था और मेरी कविता निर्बल-जर्जर थी, आज मैं बूढ़ा हो गया हूँ और मेरी कविता जवान हो गई है'—विरोधों को एक-दूसरे के समक्ष लाकर उनके प्रभाव को बढ़ाना ईट्स की कला की विशेषता है, जो, ईट्स के कथनानुसार, उन्होंने कब्बाला के प्रतीकों से सीखी थी। मैंने ईट्स के भावों को कभी अपने शब्दों में रखा था—

है कहा किसी ने, जब शायर बूढ़ा होता,
उसकी कविता तब नौजवान हो जाती है

शायद सरोजिनी नायडू पर लिखी मेरी कविता में ये पंक्तियाँ हैं।

एक दिन ईट्स के प्रतीकों पर हमारी बात हो रही थी। वे प्रायः दो तरह के हैं—एक, जो सीधे अपने लक्ष्य पर जाते हैं और दूसरे, जो गोल-गोल घूमते हैं, चक्कर काटते हैं। सीधे जानेवाले दार्शनिक दृष्टि के प्रतीक हैं, गोल-गोल जाने वाले काव्यात्मक दृष्टि के। ईट्स कवि और दार्शनिक दोनों होना चाहते थे, दोनों के संघर्ष में, तनाव में सदा रहे, और न जाने कितने प्रतीकों से उन्होंने इसे व्यक्त किया :

> कवि का पंथ अनंत सर्प-सा
> जो है मुख में पूंछ दबाए,
> और मनीषी तीर सरीखी
> सीधी अपनी लीक बनाए

काव्य और दर्शन के द्योतक सर्प और तीर भी कब्बाला के आदि प्रतीक हैं।

श्रीमती ईट्स उठीं और एक छोटी-सी डिबिया लाईं। उसमें एक सोने की अँगूठी थी। अँगूठी के ऊपर बाज और तितली की शक्ल बनी हुई थी—बाज़ सीधे झपटनेवाला, तितली गोल-गोल घूमने वाली। यह अँगूठी ईट्स ने खुद डिज़ाइन की थी और अपनी छिगुनी में हमेशा पहने रहते थे—जैसे उन्हें याद दिलाते रहने को कि वे बाज़ भी हैं, तितली भी दार्शनिक भी, कवि भी। मिसेज़ ईट्स ने मेरी छिगुनी पकड़ी और वह अँगूठी उस पर खिसका दी, जब वह ठीक फ़िट हो गई तो ग़ौर से उसकी ओर देखकर बड़े स्मृति-करुण स्वर में बोलीं, 'विली की उँगली ठीक तुम्हारी जैसी थी।' मैं किन भावों में डूब गया, मैं नहीं कह सकता; जैसे उस अँगूठी की किसी जादुई शक्ति ने मुझे छू दिया।

एक शाम को वे मुझे एबी थियेटर में एक नाटक दिखाने ले गईं। एबी थियेटर को राष्ट्रीय रंगमंच के रूप में स्थापित करनेवालों में ईट्स का प्रमुख योगदान था। कहते हैं, पहले यह मुर्दाघर था—शायद ईट्स को लगा कि यहीं से आयर का भूत-अतीत बोल सकता है। ईट्स ऐसे प्रतीकात्मक काम बहुत करते थे। एक बार जब उनका दार्शनिक उनमें प्रखर था, तब थूर बलाइली में अपने रहने को उन्होंने एक पुराना कासिल ख़रीद लिया था, जिसमें एक टावर

था, जिसकी सबसे ऊँची मंजिल पर उन्होंने अपनी स्टडी बनाई थी—टावर, सीधी उर्ध्वगामी दृष्टि का प्रतीक—उस शाम एबी थियेटर में जो नाटक खेला गया था, गेलिक भाषा में था। गेलिक, ध्वनि से मुझे सशक्त भाषा लगी। अंग्रेज़ों ने व्यर्थ ही उसे नेस्त-नाबूद करने का प्रयत्न किया, वह मारी नहीं जा सकती। काश, आयरी लोगों ने गेलिक की अपनी लिपि का भी आग्रह न किया होता। तब योरोपीय भाषाओं के साथ उसका मेल-जोल जल्दी बढ़ता। दूसरे की भाषा के सम्बन्ध में मैं कुछ कहने का अधिकारी नहीं, शायद भाषा और लिपि का कोई अनिवार्य सम्बन्ध हो। वर्तनी और उच्चारण के अन्तर में गेलिक अंग्रेज़ी के भी कान काटती है।

डबलिन की थियोसोफ़िकल सोसाइटी का मुझे कुछ अता-पता न मिला। किसीने मुझे बताया, डबलिन की आग और बममारी में बहुत-सी इमारतें नष्ट हो गई थीं, शायद थियोसोफ़िकल सोसाइटी की इमारत भी उन्हीं में हो—प्रसंगवश बता दूँ कि संसार में सबसे पहली हवाई बममारी सहने वाली डबलिन की ही धरती थी।

ईट्स-सम्बन्धी कुछ कागद-पत्र मुझे डबलिन के नेशनल म्यूज़ियम में मिले, पर वे मेरे लिए अधिक उपयोगी न थे। ईट्स को लिखे गए टैगोर के कुछ पत्र भी वहाँ सुरक्षित थे और एक बार उन्हें देखकर मेरे मन में यह लोभ समाया कि इन्हें नक़ल करके ले जाऊँ तो 'विश्व भारती' में इनका बड़ा स्वागत होगा। कुछ पत्र मैंने नक़ल भी किए, फिर किसीने मुझसे कहा कि ये पत्र दुर्लभ नहीं, शायद प्रकाशित भी हो चुके हैं, टैगोर अपने महत्त्वपूर्ण पत्रों को भेजने के पहले उनकी प्रतिलिपि अपने पास रख लेते थे। प्रतिभा अपने महत्त्व के प्रति कितनी सचेत होती है और अपनी कृति को सुरक्षित रखने के लिए कितना श्रम करती है! मैं प्रतिभा को अपने महत्त्व के प्रति लापरवाह पाऊँ तो निश्चय मैं उसे अधिक आदर दूँ।

ईट्स के पुस्तकालय के बाद मुझे सबसे अधिक उपयोगी सामग्री डबलिन युनिवर्सिटी के ट्रिनिटी कालेज में मिली। वहाँ के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष प्रो० व्हाइट को हेन ने मेरे बारे में पत्र लिख दिया था। पर वे छुट्टी पर जा रहे थे और मेरी सहायता करने का काम अपने एक सहयोगी को सौंप गए थे। इनकी सहायता से मुझे 'डबलिन युनिवर्सिटी रिव्यू' की पूरी की पूरी फ़ाइल

मिल गई, केम्ब्रिज की लाइब्रेरी में केवल कुछ संख्याएँ उपलब्ध थीं। इसमें ईट्स की कविताएँ सबसे पहले प्रकाशित हुई थीं। कइयों को तो ईट्स ने बाद में अपनी कृतियों में सम्मिलित ही न किया। साधारण पाठक के लिए न हों, पर शोधार्थी के लिए ये रचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं। कवि की नवीनतम रचनाओं से भले ही इस बात का पता लगे कि उसने अपनी कला में कितना ऊँचा स्थान प्राप्त किया है, लेकिन यह उसकी पहली और प्रारम्भिक रचनाएँ ही बताएँगी कि कवि ने कहाँ से चलकर और किन साधनाओं द्वारा वह उच्चता प्राप्त की है। फल का पूरा महत्त्व तभी समझा जा सकेगा, जब बीज के महत्त्व को समझ लिया जाए। 'डबलिन युनिवर्सिटी रिव्यू' से जो सामग्री मुझे मिली थी, उसके प्रकाश में मुझे अपने प्रारम्भिक अध्यायों को फिर से लिखना पड़ा।

ट्रिनिटी कालेज के पुस्तकालय में दो और अद्भुत वस्तुएँ देखने की याद मुझे बनी है हालाँकि मेरे शोध-कार्य से उनका कोई संबंध नहीं था—एक थी—'बुक आफ केल्स' और दूसरी थी बार्कले की टेबिल।

'बुक आफ़ केल्स' एक मज़बूत शीशे के केस में रखी बाइबिल की सचित्र प्राचीनतम पांडुलिपि है। कहते हैं, यह छठी शताब्दी में सेंट कोलबा के केल्स-स्थित मठ में सन्तों द्वारा तैयार की गई थी। इसके चित्रों में रंग-रेखाओं की जो ज्यामिती कलाकारी दिखाई गई है, उसके बारे में यही कहा जाता है—'न भूतो न भविष्यति'। इस पांडुलिपि की जिल्द सोने के मोटे पत्र से मढ़ी गई थी, जिसमें बहुमूल्य हीरे-जवाहर जड़े थे। दसवीं शताब्दी में मठ पर आक्रमण हुआ और यह बहुमूल्य पांडुलिपि हमलावरों के हाथ लगी, फिर इसे चोर उठा ले गए और उन्होंने इसके सोने के पत्र उधेड़, उसके हीरे-जवाहरात उखाड़े। फिर यह कई अनाड़ी हाथों में पड़ती मध्ययुग में इंग्लैंड के राजा हेनरी अष्टम के पास पहुँची, १६६१ में उसके बचे-खुचे ३३९ पन्ने डबलिन के ट्रिनिटी कालेज के अधिकार में आए और तब से आज तक उसीके पास हैं। इसके किसी पन्ने का चित्रांकन दूसरे पन्ने को तरह नहीं है। नियमपूर्वक इसका एक पन्ना प्रतिदिन उलटा जाता है और फिर शीशे का केस चौबीस घंटों के लिए बन्द कर दिया जाता है। आयर-निवासी सैकड़ों की संख्या में प्रतिदिन इसे देखने जाते हैं और इसे अपनी सबसे पवित्र और सबसे मूल्यावान संपत्ति समझते हैं। बहुतों को आश्चर्य हो सकता है कि ईट्स ने 'बुक आफ़ केल्स' पर कुछ नहीं

लिखा। सच्चाई तो यह है, कला के सामने कला उसकी प्रतिद्वंद्विता में नहीं खड़ी होती। अजंता, एलोरा पर कविता की एलोरा, अजंता तक्षित-चित्रित हुई? कोणार्क, ताजमहल पर काव्य का कोणार्क, ताजमहल खड़ा हुआ? कविता पर कविता क्या लिखी जायगी! लिखी जायगी तो उससे बहुत-बहुत फीकी होगी। 'बुक आफ़ केल्स' का हर पृष्ठ कविता है, कला है, साधना है, पूजा है, आत्मसमर्पण है—कलाकार संतों ने इस पर कहीं भी अपना नाम नहीं लिखा, पर इसके किसी पृष्ठ पर एक नाम लिखा है। किसका? क्वीन विक्टोरिया का। कहते हैं, जब क्वीन विक्टोरिया आयरलैंड की राजसी यात्रा पर आई थीं, तब उन्होंने उस पर अपने हस्ताक्षर कर दिए थे। 'बुक आफ़ केल्स' का यह एकमात्र कलंक है—'केहिन राजमद दीन्ह कलंकू'।—हम अजंता, एलोरा के चित्रकारों-तक्षकों का नाम जानते हैं?

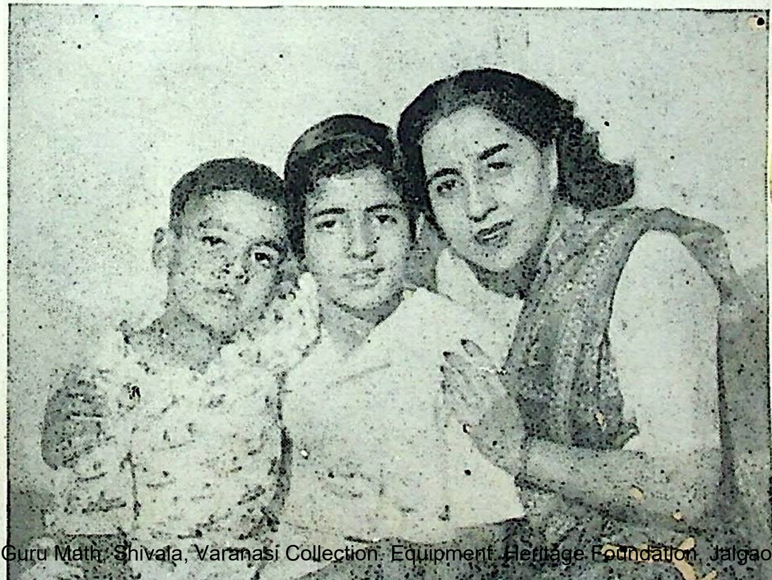
दार्शनिक बार्कले के नाम से सब पढ़े-लिखे लोग परिचित हैं। उनका दर्शन पाश्चात्य-दर्शन के इतिहास में प्रगति का एक प्रमुख सोपान है। उचित ही है कि उनकी स्मृति में उनकी टेबिल ट्रिनिटी कालेज में सुरक्षित रखी गई है। (लगता है, प्रसिद्ध लेखकों की टेबिल को आयरवासी विशेष महत्त्व देते हैं, सेंट पेट्रिक हास्पिटल में डीन स्विफ़्ट की टेबिल भी रखी है, जिस पर, कहा जाता है, स्विफ़्ट ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'गलिवर्स ट्रैवेल्स' लिखी थी।) इसी टेबिल के सामने बैठकर, या खड़े होकर बार्कले ने अपना दर्शन लिखा होगा। मैंने उसका अध्ययन बी० ए० में किया था। 'खड़े होकर' शब्द से आप चौंके होंगे। यही तो इस टेबिल की विशेषता है। यह इस तरकीब से बनाई गई है कि उसे इच्छानुसार ऊँचा या नीचा किया जा सकता है। मेरे गाइड ने बताया कि इस पर बिस्तर पर लेटे-लेटे भी लिखा जा सकता है। उसके ऊपर का पटरा भी इच्छानुसार विभिन्न कोणों पर झुकाया-उठाया जा सकता है।

केम्ब्रिज लौटने पर मुझे घंटों कुर्सी पर बैठकर लिखना पड़ता था, जिससे मेरी कमर दुखने लगती थी। बार्कले-टेबिल से प्रेरणा लेकर मैंने एक टेबिल बनवाई, जिसके सामने खड़े होकर मैं देर तक काम कर सकता था। वह इच्छानुसार उठाई-गिराई, झुकाई-उठाई तो नहीं जा सकती थी। अब जब से मुझे स्पांडिलाइटिस की तकलीफ़ हुई है, डाक्टर गर्दन झुकाने को मना करते हैं, ज़्यादा तकलीफ़ होने पर गर्दन में पट्टा भी पहना देते हैं—पर लिखना तो



डॉ० बच्चन — भारत लौटकर जहाज़ से उतरते हुए

तेजी, अमिताभ और अजिताभ





केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से बाहर निकलते हुए डॉ० बच्चन

पुस्तकालय के सामने श्री एच० ए० खां, रणवीरसिंह बावा और डॉ० बच्चन



गर्दन झुकाकर ही किया जा सकता है। बिना गर्दन झुकाए लिखना हो तो एक दूसरी तरकीब की जा सकती है, लिखने की टेबिल को सामने से झुकाया और पीछे से उठाया जाय। कहाँ तक तरह-तरह की टेबिलें बनवाता फिरूँ, रखने को जगह भी चाहिए। इन दिनों मुझे बाकंले की टेबिल बहुत याद आई है। काश, मुझे उसका डिज़ाइन मिल जाता तो मैं एक अपने लिए ज़रूर बनवाता। फ़िलहाल, लिखना ही बंद करने की बात सोच रहा हूँ। क्षमा करेंगे, मुख्य प्रसंग से कुछ बाहर चला गया।

डबलिन में मैं अपने शोध के संबंध में जिन लोगों से मिला, उनमें से दो के नाम और लेना चाहूँगा, एक थे आरलैंड अशर और दूसरी थीं सालकेल्ड ब्लनेड।

अशर मेरी ही उम्र के होंगे, स्वतन्त्र लेखन करते थे, स्वस्थ, हट्टे-कट्टे, पता नहीं अपने सिर के बाल प्रायः मुँडा क्यों रखते थे! साल भर पहले उनकी पुस्तक Three Great Irishmen (थ्री ग्रेट आयरिशमेन) लन्दन से प्रकाशित हुई थी—तीन बड़े आयरी जनों में उन्होंने ईट्स, बर्नार्ड शा और जेम्स ज्वायस को रखा था। मुझे देखकर कुछ आश्चर्य होता था, कुछ प्रसन्नता भी होती थी कि ईट्स के जिस पक्ष पर मैं काम कर रहा था उसमें बहुत लोगों की रुचि थी, शायद वे इसी कारण ईट्स के प्रति आकर्षित होते थे और कुछ दिन उस गोरखधंधे को सुलझाने में सिर खपा, प्रायः असफल हो, उनकी कविता के प्रेमी बनकर रह जाते थे। कुछ लोगों को यह संदेह होने लगा था कि ईट्स की यह प्रदर्शनकारी विचित्र अभिरुचि महज़ मज़ाक़ तो नहीं थी, जिससे वे लोगों को अपनी ओर खींचते थे। इसीको लेकर अशर से मेरी एक दिन लंबी बातचीत हुई। अंत में, हम इसी परिणाभ पर पहुँचे कि आयरी आदमी कब गम्भीरता में मज़ाक़िया और कब मज़ाक़ में गम्भीर हो जायगा, कोई नहीं कह सकता।

उन्होंने 'टैरट' कार्डों पर अपना एक अप्रकाशित लेख भी मुझे पढ़ने को दिया था। टैरट कार्डों की एक गड्डी ईट्स के सामान में भी थी। अशर का ख्याल था कि ईट्स ने अपने कुछ प्रतीक टैरट कार्ड से उठाए थे। यह अंशतः ठीक हो सकता है, पर प्रतीकों के चुनाव के विषय में हेन की राय मुझे अधिक ठीक लगती है। जब कोई प्रतीक ईट्स को आकर्षित करता था, तब वे साहित्य,

चित्रकला, लोककथा, दंतकथा, पुरा इतिहास सबमें उसे पहचानने-परखने का प्रयत्न करते थे और जब वह कई संदर्भों में अपनी अर्थवत्ता सिद्ध करता था तभी उसे स्वीकार करते थे। हेन का ख्याल था कि समय-स्वीकृत प्रतीकों से ईट्स के अपने गढ़े प्रतीकों की संख्या कम से कम चौगुनी होगी। इनमें अर्थ-संकेतों की कितनी संभावना छिपी है, इसे तो आगे के प्रयोग बताएँगे, अगर आगे के कवियों ने इन्हें स्वीकारा और इन्हें प्रयुक्त किया।

डबलिन में मैंने जिन लोगों से ईट्स के संबंध में बातें कीं, उनमें सबसे अधिक तत्व की बातें शायद सालकेल्ड ब्लनेड ने कहीं। जिस समय मैं उनसे मिला, उनकी उम्र लगभग सत्तर के होगी। ईट्स उस समय जीवित होते तो नब्बे के होते। वे ईट्स की पीढ़ी की कवयित्री थीं, ईट्स के यौवन की प्रेयसी माडगान की सहेलियों में, विशुद्ध आइरिश, आयरीजन की विनोद-व्यंग्य वृत्ति से पूर्णतया चेतन्त !

उन्होंने अपनी बातों से मुझे जितना हँसाया, उतना आयरलैंड में किसीने न हँसाया होगा। वे अपने बेटे-बहू और दो सुन्दर पोतियों के परिवार में चौधरानी की तरह रहती थीं, जो कुछ उनके चारों ओर था, जैसे उससे पूर्णतवा सन्तुष्ट-प्रसन्न। क्या आप विश्वास करेंगे कि इस बुढ़िया ने अपनी ६५ वर्ष की अवस्था में.अपनी पोतियों के साथ गेलिक सीखनी शुरू की थी और अब उसमें बखूबी बात कर सकती थीं !

उन्होंने ईट्स के सम्बन्ध में जो कहा, अब उसे मैं हिन्दी में आदरसूचक क्रिया के साथ न कहूँगा। शायद इससे ब्लनेड का मूड शब्दों में अधिक प्रतिबिम्बित हो सके। अंग्रेज़ी में आदरसूचक क्रिया है भी नहीं।

ईट्स की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा, जैसे वे ईट्स के चरित्र का कोई सूत्र ही दे रही हों।

'वह व्यक्ति नहीं था, वह एक विरोधाभास था, जो उसके नामकरण के साथ ही शुरू हो गया था, विलियम बटलर ईट्स—विलियम = राजा, बटलर = कलवार…'

इतना कहकर वे ठठाकर हँसीं।

मैंने कहा, 'हमारे यहाँ एक कहावत है, कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजवा तेली।'

बोलीं, 'ईट्स दोनों एक साथ था, एक दिन वह लन्दन के हाउस आफ़ लार्ड्स में भाषण दे सकता था और दूसरे दिन गालवे के मछुआरों से गप लड़ा सकता था।

'शिक्षा उसने ली चित्रकारी की,
लिखता रहा वह कविता।
पैदा हुआ प्रोटेस्टेंटों के घर,
पूजता रहा कैथलिक सन्तों को।
प्रेम करता रहा माडगान से,
पतित्व निभाता रहा जार्ज से।
(जार्ज ईट्स की पत्नी का नाम था)
जवानी में बूढ़े होने की कल्पना करता था,
बुढ़ापे में जवान होने की।

'सत्तर वर्ष की उम्र में यौन-शक्ति प्राप्त करने के लिए डा० वारनाफ़ से आपरेशन भी कराया था।

(हमारे यहाँ इंदौर के सेठ हुकुमचन्द ने भी कराया था।)*

और बीस मिनट तक वे ईट्स के जीवन के विरोधाभासों की गणना ही कराती गईं।

अन्त में वे सहसा गम्भीर हो गईं।—

'ज़िन्दगी भर उसका एक हिस्सा अपने ही दूसरे हिस्से से लड़ता रहा। उसका जीवन एक लम्बा तनाव था। वह बहुत ही दुखी आदमी था।...'

आरलैंड अशर ने ठीक ही कहा था कि पता नहीं कब आयरीजन मज़ाक़ करते-करते गम्भीर हो जाए।

यह बहुत बड़ा सत्य है कि ईट्स का जीवन तनावों का जीवन था। मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ तनाव उनके जीवन मे अपनेआप आ गए थे, पर कुछ उनके स्वनिर्मित भी थे। किसी दर्जे पर, अपनी अनुभूति से या साहित्य और

*सुना था, डा० वारनाफ़ यह आपरेशन करने के लिए एक लाख रुपए लेते थे।

इतिहास के किसी उदाहरण से उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि ज़िंदादिल तो तनावों में ही जीता है,

मुर्दादिल ख़ाक़ जिया करते हैं ।

ईट्स बड़े ही जीवट के आदमी होंगे कि प्रकृति-नियति के विहित तनावों के बावजूद उन्होंने कुछ और भी अपने पर आरोपित कर लिए थे। और मैं समझता हूँ कि मैं बहुत ग़लत नहीं हूँ, अगर मैं ऐसा कहूँ कि इन परस्पर विरोधी तनावों ने कभी-कभी एक-दूसरे के प्रभाव को नकारकर ईट्स को एक सन्तुलन की अनुभूति भी कराई होगी, जिसे पहुँचे हुए योगी ही प्राप्त करते हैं—समत्वं योग उच्यते। अन्यथा उनसे ऐसी पंक्तियाँ न निकलतीं :

एक दृष्टि निरपेक्ष
डालता हूँ जीवन पर और मरण पर
औ' घोड़े को एड़ लगाता
बिदा विधाता*—

सालकेल्ड ब्लनेड ने मुझे अपनी कविताओं का एक संग्रह दिया था—And the Engine did not stop (एन्ड द एंजिन डिड नाट स्टाप) नाम का। उसकी एक पंक्ति मुझे बहुत अच्छी लगी थी, जिसका उपयोग मैंने अपनी एक कविता में किया है—'सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर'

आइरिश कवि की लिखी
यह पंक्ति
स्मृति में कौंध जाती—
The Kings are never more royal
Than when abdicating.
राजसी लगता अधिकतम
जबकि राजा
राजसिंहासन स्वयं ही त्याग देता।

---

*उनके Epitaph (एपीटाफ़—मृत्युलेख) का मेरा अनुवाद।

कुछ लोगों ने समझा था कि ये पंक्तियाँ ईट्स की हैं। इन पंक्तियों का सत्य भारत-भूमि पर जितनी बार मूर्तिमान हुआ है, उतनी बार संसार में शायद और कहीं नहीं।

डबलिन में जिन लोगों से मिलने के लिए हेन ने मुझे पत्र दिए थे, वे सभी ईट्स के प्रेमी और प्रशंसक नहीं थे, कुछ उनके कटु आलोचक और निंदक भी थे। कभी-कभी मैं सोचता था कि हेन ने क्यों चाहा होगा कि मैं उनसे मिलूँ, पर कभी-कभी निंदक कुछ ऐसे सत्य प्रकट करते हैं जो प्रशंसक दबा जाते हैं। कबीर ने निंदक को नेड़े रखने की सलाह शायद इसीसे दी होगी। ईट्स के पथ में आयरलैंड ने सदा फूल ही नहीं बिछाए थे, उनका विरोध भी किया गया था। वे आस्था से प्रोटेस्टेंट नहीं थे, पर प्रोटेस्टेंट परिवार में जन्मे तो थे। आयरलैंड का राष्ट्रीय आंदोलन मुख्यतया कैथलिक आंदोलन था। कभी-कभी, इसी कारण ईट्स के राष्ट्रप्रेम को भी संदेह की दृष्टि से देखा गया था। उनके कतिपय नाटकों को धर्मविरोधी अथवा राष्ट्रविरोधी घोषित किया गया था, और जब वे खेले गए थे, तब उन पर धरना भी लगा था। नई पीढ़ी के लोग अतार्किकता के प्रति उनके झुकाव को नापसंद ही नहीं करते थे, उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। ऐसे लोगों में स्वयं ईट्स के सुपुत्र थे। उनका ख्याल था कि आयरलैंड के एक ऐसे विश्वविख्यात व्यक्ति का ऐसी तर्कहीन, दक़ियानूसी बातों में रुचि लेना आयरलैंड की मनीषा को लांछित करने के साथ, उसकी बौद्धिकता को निम्नस्तरीय सिद्ध करता है। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं ईट्स की 'ओकल्टिज़्म' पर शोध कर रहा हूँ, तब उन्होंने मुझसे मिलने से ही इन्कार कर दिया—'आपको मुझसे कोई सहायता नहीं मिलेगी, मुझसे मिलकर आप अपना समय ही नष्ट करेंगे।' वे तो शायद समझते होंगे कि इस विषय में उलझकर मैंने अपने जीवन के दो-ढाई वर्ष नष्ट ही किए। आज चौबीस वर्षों बाद भी मैं अपने उन दो-ढाई वर्षों को अपने जीवन के सबसे अधिक सार्थक वर्षों में गिनता हूँ, अन्यथा उनकी स्मृति को सँजोए रखने और उन्हें इस लेखन के द्वारा एक बार फिर, शायद अधिक सघनता से, जीने के अर्थ क्या हैं!

डबलिन में रहते हुए मैं छह दिन काम करता, लोगों से मिलता-जुलता और सातवें दिन यानी रविवार को सरकारी टूरिस्ट बसों से दिन भर के लिए

आयरलैंड के विभिन्न भागों की यात्रा के लिए चला जाता।

आयरलैंड के कितने पहाड़, नदी, झील, झरने, बन, उद्यान, ऐतिहासिक इमारतें, पुराने गढ़, गिरजे, खंडरात, अनगढ़ पत्थरों से बनी गोली ऊँची कुकुरमुत्ताशक्ली मीनार, शिला-सलीब, बारीक से भद्दे नक़्क़ाशियों तक के, और बलुहे, पथरीले, कँकरीले, गहरे, छिछले समुद्र-तट मेरी आँखों के सामने घूम गए हैं, कानों में गूँजने लगी हैं गाइडों द्वारा बताई हर स्थान से जुड़ी कहानियाँ, दंतकथाएँ, अंधविश्वास, झूठे-सच्चे इतिहास। अगर मैं सबका वर्णन करूँ तो यह आत्मकथा नहीं, आयरलैंड की गाइड-बुक हो जायगी। प्रकृति, और मानव के विभिन्न रूप भी, केवल मेरी गहरी भावनाओं की छाया में सजीव हो पाते हैं और गहरी भावनाओं में आदमी ज़्यादा देर नहीं ठहर सकता। कभी किसी गहरी भावना में डूबे हुए मेरे मुँह से कविता फूटती है, इन क्षणों की उपेक्षा न कर सकूँ तो आप मेरे कवि को क्षमा करेंगे। इन सारी यात्राओं में एक समुद्र-तट भुलाए नहीं भूलता।

सूर्यास्त हो गया है, पर संध्या के नारंगी रंग के बादलों से अभी समुद्री क्षितिज आलोकित है, पीछे निचली बंजर पहाड़ी पर एक छोटा-सा पत्थर का काटेज है, खस्ता हालत में, शायद बहुत दिनों से इसमें कोई रहता नहीं, कौन आया होगा कभी एकाकी इस सुनसान में रहने को! पहाड़ी की तराई से लगी सड़क पर आकर हमारी टूरिस्ट बस रुकी है और सब लोग उतरकर सहसा चुप क्यों खड़े हैं! यहाँ का उदास सौंदर्य चुप-निश्चल होकर ही देखा जा सकता है।

सिंधु का छिछला-छिछला तीर,
अकंपित, नील मुकुर-सा नीर।
यहाँ लगता है कोई छोड़
गया है मन की गहरी पीर।

यह कविता मैंने किसी संग्रह में नहीं दी। हाँ, यह पूरी कविता है, पर इसी समुद्र-तट पर सुनने, सुनाने को।

आयरलैंड में मैं बहुत देर ठहर गया। अब बस दो कुछ लंबी यात्राएँ करके मैं केम्ब्रिज लौट जाऊँ—एक डबलिन से स्लाइगो तक की, आयरलैंड के

उत्तर आर-पार, पूर्व से धुर पश्चिमोत्तर; दूसरी डबलिन से किलार्नी तक की, आयरलैंड के दक्षिण आर-पार, पूर्व से धुर पश्चिम-दक्षिण। थीसिस तैयार करने के लिए अब सिर्फ़ छह महीने हाथ में हैं।

हेन ने मुझसे बार-बार आग्रह किया था कि जब मैं आयरलैंड जाऊँ तो तीन-चार दिन स्लाइगो में ज़रूर बिताऊँ, और वहाँ से कुछ मील पर ड्रमक्लिफ़ भी जाऊँ, जहाँ बेन बुलब्रेन पहाड़ी के चरणों में ईट्स अनंत निद्रा में सोए हैं।

'वहाँ जाकर तुम कुछ देर क़ब्र के सामने खड़े होना। तुम ईट्स की मिट्टी के इससे अधिक निकट न आ सकोगे।'

हेन ने स्लाइगो के एक वयोवृद्ध सज्जन बर्टी ऐन्डरसन से भी मिलने को कहा था, जो ईट्स को भलीभाँति जानते थे और उनके पारिवारिक मित्र थे। 'तुम उन्हें स्लाइगो में सबसे अधिक रोचक व्यक्ति पाओगे।'

स्लाइगो मैं ट्रेन से गया, बस से भी जा सकता था, लगभग डेढ़ सौ मील की दूरी पर है डबलिन से, कोई चार घंटे लगे होंगे सफ़र में। आयरलैंड में चाहे आप बस से यात्रा करें, चाहे रेल से, दोनों ओर आपको घनी हरियाली ही दिखाई देगी, और थोड़ी-थोड़ी दूर पर पानी के लंबे-चौड़े फैलाव, हरे-भरे खेतों के बीच पन्द्रह-बीस घरों के छोटे-छोटे गाँव, और कहीं-कहीं पुराने या नये गिरजे आसमान में अपना सिर उठाए हुए, किसी नज़दीक के गाँव से गुज़र रहे हों तो मोटे-टाँठे गधों पर सामान लादे किसान या बिना ज़ीन-रकाब ऊँचे घोड़ों की नंगी पीठों पर सिर्फ़ लगाम के सहारे घोड़े भगाते लड़के, लड़कियाँ भी। नवयुवती माडगान ऐसे ही घोड़े पर चढ़कर जब पहले-पहल डबलिन आई थी, तब ईट्स उसे देखते ही अपना दिल खो बैठे थे।

ट्रेन में ज़्यादा भीड़ नहीं, स्टेशन पर कोई चालिस-पचास आदमी उतरे होंगे, इससे ज़्यादा लोग तो हमारे छोटे-छोटे गाँवों के स्टेशनों पर उतरते-चढ़ते हैं। स्लाइगो टर्मिनस है, वहाँ जाते हैं या तो सैलानी या मछली के व्यापार से संबद्ध लोग। स्लाइगो के समुद्री तटों पर जो मछलियाँ मिलती हैं, उनकी आयरलैंड भर में माँग है, स्टेशन की मत्स्य-गंध ही यह बता देती है। ईट्स ने यहाँ के मछली-मछुआरों को अपनी कविता में कितना उठाया है, यहाँ तक कि कवि को भी मछली के रूप में देखा है—

Shakespearean fish swam the sea far away from land;
Romantic fish swam in nets coming to the hand;
What are all those fish that lie gasping on the strand!
(शेक्सपियरी मछली तट से दूर समुद्र में तैरी;
रूमानी मछली तट के इतने निकट तैरी कि जाल में आ फंसी ;
ये कैसी मछलियाँ हैं जो तट पर पड़ी तड़फड़ा रही हैं !)

अंग्रेज़ी के आधुनिक कवियों को तीसरी पंक्ति की कटिया अपने मुंह में पाकर नाराज़ न होना चाहिए। हिंदी के आधुनिक कवि, 'अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करहिं प्रकास' की कटूक्ति बहुत पहले से सहते आए हैं। खैर, खूबी कवि को गिराने में नहीं, मछली को उठाने में थी, पर यहाँ कम से कम हमें लज्जित होने की ज़रूरत नहीं, हम भगवान को भी मछली के रूप में देख चुके हैं।

डबलिन से स्लाइगो आकर मैंने ऐसा ही अनुभव किया जैसे लंदन से केम्ब्रिज आकर किया था—कुल जमा आबादी यहाँ की १४,००० और गिनती की तीन ऊँची इमारतों—यानी स्लाइगो टाउन हाल, स्लाइगो एबी और स्लाइगो कैथीड्रल—के साए में सारा शहर या क़स्बा।

ठहरा मैं लेक आइल गेस्ट हाउस में जो स्टीफ़ेन स्ट्रीट और माल रोड के नुक्कड़ पर था, सस्ती और सुविधाजनक जगह। श्रीमती ईट्स यहीं ठहरती थीं। उन्होंने मुझे बताया था, वे हर वर्ष ईट्स के मृत्यु-दिवस पर ड्रमक्लिफ़ जाती हैं और उनकी समाधि पर माल्यार्पण करती हैं। हम लोग जन्म-जयंती मनाते हैं, पाश्चात्य मृत्यु-दिवस। उनका कहना है कि जन्म से जो जीवन आरंभ होता है, वह मृत्यु पर समाप्त हो जाता है, पर मृत्यु से जो जीवन आरंभ होता है, वह अनंत होता है। अपना-अपना दृष्टिकोण।

जिस दिन पहुँचा, व्यवस्थित होते-होते शाम हो गई। दूसरे दिन सवेरे गेस्ट हाउस में पूछने पर पता लगा कि यहाँ गाइड तो बस जब-तब टूरिस्ट बसों के साथ आते हैं, जो डबलिन से आती हैं। लेकिन यहाँ का हर आदमी गाइड है, आप किसीसे पूछें, निराश नहीं होंगे।

बर्टी ऐण्डरसन को यहाँ कौन नहीं जानता?—'That old man

young or young man old' (जिसे बूढ़ा-जवान भी कहा जा सकता है और जवान-बूढ़ा भी) शहर से कुछ दूरी पर रहते थे। मौसम सुहाना था, पैदल ही चलकर उनके घर पहुँच गया। गाल्फ़ खेलकर लौटे थे, प्लस्फ़ोर में, क़द से मँझोले, शरीर से कुछ स्थूल, पर हर अंग अनुशासन में, जैसे कभी फ़ौज में रहे हों और बदन तब की क़वायद-कमाई अब तक खा रहा हो।

मैं अप्रत्याशित नहीं पहुँच गया था।

हेन का पत्र उन्हें मेरे बारे में मिल चुका था।

काउण्टी स्लाइगो का चप्पा-चप्पा उनका जाना-पहचाना, वहाँ के कितने परिवारों का इतिहास उनकी आँखों के आगे घटित, उनकी स्मृति में टंकित। उनकी ज़बान का घोड़ा जो छूटा तो भूसे-दाने की आवश्यकता पड़ने पर ही रुका, यानी लंच टाइम पर।

'स्लाइगो बहुत बड़ी जगह नहीं है, पर बहुत ख़ूबसूरत, कार्लाइल तक ने इसकी तारीफ़ की है (जैसे कार्लाइल बड़ी मुश्किल से किसी जगह की तारीफ़ करते हों) उनकी 'फ़्रेंच रेवोल्यूशन' तो आपने पढ़ी होगी? यहाँ आपका स्वागत। यहाँ बहुत-से अमरीकन आते हैं The Lake Isle of Innisfree (दि लेक आइल आफ़ इनिसफ़्री) देखने। लूगिल झील में है। यहाँ से दक्षिण बस दो मील पर। एक मील और आगे 'डूनी राक' है। ईट्स की एक कविता है The Fiddler of Doony (दि फिड्लर आफ डूनी)। कविता इसी राक से संबद्ध है। वह भी देखने की चीज़ है। आप तो अभी जवान हैं, पैदल जाएँ। मैं अस्सी का हूँ, फिर भी दस मील रोज़ चलता हूँ। कई द्वीप हैं, किसी-किसी पर पुराने गिरजों के खंडरात हैं, पहले वहाँ किश्तियाँ जाती थीं, अब तो मोटरबोट मिलती है। किसी ज़माने में लूगिल पर रईसों की अपनी-अपनी किश्तियाँ होती थीं, हेन के पिता की किश्ती पर हम लोग कितनी बार लूगिल पर घूमे हैं। ईट्स किसी द्वीप के खंडहर में अपने नए धर्म (cult) का मंदिर स्थापित करना चाहते थे, ऊँचे ख़्वाबों के आदमी थे। इस जगह को अमर कर गए। नहीं कौन इसे जानता! यहाँ से उत्तर पाँच मील पर ड्रमक्लिफ़ है। ईट्स ने वसीयत की थी कि उन्हें इसी जगह पर दफ़नाया जाय। वे यहाँ की मिट्टी को कितना प्यार करते थे, इसकी हर जगह, हर चीज़ को उन्होंने अपनी कविता में स्थान दिया। आप ड्रमक्लिफ़ ज़रूर जाइए। सुबह एक बस जाती है, एक शाम को। ईट्स के नाना वहाँ के

गिरजे के पादरी थे। हेन के दादा की यहाँ बड़ी जायदाद थी, सेब के खुशनुमा आर्चर्ड थे, पता नहीं वे सब कुछ बेच-बाच कर इंग्लैंड क्यों जा बसे? उनका लड़का आजकल कहाँ है? वह एक बार इधर आया था, कहता था, वह फिर यहीं आकर घर बसाएगा। मिट्टी मिट्टी को खींचती है। आपको समुद्री किनारों से प्रेम है? स्लाइगो के कई समुद्री किनारे बहुत सुन्दर हैं। रासेज़ प्वाइंट तो नजदीक ही है, यहाँ से पच्छिम पाँच मील पर, दिन में कई बसें वहाँ जाती हैं। वहाँ स्लाइगो का सबसे अच्छा गाल्फ़ टर्फ़ है, मैं रोज़ वहाँ तक पैदल जाकर गाल्फ़ खेलता हूँ, मौसम अच्छा हुआ तो पैदल ही लौटता हूँ। खेल के दौरान जो चलता हूँ, वह अलग। रासेज़ प्वाइंट पर ईट्स के नाम पर 'ईट्स कन्ट्री होटल' है। शनिवार को गाल्फ़ खेलने के बाद मैं स्लाइगो नहीं लौटता। 'ईट्स कन्ट्री होटल' में ठहर जाता हूँ, इतवार को वहीं रहता हूँ। सोमवार को गाल्फ़ खेलकर स्लाइगो आता हूँ। हर वीकएन्ड के लिए मेरे नाम वहाँ एक कमरा सुरक्षित रहता है। ईट्स का छोटा भाई चित्रकार था। उसने रासेज़ प्वाइंट की एक पेंटिंग की थी। असली कापी 'ईट्स कन्ट्री होटल' में अब भी लगी है। स्लाइगो और उसके आसपास को हम लोग ईट्स कन्ट्री कहते हैं। आप कितने दिन यहाँ हैं? 'ईट्स कन्ट्री' को जितना देख सकिए, देख लीजिए। पैदल घूमकर देखिए तो सबसे अच्छा। ईट्स न जाने यहाँ कितना पैदल घूमे होंगे। पैदल चलकर देखना किसी नई जगह को देखने का सबसे अच्छा तरीक़ा है। चलते-चलते इस भूमि की सुगन्ध लें। यहाँ के जलाशयों की लहरियों का कलकल-छलछल, यहाँ के पशु-पक्षियों का स्वर सुनें। यहाँ के पेड़-पौधों की रंगीनी देखें। फिर कभी आप ईट्स की कविताएँ पढ़ेंगे तो आपको पता लगेगा कि इसकी कितनी चेतना अपने मन में बसाकर ईट्स ने अपनी क़लम चलाई है। ईट्स प्रकृति के कवि नहीं हैं, जैसे वर्ड्सवर्थ थे, पर प्रकृति का संस्पर्श वे कभी भूलते नहीं। वे सस्ते मानों में राष्ट्रकवि भी नहीं हैं। पर राष्ट्र की मिट्टी, पानी, हवा उनकी कविता की पृष्ठभूमि में सदा अपनी उपस्थिति का आभास देती है।'...

बीच-बीच में ऐन्डरसन की एकाध बातों का ज़वाब देने के अतिरिक्त वे जो कहते रहे, मैं उसकी हुँकारी भरता रहा। लौटा तो लगा निर्जीव पृष्ठों पर ईट्स की आलोचना पढ़ने से यह कितना भिन्न अनुभव था! किसी कवि का

सच्चा महत्त्व समालोचना-ग्रंथों में नहीं लिखा जाता, वह अंकित किया जाता है—उसके प्रेमियों के हृदय-पटल पर।…

अपराह्ण में मैं पैदल जाकर लूगिल के तटीय वन-पर्वती सौन्दर्य को उसके नील जल-दर्पण में प्रतिबिम्बित देख आया। किनारे की सड़क के एक कोने से इनिसफ़्री का द्वीप भी दिखाई देता है। ईट्स का वह छोटा-सा गीत बहुत लोकप्रिय हुआ। सीधी-सादी अभिव्यक्ति है, भावनाओं की कोई गहराई नहीं, कल्पना की कोई उड़ान नहीं। सादगी को भी ईट्स ने उद्बोधक कैसे बनाया है! गीत को शुरू करते हैं बाइबिल की शब्दावली से—I will arise and go to my father—St. Luke (आई विल एराइज़ ऐंड गो टु माई फ़ादर—मैं यहाँ से उठूँगा और अपने पिता के पास चला जाऊँगा—सेंट लूक), जो अपने ध्वनि-संस्कार से हमें भौतिक संसार से ऊपर उठा देती है, फिर तो ईट्स हमें अध्यात्म की दुनिया में न ले जाकर, रूमान की दुनिया में ले जाते हैं और हम कोई एतराज़ नहीं कर पाते।

कुछ दूर और आगे बढ़कर 'डूनी राक' भी देख आया। राक की छाया में नीची छतों के थोड़े से घरों की बस्ती। लगता है, किसी घर से निकलकर डूनी का फ़िडलर अभी अपनी फ़िडिल बजाने लगेगा और फिर यहाँ से लौटना असम्भव होगा। उसके आने के पहले ही यहाँ से चल देना चाहिए।

When I play on my fiddle in Doony
Folk dance like the wave of the sea.
(जब डूनी में बजता मेरा इकतारा
तब डूनी के लोग नाचते हैं ऐसे
जैसे लहरें नाच रही हों सागर पर।)

अपने मुरलीधर का ही कोई विदेशी संस्करण है।

'नाद सुनि बनिता विमोहीं घर बिसारे चीर
मुरली अधर सजी बलबीर।'

शाम को बस से रासेज़ प्वाइंट गया। कितने लोग, कितने जोड़े, कितने अकेले। पर वे रासेज़ प्वाइंट के फैलाव को भर नहीं पाते। फैलाव—जैसे किसी

की प्रतीक्षा में पलक पाँवड़े विछाए पड़ा है, सभी आए हैं, वही नहीं आया,

'आवन कह गए, अजहुँ न आए दिवस रहे अब थोरी'

मीरा, तुम्हारा स्वर कहाँ-कहाँ प्रध्वतित होता है !

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे ड्रमक्लिफ़ गया, पैदल, साथ कुछ फूल ले गया था, मेरे लिए तीर्थ-यात्रा ही थी—रास्ते में वर्टी ऐंडरसन के आदेशानुसार ईट्स-प्रदेश के सौंदर्य को आँखों से पीता।

ड्रमक्लिफ़ में सड़क के एक ओर पत्थर की गोल मीनार है, ऊपर से खंडित; इस तरह की गोल मीनारें आयरलैंड में सब जगह हैं, स्लाइगो काउंटी में यह एक मात्र। बताते हैं, पुराने ज़माने में इन मीनारों का उपयोग हमलावरों पर निगहबानी रखने के लिए किया जाता था। एक के बाद एक उत्तरी योरोप की चार-पाँच जातियों ने आयरलैंड पर हमले किए। केवल रोमन वहाँ नहीं पहुँचे, जिनसे योरोप का कोई प्रदेश नहीं बच सका था। इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि केवल इस एक बात ने आयरलैंड की सभ्यता और संस्कृति को एक विशिष्टता दे दी है। खंडित मीनार के पास ही पत्थर का एक वड़ा-सा सलीब खड़ा है—बारीक नक़्क़ाशी की गई है उसके ऊपर। आयरलैंड के शिला-सलीबों की एक विशेषता है, इनके ऊपरी हिस्से को एक चक्र से घेरा गया है। ऐसा क्यों किया गया होगा, इसका रहस्य अभी तक नहीं खुला। ईट्स को तो अपने लम्बे-गोल प्रतीकों को साथ रखने के औचित्य का एक साक्ष्य इन सलीबों में भी मिला होगा—तीर के साथ साँप, बाज़ के साथ तितली, दर्शन के साथ काव्य। एक अनुमान है, ईसाईयत के साथ लोकविश्वास को मान्यता देने का संकेत तो इन सलीबों से नहीं किया गया? ईट्स को निश्चय ऐसी कल्पना संतोषप्रद लगती।

सड़क के दूसरी ओर ड्रमक्लिफ़ का गिरजा है—सामने कुछ दूरी पर क़ब्रों का सिलसिला है। ईट्स की क़ब्र को कोई विशिष्टता नहीं दी गई। कई क़ब्रों पर भटकने के बाद उनकी क़ब्र पर पहुँचा। कोई ऊँचाई भी उसे नहीं दी गई, भूमि से समतल, शरीर की लम्बाई-चौड़ाई की ज़मीन पक्की ईंटों से घेर दी गई है, बीच की ज़मीन कच्ची है, सिर की ओर तीन फ़ीट ऊँचे पत्थर पर ईट्स की पंक्तियाँ, जिनकी चर्चा पहले कर चुका हूँ, उनका नाम, जन्म और निधन

तिथि। घेरे के अंदर की कच्ची ज़मीन पर उन दिनों कम ऊँचाई के लाल फूलों के पौधे उग रहे थे—

उमर खयाम की रुबाइयों के अपने अनुवाद का एक पद याद आता है :

वही होते अति लाल गुलाब
लड़ें जिनकी कर पातीं पान
गड़े अवनी पतियों का ख़ून
देख यह आता मुझको ध्यान—
हाय, वन की हर सुम्बुल बेलि
रही जो हिल-खिल आज समोद,
किसी सुमुखी की कुंतल राशि
पड़ी जो गिर उपवन की गोद।

फूल जो मैं लाया था, पाँवों की ओर रख दिए। ये फूल तो मुर्झा जाएँगे; पर मेरी श्रद्धा ताज़ी रहेगी। दूर बेन बुलबेन पहाड़ी पर नज़र जाती है— ईट्स का यश इन्हीं चट्टानों के समान अटल है।

ईट्स की समाधि के सामने खड़े होकर एक प्रार्थना करता हूँ—

तुम पर कुछ कहने जा रहा हूँ,
तुम को सही प्रस्तुत करूँ;
तुम को ग़लत न प्रस्तुत करूँ।

मुझे न और कुछ करना था, न और किसी से मिलना था। स्लाइगो की ओर जाने वाली बस आने में बहुत देर थी। पैदल ही वापस चल पड़ा। रास्ते में उधर जाती एक मोटर दिखी। मैंने अँगूठा दिखाया—यह संकेत है कि अगर मोटर में जगह हो तो मुझे भी बिठा लो। मोटर में दो नवयुवक जा रहे थे। उन्होंने मुझे बिठा लिया और लेक आइल गेस्ट हाउस पर छोड़ गए।

डबलिन के लिए गाड़ी सबेरे मिलती थी। एक दिन वहाँ और गुज़ारना था। बर्टी ऐन्डरसन के ही पास कुछ वक़्त काट सकता था। शनिवार था, आशा नहीं थी कि वे रासेज़ प्वाइंट से आज स्लाइगो लौटे होंगे। शाम को फ़ोन किया। घर पर ही थे, मुझे बुला लिया, 'मुझे मालूम था, आज आप मुझसे

मिलना चाहेंगे, इसीलिए मैं रासेज़ प्वाइंट में नहीं रुका।'

वे इस बात से बड़े ख़ुश हुए कि ड्रमक्लिफ़ तक मैं पैदल गया था। उन्होंने मुझे चाय पिलाई और देर शाम तक बातें करते रहे। ऐन्डरसन अपने छोटे भाई के साथ रहते थे, विधुर थे, सन्तान कोई न थी। छोटे भाई एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट के व्यापार में थे। ऐन्डरसन भी उनका कुछ हाथ बँटाते थे। ट्रिनिटी के पुराने छात्र थे। किसी समय थियोसोफ़िकल आंदोलन से सक्रिय रूप में सम्बद्ध थे। थियोसोफ़ी की ओर प्रोटेस्टेंट नवयुवकों के झुकाव का उन्होंने एक नया कारण बताया। राष्ट्रीय आंदोलन कैथलिक आंदोलन था, प्रोटेस्टेंट अंग्रेज़ी सरकार के खिलाफ़। जो प्रोटेस्टेंट राष्ट्रीय आंदोलन के साथ थे, उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था ; उन्होंने प्रोटेस्टेंटिज़्म को भी तिलांजलि दे दी, थियोसोफ़िस्ट हो गए। प्रोटेस्टेंटों ने एक दूसरी तरह राष्ट्रीय आंदोलन को सहायता पहुँचाने की सोची—आयरलैंड का सांस्कृतिक पुनर्जागरण लाकर। डा० हाइड इन लोगों के नेता थे। ईट्स, लेडी ग्रिगोरी, सिंज, जार्ज रसेल—सब उन्हींसे प्रेरणा लेकर साहित्यिक और सांस्कृतिक आंदोलन में कूदे।

ऐन्डरसन ने मुझे अपने परिवार का पुराना अलबम दिखाया। उसमें ईट्स के भी कई चित्र थे। ईट्स किसी भी कंपनी में कवि ही लगते। माडगान के यौवन की एक बहुत ही सुंदर तस्वीर थी। संभव है, बर्टी ने भी अपने यौवन में उस पर तबीयत फेंकी हो। कहते थे, 'माडगान की आँख बड़ी पैनी थी। उसने ताड़ लिया था कि लेडी ग्रिगोरी भी ईट्स को प्रेम करती थी और वे भी उससे किसी रूप में संबद्ध थे, बस उसने ईट्स से शादी करने से इन्कार कर दिया।'

जार्ज की उन्होंने बड़ी तारीफ़ की—'वह लाखों में एक स्त्री है। वह जानती थी कि ईट्स माडगान को नहीं भूले, लेडी ग्रिगोरी से उनका कोई संबंध है, फिर भी उसने ईट्स के साथ अपना वैवाहिक जीवन गरिमा के साथ बिताया। ईट्स तो अपनी वृद्धावस्था में भी एक नवयुवती के प्रेम में थे—डोरोथी के; जार्ज यह जानती थी, पर उसने इसे कभी पारिवारिक कलह का कारण नहीं बनाया।'

बर्टी सचमुच बड़े आशावादी थे। ईट्स जन्मशती आने को अभी बारह वर्ष थे, पर वे तभी से उनकी शती-जयंती स्लाइगो में मनाने का सपना देख

रहे थे। वे बड़े गर्व से कहते थे, 'ईट्स ने अपनी अस्थियाँ हमें सौंपी हैं तो हम भी उनकी कीर्ति की रक्षा करने का दायित्व निभाएँगे।'

मुझे खबर मिली थी कि ईट्स की जन्मशती स्लाइगो में मनाई गई थी और मि० हेन प्रमुख वक्ता के रूप में वहाँ गए थे, पर वर्टी ऐन्डरसन तब मौजूद थे या नहीं, मैं नहीं कह सकता। न रहे होंगे तो भी, मुझे विश्वास है, वे जन्मशती मनाने की सारी तैयारी कराके गए होंगे। रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं, तब वे ६२ वर्ष के होंगे। मेरे एक चाचा, मेरी बुआ दादी के पुत्र, ६७ वर्ष की अवस्था में भगवान की दया से अभी मौजूद हैं—बाबू हर हरनारायण लाल—अकोढ़िया, रायबरेली में। अभी तक अपने हाथ से मुझे पत्र लिखते हैं। चार वर्ष पहले उन्होंने मुझे लिखा था, 'सुना है कि तुम्हारा लड़का अमिताभ फ़िल्म अभिनेता हो गया है, मैं कभी लखनऊ जाकर उसकी फ़िल्म देखूँगा।' ये पुराने लोग जीवन से अपने को कितना जुड़ा रखते हैं, तभी शायद वे बहुत दिन जीते भी हैं।

डबलिन लौटकर केम्ब्रिज जाने के पहले मुझे सिर्फ़ दो काम करने थे, एक किलार्नी देख आना; दूसरे श्रीमती ईट्स और डबलिन के मित्रों को भोज देना। जब से वहाँ पहुँचा था, हर एक ने मुझे लंच या डिनर पर बुलाया था—लौटने के पहले मुझे भी एक दिन सबको खाने पर बुलाना था—'मित्र के जेंयिये तो आप हू जेंवायिये।'

किलार्नी के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन हर आयरी ने मुझसे इस तरह किया था जैसे वह वहाँ का कश्मीर हो। और हर एक का आग्रह था कि उसे देखे बग़ैर मैं इंग्लैंड न लौटूँ।

मैंने टूरिस्ट ट्रेन से जाने के लिए टिकट ले लिया; साथ चलने को नैनसी तैयार हो गई, मेरी ही डिग में रहती थी, किसी पास के क़स्बे की लड़की, शहर की किसी लाइब्रेरी में काम करती थी। मैंने सोचा, चलो साथ रहेगा। प्रकृति का सौंदर्य घूरते अकेले बौंड़ियाते फिरने में मुझे विशेष रस नहीं।

टूरिस्ट ट्रेन सुबह-सुबह डबलिन से चली थी—सीटें हर यात्री के लिए अलग, कुशादह, आरामदेह। रास्ते में जिस प्रदेश से हम गुज़र रहे होते उस पर कमेन्ट्री होती चलती थी, कमेन्ट्री डिब्बे से होती पर लाउडस्पीकरों से हर डिब्बे में साफ़ सुनाई पड़ती। कुछ जगहें केवल ट्रेन से देखने की होतीं, ट्रेन

यथावश्यकता रोक दी जाती या धीमी कर दी जाती। कुछ जगहें ट्रेन से उतरकर देखने की होतीं। ट्रेन रुकती, मुसाफ़िर उतरते, जगह लाइन से क़रीब होती तो हम वहाँ तक पैदल जाते-आते, दूर होती तो टूरिस्ट विभाग की बसें खड़ी मिलतीं। सबको जगह दिखला, फिर ट्रेन पर छोड़ जातीं। इतने गढ़, गिरजों, खंडरातों की कथा-व्यथा कौन याद रक्खे! नज़र से हटे, ध्यान से हटे, आगे आने वालों के लिए कौतूहल।

पैक लंच ट्रेन में मिल गया था।

अपराह्न में हम किलार्नी पहुँच गए।

कश्मीर पहली बार मैं पठानकोट से जम्मू, जम्मू से श्रीनगर बस से गया था। मुझे याद है, पीर पंजाल को सीढ़ीदार सड़कों को पार कर जब आखिरी टनल में होकर हमारी बस बाहर निकली थी तो कश्मीर घाटी का अफाट सौंदर्य सहसा हमारी आँखों के सामने फट पड़ा था। किलार्नी देखकर मुझे कुछ ऐसी ही अनुभूति हुई। कुछ क्यों? पूरी क्यों नहीं? इसलिए कि किलार्नी के नेत्रों के समक्ष आने के साथ वह अचानकता का तत्व न था जो कश्मीर में था। किलार्नी के निकट पहुँचते रास्ते की मनोज्ञता से जैसे हम उसकी मनोरमता के लिए तैयार होते गये थे।

पहाड़ियाँ. नदी, झील, झरना, बन, उद्यान, नहरें, पुराने खंडहर, नए निर्माण, इतिहास, विज्ञान, प्रकृति, मानवी कौशल: ; सबका कैसा यथास्थान समायोजन, सम्मिलन यहाँ किया गया था!

इस सारे सौंदर्य को हमने बस से देखा था, बोट से देखा था, घोड़े की पीठ से, और 'उँटाँगे' से। 'उँटाँगा' आपने नहीं समझा होगा। आयरलैंड में एक तरह का टाँगा होता है जो ऊँट जितना ऊँचा होता है, इसको 'जांटिंग कार' कहते हैं। इसको 'उँटाँगा' नाम मैंने दिया है। इसके पुश्तैनी पेशेवर हाँकनेवाले अपनी व्यंग्य-विनोदी बतकही के लिए भी विख्यात हैं।

किलार्नी में आँखों को ही नहीं खुला रखना होता, कानों को भी। कितनी तरह की ध्वनियाँ आपको सुनाई पड़ती हैं, पशु-पक्षियों की, नदी-झरनों की, तरह-तरह के वृक्षों से गुज़रती हवाओं की और चट्टानों की। आश्चर्य न करें, किलार्नी की चट्टानें बोलती हैं। पोनीमैन—घोड़ों की रास पकड़कर चलने वाले—तरह-तरह के बिगुल और गाँवों में बनी सिंगी या हार्न रखते हैं। अब

वे उन्हें बजाते हैं तो विभिन्न चट्टानों से भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिध्वनियाँ निकलती हैं—कोई मनोहारी, कोई भयावनी भी। कोई तो इतनी भयावनी कि कोई अपरिचित लड़की भी यदि आपके पास खड़ी हो तो आपसे चिपक जायगी।

प्रकृति का सौंदर्य मौसम के साथ उभरता, दबता, बदलता है।

अगर किलार्नी पर बदली घिर आती ?

अगर किलार्नी पर चाँदनी छा जाती ?

उस संध्या को किलार्नी पर पूरा चाँद निकल आया था।

चाँद से ताजमहल का सौंदर्य ही नहीं निखरता, किलार्नी का भी।

सफ़ेदी पर सफ़ेदी एक चीज़ है।

रंगीनी पर सफ़ेदी दूसरी ही चीज़ है।

मैंने चाँदनी में ताजमहल भी देखा है, किलार्नी भी देखी है। सौंदर्य की सौंदर्य से तुलना नहीं करनी चाहिए। इस समय किलार्नी के सौंदर्य को पूरी तरह भोगने के लिए ताजमहल को याद भी न करना चाहिए।

नैनसी अधिक सौभाग्यवान है। उसने ताज नहीं देखा है।

वह किलार्नी के ही सौंदर्य में डूब गई है।

टूरिस्ट बसों से हार्न वजने लगे हैं। वापस जाने के लिए बुलावा है। मुसाफ़िरों के क़दम सब ओर से बसों की ओर बढ़ने लगे हैं।

नैनसी को हिलाता हूँ—लौटने का समय हो गया है।

नैनसी धीमे से कहती है—

हम टूरिस्ट ट्रेन से आए जरूर थे, हम टूरिस्ट ट्रेन से वापस जाने के लिए बाध्य तो नहीं हैं ? कि हैं ?...

वह रात हमने चाँदनी और किलार्नी के साथ बिताई।

और बहुत-से लोग रुक गए थे।

फिर हम सब साथ मिलकर एक फूलों के झुरमुट के पास बैठे।

सबने अपने-अपने देश के गीत गाए-सुनाए या मनोरंजक 'एनेक्डोट्स'।

सुबह की गाड़ी से हम डबलिन लौटे।

खिड़की से ठंडी-ठंडी हवा के झोंके आ रहे थे और मैं अधसोया-अधजागा-सा आड़ लगाकर बैठा था, बिल्कुल विश्रांत, और मेरे कानों में एक गीत गूंजने लगा था—जैसे कोई दूसरा गा रहा हो और मैं सुन रहा हूँ।

डिग में आकर मैंने बड़े सहज भाव से वह गीत लिख डाला—देर कर दूं तो शायद वह मेरी स्मृति से उतर न जाए।

वह गीत मैं पूरा यहाँ देना चाहता हूँ। पंक्तियों का संकेत कर दूं और वह गीत आप इसी वक़्त अपने निकट न पा सकें तो आपका सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा, और इस गीत पर जो मैं कहना चाहता हूँ, वह भी आपके पल्ले न पड़ेगा।

तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर-निर्झर-से लहरे केश।
तुम्हारे तन का रेखाकार
वही कमनीय कलामय हाथ
कि जिसने रुचिर तुम्हारा देश
रचा गिरि-ताल-माल के साथ
करों में लतरों का लचकाव,
करतलों में फूलों का वास,
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर-निर्झर-से लहरे केश।
उधर झुकती अरुनारी साँझ,
इधर उठता पूनों का चाँद,
सरों, शृंगों, झरनों पर फूट
पड़ा है किरनों का उन्माद,
तुम्हें अपनी बाँहों में देख
नहीं कर पाता मैं अनुमान,
प्रकृति में तुम बिम्बित चहुँ ओर
कि तुम में बिम्बित प्रकृति अशेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन
नीर-निर्झर-से लहरे केश।
जगत है पाने को बेताब
नारि के मन की गहरी थाह—

किए थी चिंतित औ बेचैन
मुझे भी कुछ दिन ऐसी चाह—
मगर उसके तन का भी भेद
सका है कोई अब तक जान।
मुझे है अद्‌भुत एक रहस्य
तुम्हारी हर मुद्रा, हर वेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर-निर्झर-से लहरे केश।
कहा मैंने, मुझको इस ओर
कहाँ फिर लाती है तक़दीर,
कहाँ तुम आती हो उस ओर
जहाँ है गंग-यमुन का तीर,
विहंगम बोला, युग के बाद
भाग से मिलती है अभिलाष,
और···अब उचित यहीं दूँ छोड़
कल्पना के ऊपर अवशेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर-निर्झर-से लहरे केश।
मुझे यह मिट्टी अपनी जान
किसी दिन कर लेगी लयमान,
तुम्हें भी कलि-कुसुमों के बीच
न कोई पाएगा पहचान,
मगर तब भी यह मेरा छंद
कि जिसमें एक हुआ है अंग
तुम्हारा औ' मेरा अनुराग
रहेगा गाता मेरा देश।
तुम्हारे नील झील-से नैन
नीर-निर्झर-से लहरे केश।

पीछे मैंने तनाव और विश्रांति से सृजन की चर्चा चलाई है। बहुत-सी रचनाओं के तनाव में सृजन की चेतना के साथ ही, अपने इस उपर्युक्त गीत को मैं विश्रांति से सृजन की कृति कहता हूँ। इसको रचकर मुझे कुछ क्षणों के लिए परम शांति की-सी उपलब्धि हुई। यह मेरा एकमात्र गीत, एकमात्र कविता, है— जो मैंने आयरलैंड की भूमि पर लिखा। मुझे अपने सैकड़ों गीतों में अगर पाँच सर्वश्रेष्ठ गीत चुनने हों तो मैं एक इसको रखना चाहूँगा। वस्तुतः इस गीत को मैं अपने लिए आयरलैंड की सबसे मधुर भेंट समझता हूँ। काश, मैं ऐसे बहुत से गीत लिख सकता जो मन को ऐसी शांति की अनुभूति कराते हैं। ऐसी मनः स्थिति-परिस्थिति को, किसी उपाय से तैयार कर लेना शायद संभव नहीं। यह कभी-कभी भाग्य से बन जाती है। ऐसी स्थिति को स्थायी बना लेना बहुत बड़ी साधना है, जो कवीन्द्र रवीन्द्र जैसी विभूतियों के बस की है—ईट्स के बस की भी नहीं। वे तो सदा तनाव के ही कवि रहे। उन्हें टैगोर से शिकायत थी कि वे शांति की अतिशयता में लिखते हैं। प्रायः टैगोर के और ईट्स के समान रहस्यवादी होने की बात समालोचकों द्वारा कही गई है। सरासर भ्रम है। वे समान क़द के कवि हों, समान पद के नहीं। टैगोर शांति के कवि हैं, ईट्स संघर्ष के। टैगोर संत हैं, ईट्स योद्धा। मैंने अपने को प्रायः ईट्स के वर्ग का पाया है, कभी-कभी टैगोर के वर्ग का। यदा-कदा टैगोर के तनाव और ईट्स के शांति के क्षण भी आते हैं।

मैंने डबलिन् पहुँचकर श्रीमती ईट्स को शाम के खाने के लिए निमंत्रित किया, उन्हींसे पूछा, 'आप और किसको बुलाना चाहेंगी ?' उन्होंने कहा, 'आप जिसे भी बुलाना चाहें, होनं, अशर-दम्पत्ति और ब्लनेड की कंपनी अच्छी रहेगी।' मैंने ट्रिनिटी के अंग्रेज़ी लेक्चरर को भी बुला लिया जिन्होंने मुझे वहाँ की लाइब्रेरी से पुरानी पत्र-पत्रिकाएँ सुलभ कराने में सहायता दी थी।

भोज का प्रबंध मैंने शेलबोर्न होटल में किया था जो ईट्स का प्रिय होटल था और जहाँ वे अक्सर जाते थे। प्रसिद्ध था—वहाँ थैकरे, बर्नार्ड शा, आस्कर वाइल्ड जैसे लोग भोजन कर चुके थे।

खाने के पहले थोड़ी ड्रिंक ली गई—

सबने मेरे लिए 'टोस्ट' उठाया—To your success in your research work !

(आपके शोध-कार्य में सफलता के लिए हमारी शुभकामनाएँ !)

मैंने अपनी स्लाइगो, किलार्नी यात्रा के अनुभव बताए। औरों ने और-और रोचक-विनोदपूर्ण बातें की। ब्लनेड की उपस्थिति से पार्टी में विशेष जीवन्तता बनी रही।

भोजन समाप्त होने के बाद बिल की प्रतीक्षा।

बिल मेरे सामने लाया गया।

देखकर चकित।

You are our guest. We are honoured by your visit. No charges.

(आप हमारे अतिथि हैं; हम आपके पधारने से गौरवान्वित हुए, आपको कुछ देना नहीं है।)

मैनेजर से मेरा कोई अनुरोध न चला।

शायद श्रीमती ईट्स ने पहले ही मैनेजर को फ़ोन करके कह दिया था कि आज शाम का बिल उनके हिसाब में डाल दिया जाए।

मेरे पास कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए शब्द नहीं थे।

मैंने कहीं पढ़ा था, आयरलैंड का दूसरा नाम अतिथि-सत्कार (Hospitabality) है, उसका यहाँ सद्भावनापूर्ण सबूत मिला।

दूसरे दिन मैं केम्ब्रिज के लिए रवाना हो गया।

आयरलैंड से मैं बहुत कुछ लेकर लौटा।

डेढ़ महीने बाद केम्ब्रिज लौटा हूँ। मौसम पर ध्यान जाता है। इंग्लैंड में रहते-रहते मौसम के प्रति अधिक सचेत हो गया हूँ। यहाँ के आदमी की आँख तो हर समय मौसम पर रहती है। हर अभिवादन के साथ मौसम याद किया जाता है—गुड मार्निंग, गुड ईवनिंग, चाहे बैड मार्निंग, बैड ईवनिंग ही क्यों न हो। कभी-कभी होती ही है। ख़ैर, पतझड़ अब पक गया है, पेड़ों के पत्ते पीले पड़ गए हैं और टूट-टूटकर गिरने लगे हैं, नवंबर तक डालें नंगी हो जायेंगी, दिसंबर से तो उन पर बरफ़ जमने लगेगी, दिन छोटे होने लगे हैं। और सब तो केम्ब्रिज में वैसा ही है, जैसे पहले था।

समय लेकर मैंने मि० हेन को बता दिया, जो मैंने आयरलैंड में देखा, सुना, किया था।

बोले, 'तुमने आयरलैंड-यात्रा का अच्छा उपयोग किया है, अब थियोसोफ़ी के प्रभाव में, जैसी कि तुम्हारी स्थापना है, ईट्स के ओकल्ट-दर्शन पर अपना प्रबंध लिख डालो। यह काम सितंबर के अंत या अक्तूबर के मध्य तक हो जाना चाहिए। दो और छोटे अध्याय तैयार करने होंगे, एक भूमिका के रूप में, एक उपसंहार के रूप में। उसके बाद निर्देशन समाप्त। तुम अपने शोध-प्रबंध को अंतिम रूप दो। इस काम में प्रायः छह महीने लगते हैं। तुमने कहा था कि तुम २४ महीने से अधिक यहाँ नहीं रुक सकोगे। तुमने '५२ के ईस्टर टर्म यानी अप्रैल से काम शुरू किया था, '५४ के लेंट टर्म पर यानी मार्च के अंत तक तुम छह टर्म पूरे कर लोगे। उसके बाद तुम्हारे लिए दो रास्ते खुले हैं।

'अगर मार्च के अंत में तुम्हें स्वदेश लौट जाना है तो तुम वहाँ से भी, यथा सुविधा, अपनी थीसिस प्रस्तुत कर सकते हो, साल-छह महीने बाद भी। अगर परीक्षक तुम्हारी थीसिस से संतुष्ट हुए तो वे तुम्हें मौखिक परीक्षा से छूट भी दे सकते हैं। किसी कारण कुछ संशोधन करने का सुझाव उनको देना पड़ा तो तुम वहीं से संशोधित रूप भी भेज सकते हो।

'अगर तुम दो-ढाई महीने और केम्ब्रिज में रुक सको तो मैं दूसरा रास्ता बताऊँ। मैंने युनिवर्सिटी कैलेंडर देख लिया है। व्यक्तिगत रूप से मैं दूसरे रास्ते को तरजीह दूँगा, पर तुम अपनी सुविधा देख लो। तुम मार्च के अंत तक अपनी थीसिस को अंतिम रूप दे दो। एक महीने टाइपिंग, प्रूफ़ रीडिंग—थीसिस में टाइपिंग की कोई ग़लती नहीं रहनी चाहिए, इससे परीक्षक चिढ़ जाता है और शोधार्थी को लापरवाह समझता है—जिल्दबंदी में लगेंगे। अप्रैल के अंतिम सप्ताह में तुम अपनी थीसिस यहीं प्रस्तुत कर दो। परीक्षक प्रायः एक महीना लेते हैं। मई के अंतिम सप्ताह में तुम्हारा 'वाइवा' हो जायगा। और दोनों परीक्षक अलग-अलग और एक साथ अपनी रिपोर्ट दे चुके होंगे। पहली जून को डिग्री कमेटी की मीटिंग है जिसमें अगले कान्वोकेशन पर दी जाने वाली सब डिग्रियों का फ़ैसला होगा। कान्वोकेशन १२ जून को है। अगर तुम्हारी थीसिस स्वीकृत होती है तो तुम युनिवर्सिटी के कान्वोकेशन में डिग्री लेकर जाओ।'

(केम्ब्रिज में थीसिस को 'डिस्सर्टेशन' और 'कान्वोकेशन' को 'कानग्रिगेशन' कहते हैं। मैं अपने पाठकों की सुविधा के लिए भारत में प्रचलित शब्दावली का प्रयोग कर रहा हूँ।)

मैंने हेन से कहा,'तरजीह तो मैं भी दूसरे रास्ते को देना चाहूँगा; पहले काम तो पूरा करूँ।'

दूसरे रास्ते का निर्णय लेने से पहले मुझे बहुत-बहुत कुछ सोचना, करना था।

फ़िलहाल, अपने शोध-कार्य के संबंध में ही एक बड़ी समस्या मेरे सामने खड़ी हो गई थी। शोध-कार्य तभी निर्बाध गति से आगे बढ़ता है, जब निर्देशक और शोधार्थी में ताल-मेल हो। हफ़ के और मेरे दृष्टिकोण में जो अंतर था, उससे शुरू-शुरू में उन्हें भी कुछ बौद्धिक व्यायाम करना पड़ा होगा, मुझे अपनी ओर लाने को और मुझे भी कुछ दबना-हटना पड़ा होगा, उनके अनुरूप होने को। शोध के स्तर पर यह तो हो नहीं सकता कि मौलवी साहब कान पकड़कर जिधर चाहें शागिर्द को घुमा दें और न शागिर्द ही अपने कान को इतना मजबूत समझ सकता है कि मौलवी साहब को जिधर चाहे, खींच ले जाए। लेकिन अगर निर्देशक और शोधार्थी में संघर्ष की स्थिति आए तो न तो वह शोभन होगी, न हितकर, निश्चय ही शोधार्थी के लिए, क्योंकि निर्देशक फिर भी शोधार्थी का बहुत कुछ बना-बिगाड़ सकता है, न्यायतः अथवा अन्यायतः।

बिना आपको तकनीकी विस्तार में खींचे, संक्षेप में समस्या को इस प्रकार रखना चाहूँगा। ईट्स के दर्शन-स्रोतों के संबंध में जो धारणा मेरी बन रही थी, उससे हेन की पूर्ण सहमति न थी और वे अधिकाधिक अकाट्य सबूतों की माँग करते रहते थे। आयरलैंड में मुझे जो सामग्री मिली थी, उसको देख-परखकर मैं अपनी धारणा में अधिक दृढ़ हो गया था। स्थिति अब और नाजुक इसलिए हो गई थी कि कुछ कविताएँ जिनको मैं अपने समर्थन में प्रस्तुत करना चाहता था, उन्हीके संबंध में हेन कुछ दूसरी बातें अपनी पुस्तक में कह चुके थे। बिना उनको ग़लत साबित किए हुए मैं अपने तर्क में आगे नहीं बढ़ सकता था। मेरे सामने तरह-तरह के प्रश्न उठते थे, क्या मैं उनको ग़लत साबित करूँ? अगर मैं ऐसा करता हूँ तो क्या हेन मेरे तर्कों को स्वीकार करेंगे? अगर वे तर्क मानने ही पड़े तो क्या हेन इससे नाराज़ नहीं होंगे?

उस नाराज़गी में क्या यह संभव नहीं कि वे मेरी थीसिस को ही रिजेक्ट कर दें। तब तो मेरा दो वर्ष में किया-कराया सारा काम ही चौपट हो जाएगा। मैं तो इस आशा से काम कर रहा था कि वे मेरी एम० लिट्० की थीसिस को पी-एच० डी० की थीसिस की समता का समझेंगे। क्या अपनी इस धृष्टता के बाद भी मैं ऐसी प्रत्याशा कर सकता हूँ? क्या मैं इन कविताओं का ज़िक्र लाए बग़ैर अपनी बात नहीं सिद्ध कर सकता? अगर नहीं, तो क्या मैं अपने तर्कों को स्वयं कमज़ोर नहीं बनाऊँगा? इन प्रश्नों की उधेड़-बुन में कई दिनों तक मैंने कुछ काम नहीं किया। फिर मैंने प्रयोगात्मक रीति से अपना लेख लिख डाला। कई बार मैंने उसको इस दृष्टि से पढ़ा कि अगर हेन उसे पढ़ेंगे तो उनको कैसा लगेगा। उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी? निर्देशन का दिन समीप आता जा रहा था और मैं अपने संकोच में डूब-उतरा रहा था। मैंने अपनी शैली को बारबार माँजा, बातें बड़े संयत ढंग से कहीं, फतवेबाज़ी की कहीं बू तक न रक्खी, आक्रामकता उसमें कहीं भी न आने दी। साथ ही, जो बातें मुझे कहनी थीं, निश्चयात्मकता के साथ कहीं, असंदिग्धता के साथ।

हेन ने लेख मेरे सामने ही पढ़ा। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने मेरे उस प्रबंध में कम-से-कम संशोधन सुझाए। उनके सम्बन्ध में जो मैंने लिखा था, उस पर तो उन्होंने एक शब्द भी न कहा, वे लेख इस तरह पढ़ गए जैसे वे किसी तीसरे व्यक्ति के बारे में पढ़ रहे हों। उनकी इस निरपेक्षता से मैं बहुत दिनों आशंकित रहा। इससे तो अच्छा होता, वे मेरा विरोध करते, किसी अंश में सही, या मेरा लेख बिल्कुल रिजेक्ट कर देते। उस दर्जे पर मेरा ऐसा समझना मेरी अहम्मन्यता की हद ही होती कि जो मैंने कहा था, वह सवा सोलह आने ठीक था और उसमें एक शब्द भी जोड़ने-घटाने की आवश्यकता न थी।

दूसरा लेख, भूमिका वाला, मैंने दो सप्ताह के अंतराल पर पूरा कर दिया और उसमें कोई विवादास्पद बात न थी।

पर तीसरे, उपसंहार वाले लेख ने फिर एक समस्या खड़ी कर दी।

संक्षेप में और अ-तकनीकी ढंग से, उसे मैं इस प्रकार रखना चाहूँगा।

उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिक खोजों ने परम्परागत ईसाई धर्म में लोगों की आस्था डिगा दी थी।

लेकिन आस्था, आध्यात्मिक नहीं तो कलात्मक आवश्यकता थी ईट्स की।

उसका आधार उन्होंने देश-काल में दूर-सुदूर ज्ञात-अल्पज्ञात स्रोतों से, सभ्यता की दौड़ में पीछे रह गए, प्रकृति के निकटतम रहकर जीवन जीने वाले ग्रामीणों के अंधविश्वासों से, और कुछ अतिशय तार्किकता के विद्रोह में उग्र अतार्किकता की आग्रहपूर्ण कल्पनाओं से एकत्र किया था।

इससे उनकी कलात्मक आवश्यकता की पूर्ति हुई थी, पर क्या पूर्णतया उसीसे? क्या ईसाइयत की उस परम्परा से उन्हें कोई सहायता न मिली थी, जिसमें रहकर पिछले दो हज़ार वर्षों से योरोप की साहित्य-कला-साधना होती आई थी? क्या परम्पराएँ केवल सचेतन रूप से प्रभावित करती हैं, अचेतन रूप से नहीं?

अपनी आस्था के नए (या, नए रूप में प्रस्तुत अति प्राचीन?) आधार से कलात्मक तुष्टि पाकर, जब ईट्स ने उसे आध्यात्मिक तुष्टि का साधन बनाने का भी अध्यवसाय किया था, तब क्या उन्हें सफलता मिली थी, या सफलता मिलने की आशा थी?

ईट्स ने सचेतन रूप से ईसाइयत की अवहेलना की थी, यह स्पष्ट है। पर ईसाई समालोचक फिर भी उन्हें ईसाई-परम्परा के घेरे से बाहर न जाने देना चाहते थे। उनका कहना था, अचेतन रूप से ईसाइयत ने ईट्स पर काफ़ी प्रभाव डाला था, यहाँ तक कि उसके प्रभाव के बिना वे वह ऊँचाई और बड़प्पन प्राप्त ही नहीं कर सकते थे, जो उन्होंने की। वे दान्ते, मिल्टन की परम्परा (यानी ईसाई परम्परा) में हैं, उससे अलग नहीं।

इसको अनुभव करने लिए ईसाइयत की एक सूक्ष्म समझ चाहिए, जो प्रोफ़ेसर विली ऐसे ऊँचे पाए के स्कालर और अध्यापक-आलोचक ने घोषित किया था, केवल जन्मजात ईसाई में विकसित हो सकती है।

यहाँ मेरी सीमा थी।

मैं तो ईट्स को ग़ैर-ईसाई दृष्टि से ही देख सकता था।

इससे बहुत संभव था कि ईट्स में ईसाई-परम्परा के अवदान की ओर मुझसे उपेक्षा हो जाय।

मुझे आगाह किया गया था कि ब्रिटिश युनिवर्सिटियाँ बहुत आधुनिक

होकर भी ईसाई युनिवर्सिटियाँ हैं। उनके हर कालेज में चर्च है और उनके सारे पुराने कालेजों की स्थापना धर्मशिक्षा-संस्थानों के रूप में हुई थी। उस परम्परा से वे जुड़े ही नहीं, उसके प्रति सचेत हैं और कहीं-न-कहीं उसपर गर्व भी करते हैं। उनकी युनिवर्सिटियों में भोजन से लेकर पदवीदान तक धार्मिक कर्मकाण्ड के रूप में किया जाता है। यदि मैंने ईट्स द्वारा ईसाइयत की अवहेलना पर बल दिया तो बहुत संभव है, मेरी थीसिस को रिजेक्ट कर दिया जाए या मुझसे उसे संशोधित रूप में प्रस्तुत करने को कहा जाए।

विस्तार से बातें मैं जल्दी कह लेता हूँ।

संक्षेप में कहने में मुझे देर लगती है।

मुझे उपसंहार का लेख छोटा ही रखना था। मैं अपने थीसिस की शब्द-सीमा पहले ही पार कर चुका था, और मैंने डिग्री कमेटी से एक-चौथाई शब्द अधिक रखने की विशेष अनुमति ली थी।

लेख मुझे बड़ी सतर्कता से लिखना था।

ईट्स के ओकल्ट-दर्शन को महत्त्व न दूँ तो हेन मुझसे ख़ुश न हों।

ईट्स में ईसाई-परम्परा को महत्त्व न दूँ तो युनिवर्सिटी मुझसे ख़ुश न हो।

एक तरफ़ खाई, एक तरफ़ खंदक़।

मैंने अपने को ख़ुश करने को महत्त्व दिया।

इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता न था, उपसंहार को मेरी सारी थीसिस का प्रतिफलन होना था। कई बार मैंने पिछले अध्यायों को पढ़ा, गो मैं उन्हें अन्तिम रूप न दे पाया था। कई ड्राफ़्ट तैयार किए, फाड़े, फिर लिखे, फिर-फिर उन्हें संक्षिप्त किया, एक महीने के श्रम के बाद मुझे लगा कि मैं अपने को ख़ुश कर सका, यानी लेख से मैं संतुष्ट हुआ।

हेन ने मेरे लेख को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया।

अब मेरी थीसिस का कोई भाग ऐसा न था, जिसको हर्फ़ें या हेन ने न देख लिया हो। उनके सुझावों के प्रकाश में उसे सुधारना-सँवारना अभी बाक़ी था। हेन ने कहा था कि टाइपिंग के लिए मास्टर कापी बनाने में प्रायः छह

महीने लग जाते हैं। सारा अक्तूबर 'उपसंहार' वाले लेख ने ही ले लिया था, अब मार्च के पहले मेरे पास केवल पाँच महीने थे, फिर भी मुझे विश्वास था कि मैं छह महीने का काम पाँच महीने में कर लूंगा।

इस दर्जे पर मुझे निर्णय लेना था कि मार्च के बाद भारत लौटकर अपनी थीसिस वहाँ से प्रस्तुत करूँगा या दो-ढाई महीने और अपना प्रवास बढ़ाकर अप्रैल में यहीं से।

कई बातें थीं जो मुझे प्रेरित करती थीं, विवश करती थीं कि मैं मार्च के अन्त में स्वदेश लौट ही जाऊँ।

पिछले महीनों में जो तूफ़ान मेरे घर पर उठ खड़ा हुआ था, उसका ज़ोर टूट तो गया था, पर वह पूरी तरह शान्त नहीं हुआ था।

राक्षस जल्दी अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता।

रावण को निश्चय हो गया था कि सीता उसका कहा न मानेंगी, फिर भी वह उन्हें बहुविधि त्रास देने से बाज़ नहीं आनेवाला था।

इलाहाबादी रावण की निसिचरियाँ या निसिचर थे—वे कलमी-कायर जो तेजी को, जगदीश राजन को और यहाँ तक कि मुझे केम्ब्रिज में धमकी-भरे, अश्लील और वीभत्स गुमनाम पत्र भेजते थे।

मैं बड़े खेद के साथ लिखता हूँ, पर अपने और कई लोगों के अनुभव के बल पर कि गुमनाम पत्र लिखना हमारे इलाहाबादी नागरिकों की ख़ास बीमारी है।

इसकी छूत का शिकार न होने का एकमात्र इलाज यह है कि ऐसे पत्रों को पढ़कर या बिना पढ़े—अगर ऊपर-नीचे पता-नाम नहीं है तो—आग में झोंक दिया जाए और फिर न उसका ज़िक्र किसी और से किया जाए न अपने से, यानी उसके बारे में फिर सोचा ही न जाए। जिस कायर में इतना भी दम नहीं कि अपने बाप के दिए हुए नाम को बताने की हिम्मत कर सके, उसकी बात से भयभीत या विचलित होना या तो अपनेआप को उससे बड़ा कायर सिद्ध करना है, या अत्यंत दुर्बल और लिजलिजी मनोशिराओं का। पर मुझे और खेद के साथ लिखना पड़ता है, कि ऐसे पत्रों से मैंने बहुतों को प्रभावित और पस्त होते देखा है।

मैं दस वर्ष प्रधान मंत्री के मंत्रालय से सम्बद्ध था। जब कभी इलाहाबाद

के किसी आदमी की नियुक्ति या पदोन्नति केन्द्र से होने को होती थी तो उसके विरुद्ध वहाँ से पचीस-तीस गुमनाम पत्र ज़रूर आ जाते थे और आश्चर्य है, देखे जाते थे, और उनका असर भी पड़ता हो तो कोई आश्चर्य नहीं !

तेजी अद्‌भुत मनोशिराओं की महिला हैं।

यदि सामान्य परिस्थितियों में वे फूलमाला के समान कोमल हो सकती हैं तो चुनौती मिलने पर लौह-दंड के समान कठोर भी हो सकती हैं।

गुमनामी पत्रों में जब तक धमकियाँ उनके लिए थीं, तब तक वे अविचल रहीं, पर जब उनके बच्चों को भगा ले जाने और राजन को, जिनको उन्होंने अपने बेटे-सा मान रखा था, जान से मार देने की धमकियाँ आने लगीं तो वे कुछ घबराईं।

एक बार तो उन्होंने बच्चों को राजन के साथ बाँदा भेजकर अकेले इस तूफ़ान का सामना करने का भी इरादा किया था।

मैं उनको बार-बार समझाता कि वे इन पत्रों की बिलकुल परवाह न करें। 'जो गरजते हैं बरसते नहीं।' जो ऐसे जघन्य इरादे कर सकता है, उसमें इतनी भलमन्सी नहीं हो सकती कि अपने दुश्मन को पहले आगाह करे। अगर उनमें कुछ करने की हिम्मत होती तो कर ही डालते, कहते नहीं। बग़ैर कहे करना शायद ज्यादा आसान होता है। यह कोरी बंदरभपकियाँ हैं कि तुम डरो, घबराओ, अव्यवस्थित हो कि राक्षस को कुछ संतोष हो कि उसे जो मुँहतोड़ उत्तर मिला है, जो आँख न उठा सकनेवाली लज्जा, भर्त्सना मिली है, उसका कुछ बदला उसने तुमसे ले लिया।'

यह सब लिख ज़रूर देता, पर मैं कितनी बार सोचता कि अगर यह तूफ़ान ही है तो मुझे तेजी के साथ खड़े होकर उसका सामना करना चाहिए, गो मैं जानता था कि मेरे घर पहुँचते ही यह तूफ़ान हवा हो जायगा। और मेरे दो वर्ष के धन-श्रम-व्यय और सौ तरह की उठाई मुसीबतों की व्यर्थता पर वे गुमनाम गीदड़ छिपकर हँस सकेंगे।

इसको मुझसे अधिक तेजी समझतीं और बार-बार आग्रह करतीं, क़समें दिलातीं कि मैं अपना काम सरंजाम किए बग़ैर न लौटूं। मि० हेन द्वारा सुझाए दूसरे रास्ते की बात मैंने उनको लिख दी थी, और वे अपने चारों ओर सारी

प्रतिकूलता के बावजूद इसके लिए तैयार हो गई थीं कि मैं ढाई महीने और रुककर कान्वोकेशन में डिग्री लेकर ही लौटूं—जैसे उनको उसका दृढ़ विश्वास हो कि मुझे डिग्री मिल ही जाएगी, मुझे तो नहीं था।

इतना ही नहीं, वे जानती थीं कि इसके लिए अतिरिक्त खर्चे की आवश्यकता होगी, थीसिस टाइप कराने के लिए, थीसिस-परीक्षा के और डिग्री-सर्टिफ़िकेट के लिए, रहने-सहने के खर्च के अलावा। न जाने किस बल पर उन्होंने मुझे लिख दिया था कि नए वर्ष के आरंभ में वे मुझे ५०००/= और भेज सकेंगी। उनके पास जो था और जो उनका खर्च आ सकता था, उसके किसी अनुमान से मैं यह कल्पना नहीं कर सकता था कि उनके पास इतना बचा होगा कि वे मुझे ५०००/= भेज सकेंगी, सिवा इसके कि अपने ज़ेवरों को बेचकर, अगर वे पहले ही नहीं बिक चुके होंगे।

राक्षस के क्रिया-कलाप गुमनामी पत्रों तक ही सीमित नहीं थे। एक दिन मौक़ा पाकर उसने एक सनसनीखेज़ घटना की भूमिका रच डाली, पर तेजी ने मुझसे इसकी साँस तक न ली। और इसका पता मुझे तब लगा जब मैं घर लौटा।

तो उसकी चर्चा काल-क्रम में।

अगर समय पर मुझे इसका पता लगता तो मुझे अपने शब्दों की सौगन्ध खाकर कहना पड़ता,

काम ऐसा कौन जिस को
छोड़ मैं सकता नहीं हूँ
कौन ऐसा, मुंह कि जिससे
मोड़ मैं सकता नहीं हूँ

शृंखला वह कौन जिसको
तोड़ मैं सकता नहीं हूँ
चाँद - सूरज भी पकड़
मुझको नहीं बिठला सकेंगे।

मैं बुझाता हूँ पगों से
आज अंतर के अँगारे,
और वे सपने कि जिनको
कवि करों ने थे सँवारे,

आज उनकी लाश पर मैं
पाँव धरता आ रहा हूँ···

सींचतीं किन मौन दृग के जल-कणों से
जो कि रुक सकता नहीं मैं···

तेजी की बात मानकर मैंने हेन से कह दिया था कि मैं ढाई महीने और केम्ब्रिज में रुक कर थीसिस यहीं प्रस्तुत करूँगा और 'वायवा' देने के पश्चात डिग्री कमेटी के निर्णय की प्रतीक्षा करूँगा।

"खर्चे का हिसाब लगाया तो मैंने पाया, कालेज की फ़ीस, और थीसिस प्रस्तुतीकरण से संबद्ध और खर्चे तो मैं उठा लूँगा पर छह महीने रहने-खाने का खर्च मेरे पास न होगा और न वापस जाने का—क्या छह महीने चिड़िया की तरह पेड़ों पर रहना और पंखों पर उड़कर घर पहुँचना संभव होगा ?

मैं किस बल पर तेजी से खर्च भेजने को कहूँगा ?
क्या यहाँ कुछ अर्जित करना संभव होगा ?
क्या यहाँ कुछ काम मिल सकेगा ?
काम कर भी क्या सकता हूँ सिवा ट्यूशनगिरी के ?
अंग्रेज़ी कौन यहाँ पढ़ना चाहेगा हिन्दुस्तानी से ?
हिंदी पढ़नेवाला कोई मिल सकता है ?
जिन खोजा तिन पाइयाँ···"

केम्ब्रिज में बस्ती से दूर एक साहित्य-कला प्रेमी दंपति रहते थे—कोट्स। शायद उनके पास कुछ अच्छी पुश्तैनी सम्पत्ति थी। बड़ा-सा एकमंज़िला मकान था, जिसमें पति-पत्नी रहते थे, बाल-बच्चा कोई नहीं। रोटी कमाने का, जहाँ तक मुझे मालूम है, वे कोई काम नहीं करते थे। पति मि॰कोट्स

संगीतज्ञ थे, उन दिनों भारतीय संगीत में रुचि ले रहे थे, इसराज पर कभी-कभी अभ्यास करते उन्हें देखा था। पता नहीं, भारतीय संगीत की प्रारंभिक शिक्षा उन्होंने किससे, कहाँ ली थी। पत्नी आइरीन कोट्स कवयित्री थीं, Poetry Periodical (पोएट्री पीरियाडिकल) नाम की एक मासिक पत्रिका निकालती थीं, पर अकादमिक रुचि से, किसी व्यावसायिक दृष्टि से नहीं। दोनों ने अगले वर्ष भारत जाने और कुछ समय दिल्ली में रहने की योजना बनाई थी। उन्हें किसी ऐसे टीचर की ज़रूरत थी जो उन्हें हिंदी का साधारण ज्ञान करा दे। मैं तैयार हो गया। हफ़्ते में दो संध्याएँ—शनिवार और रविवार की मैं उनके साथ बिताता, उन्हें कुछ बोल-चाल की हिंदी सिखाता, वे मुझे भोजन कराते और दो पौंड प्रति सप्ताह दक्षिणा के रूप में देते। बाबा के साथ जिस सस्ती डिग में मैं रहता था, उसमें दो पौंड सप्ताह भर रहने-खाने के लिए पर्याप्त होते।

चिड़ियों की तरह अब पेड़ों पर न रहना होगा।
पर वापस जाना तो पंखों पर उड़कर ही होगा।

किसीने बताया, अगर कोई हिन्दुस्तानी यहाँ 'स्ट्रैंडेड' हो जाय, यानी अगर उसके पास न यहाँ रहने का खर्च रह जाए, न भारत वापस जाने का, तो 'इंडिया हाउस' उसे 'लोन' देता है।

इंडिया हाउस से पूछा कि 'लोन' लेने की प्रक्रिया क्या है तो इतने तरह के फ़ार्म आए कि उन्हें भरने और भरे वक्तव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित अधिकारियों के समुहर हस्ताक्षर लेने में महीनों लगते, फिर फ़ार्म दिल्ली जाते, वहाँ से पुलिस की तफ़तीश के लिए इलाहाबाद जाते और जो कुछ लिखा था, सब कुछ ठीक पाए जाने पर सरकार निर्णय देती कि मुझे लोन मिल सकता है या नहीं।—नाम, बाप का नाम, जिंदा हैं कि मुर्दा, जिंदा हैं तो उनकी आमदनी कितनी, चल-अचल संपत्ति कितनी, किसीके नाम बै हुई कि नहीं, लोन वापस न दे सकने की हालत में गारंटी देनेवाले का नाम पता, जो उसकी जगह लोन अदा करेगा, उसके बाप का नाम, उसकी आमदनी, जमा, जायदाद और गारंटी लेनेवाले की गारंटी देनेवाले का अता-पता वग़ैरह-वग़ैरह-वग़ैरह। अपने से तो यह झंझट न सपरेगा। "किसीने ठीक आगाह किया

था कि 'इंडिया हाउस' से कुछ प्रत्याशा न करनी चाहिए, वह किसीका काम नहीं करता।

देस चोरी परदेस भीख।

देस यह है नहीं, और इस परदेस में भीख माँगना अपराध है। कोशिश करने पर जेल पहुँच जाऊँगा।

पर वापस जाने की चिंता में घुला करूँगा तो थीसिस को सही, साफ़ सुथरे रूप में कैसे प्रस्तुत करूँगा ?

बहुत काम हैं : अपने पास चार महीने से ज़्यादा नहीं।

शायद नेजी कुछ भेज ही दें।

शायद यहीं किसीसे क़र्ज़ मिल जाय।

चार महीना भूत की तरह काम करना पड़ा। मूल पाठ को दुहरा-तिहरा करके अंतिम रूप दिया, एक-एक कामा, फुलस्टाप ठीक जगह पर लगाए, उद्धरणों को मूल पुस्तकों से चेक किया, फुटनोट में पुस्तक, लेखक, प्रकाशक, प्रकाशन वर्ष, प्रकाशन स्थान, उद्धरण की पृष्ठसंख्या सब कुछ एक-एक पुस्तक से चेक करके लिखी, प्रयुक्त सामग्री की तालिका बनाई, पुस्तकों की, पत्र-पत्रिकाओं की, अप्रकाशित लेख आदि की। १८ घंटे रोज़ काम करना पड़ता —कई घंटे नीची मेज़ के सामने बैठकर, कई घंटे ऊँची मेज़ के सामने खड़े होकर।

मार्च का अंत आ गया है।

थीसिस की मास्टर कापी तैयार हो गई है।

तीन कापियों में टाइप कराने को दे देता हूँ।

टाइप पृष्ठों का मूल कापी से मिलान करता हूँ—मैगनीफ़ाइंग ग्लास लगाकर स्पेलिंग जाँचता हूँ—हन ने कहा था स्पेलिंग, पंक्चुएशन की ग़लतियाँ शोधार्थी की लापरवाही बताती हैं। ऐसा अवसर क्यों देना !

टाइप किये पृष्ठ जिल्दसाज़ को दे देता हूँ।

अप्रैल का अंतिम सप्ताह आ गया है। थीसिस की तीन कापियाँ जिल्द बँधकर आ गई हैं।

मेरे दो वर्षों का अध्ययन, चिंतन, मनन, मंथन, लेखन स्थूल रूप में। देखने में सुंदर। भीतर की सामग्री भी अधिकारी विद्वानों द्वारा सुंदर समझी जाय, तब तो सम्यक सुंदरता सिद्ध हो। हेन ने मुझसे कहा था, जब थीसिस तैयार हो जायगी, तब वे एक बार शुरू से आखीर तक पढ़ेंगे। उसके बाद ही उसे डिग्री कमेटी में परीक्षण के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

कैथरीन्स कालेज के उनके कमरे में जाकर मैंने थीसिस की एक प्रति उनके सामने रख दी।

वे इस बात से खुश हुए कि काम शिड्यूल से हो रहा है।

उन्होंने मुझसे कहा, 'तीसरे दिन आकर थीसिस ले जाना और डिग्री कमेटी के दफ़्तर में जाकर वांछित फ़ीस यानी दस पौंड के साथ दो प्रतियाँ जमा कर देना।'

तीसरे दिन जब मैं मि० हेन से मिलने गया, वे प्रसन्न दिखे, उन्होंने मेरी थीसिस पूरी पढ़ ली थी। वे मेरे काम से संतुष्ट थे। उन्होंने कहा, 'मैं डिग्री कमेटी को लिख रहा हूँ कि तुम्हारा डिस्सर्टेशन पी-एच० डी० के लिए परखा जाय। इससे तुम्हारे शोध-प्रबंध से परीक्षकों की प्रत्याशा ज़रूर बढ़ जायगी, पर यह खतरा उठाने योग्य है।'

मैंने उनसे कहा, 'आपने इसे पी-एच० डी० के योग्य समझा यह मेरे लिए अपने आप में बड़े सम्मान की बात है, अब डिग्री कमेटी इसे पी-एच० डी० के योग्य समझे, न समझे, इसपर मुझे एम० लिट्० दे या मेरी थीसिस को बिलकुल रिजेक्ट कर दे। जहाँ तक खतरा उठाने की बात है, मैंने पहले ही बहुत-से खतरे उठा रखे हैं।'

मि० हेन ने कहा, 'मैं जानता हूँ।'

उनका संकेत क्या था ?

० ० ०

जैसे-जैसे थीसिस संबंधी दिमाग़ी काम से मुझे फ़ुरसत मिल रही थी वैसे-वैसे मेरा मूड हल्का होने लगा था, और तेजी के पत्रों से लगता था कि वे गंभीर होती जा रही हैं। बाइस महीने उन्होंने जिस धीरज-हिम्मत से काटे थे, लगता था कि वह टूट रही है। हिम्मत तो मैं भी उन्हें बराबर बंधाता रहता था, कभी पत्रों से, कभी कविताओं से—

बीच खड़ी हैं हम दोनों के
अभी न जाने कितनी रातें—
अभी बहुत दिन करनी होंगी
केवल इन गीतों में बातें
कितने रंजित प्रात, उदासी
में डूबी कितनी संध्याएँ,
सब के बीच पिरोना होगा, प्रिय, हमको धीरज का धागा।
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।

जब चौदह महीने लौटने को शेष थे, तब लिखा था—

अलग हुए कितने दिन बीते
सोच ग़लत घबराना,
गए हुए की ओर न देखो
देखो जिसको आना
दूर नहीं अब साँझ मिलन की,
लो, गिन कर बतलाता—
ऐसे ही चौदह चाँद फ़क़त हैं बाक़ी
यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

अब तो चार ही महीने रह गए थे, एक हल्की-फुल्की तुकबंदी कर डाली। गीत शायद गंभीर क्षणों की वाणी है। जीवन में कभी अगंभीर बनने की भी ज़रूरत है।

लो फ़रवरी भी गई,
मार्च, अप्रैल, मई,
जून में लिया जहाज़,
लंदन बाई-बाई
करते हुए कल-आज
पहुंच गए बंबई,
बंबई से ली रेल,

तेज़ चला मेल,
किसी जुलाई की रात
पहुँच गए इलाहाबाद
स्टेशन पर अमित-अजित-तेज;
घर पर सुख की सेज,
न लंदन, पेरिस, डबलिन,
न रोम, बेनिस, बर्लिन
न केम्ब्रिज, न आक्सफ़ोर्ड
जो सत्रह क्लाइव रोड।

'जो बलख न बुखारे, वह छज्जू के चौबारे' की आधुनिक प्रतिध्वनि। अपने छज्जू का चौबारा तो १७ क्लाइव रोड ही था।

तेजी न मुस्कराईं।

फिर दूसरा प्रयत्न किया।

तेजी और गंभीर हो गईं।

थीसिस जब टाइप हो रही थी तब मैंने तेजी को चिट्ठी लिखी और मज़ाक़-मज़ाक़ में कहा कि 'तुमने तो मुझे ५०००/=और भेज देने के लिए कहा था, अब अगर भेज दो तो मैं योरोप का भ्रमण कर आऊँ। मैंने बहुत मेहनत की है और मुझे कुछ मनोरंजन, कुछ सैर-सपाटे की ज़रूरत है।' उन्होंने मुझे पाँच-पाँच हज़ार के मेरे तीनों जान-बीमों के नम्बर और उन्हें चुकता करा लेने के लिए फ़ार्म वग़ैरह भेजे थे कि मैं उनपर हस्ताक्षर करके भेज दूं और वे मुझे ५०००/=भेज देंगी। मुझे स्पष्ट हो गया था कि जब तेजी बचत के इस अंतिम स्रोत को छूने के लिए विवश हो गई हैं तो उनकी आर्थिक स्थिति क्या होगी।

मैंने उन्हें लिख दिया, 'बच्चों की शिक्षा के लिए जमा राशि को न चाहते हुए भी अपनी शिक्षा पर खर्च करके मैं वैसे ही अपराध-भावना से दबा हुआ हूँ, अब जो किसी आकस्मिक घटना के लिए यह राशि जमा है, उसे मैं न छूना चाहूँगा।'

बावा अपना डिप्लोमा कोर्स खत्म करके अमरीका होते हुए भारत

लौटना चाहते थे। उनके मित्र डा० साहनी वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे, उनका निमंत्रण भी था। पर अचानक बाबा के पिता का देहावसान हो गया था, घर पर केवल उनकी विधवा माँ, छोटे भाई, छोटी बहन थी, इसलिए परीक्षा देते ही, अब वे सीधे भारत लौट जाना चाहते थे। बाबा मेरी आर्थिक परिस्थिति से अवगत थे, उन्हें यह भी मालूम था कि लौटने का खर्च पास न होने से मैं चिंतित हूं। एक दिन उन्होंने मुझे अपने एहसान और स्नेह-सद्भावना से दबा दिया। जब वे १६ जून के जहाज़ से अपने लिए टिकट बुक कराने लंदन गए, तो उसी जहाज़ से मेरे लिए भी एक टिकट बुक करा आए। टूरिस्ट क्लास का टिकट लगभग ८० पौंड का मिला था। यदि वे मुझे इस चिंता से मुक्त न करते तो मैं नहीं जानता कि स्वदेश लौटने के लिए मुझे क्या करना पड़ता!

अब पंखों पर उड़कर स्वदेश लौटने का दुःसाहस न करना पड़ेगा।

दुनिया बड़ी विचित्र है।

इंसानियत के कैसे-कैसे नमूने यहाँ हैं!

एक मेरे वह दोस्त थे कि मेरे बारे में झूठी खबरें फैलाकर उन्होंने मुझे सब प्रकार की आर्थिक सहायता से वंचित करा दिया था।

एक मेरे वह दोस्त थे जिन्होंने मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर-परिवार की इज़्ज़त मिट्टी में मिला देने को कुछ न उठा रक्खा था।

एक मेरा यह दोस्त था जिसने बिना मेरे माँगे, मेरी ऐसी सहायता की थी जैसी कोई दूसरा उस अजनबी देश में न कर सकता था।

मेरी थीसिस के दो परीक्षक नियुक्त किए गए थे। एक थे वीवियन डि सोला पिन्टो, जो नाटिंघम युनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष थे, दूसरे थे ग्राहम हफ़, क्राइस्ट कालेज के फ़ेलो और सीनियर इंगलिश ट्यूटर, जिन्होंने हेन की अनुपस्थिति में ४ मास मेरा निर्देशन भी किया था।

थीसिस प्रस्तुत करने के बाद अब केवल 'वाइवा' की तैयारी करनी थी। हेन ने मुझसे कहा था कि मैं अपनी थीसिस को बराबर देखता रहूँ। 'वाइवा' के समय थीसिस की एक-एक प्रति मेरे दो परीक्षकों के हाथ में होंगी और एक मेरे हाथ में। मैं उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए अपनी थीसिस

भी खोल सकूंगा, मगर अगर मैं अपनी थीसिस बिना देखे, उनके उत्तर दे सकूं तो वे अधिक प्रभावित होंगे।

इसी प्रकार, मुझे उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए अपनी थीसिस में दिए तर्कों या आधारों तक सीमित रहना ज़रूरी नहीं। अगर मैं थीसिस के अतिरिक्त भी कुछ सार्थक जोड़ सकूं तो उसका अधिक प्रभाव पड़ेगा।

ज़रूरी नहीं कि परीक्षक ईट्स अथवा उनके ओकल्टिज़्म तक अपने को सीमित रक्खें। वे उनके समय और उनके समकालीनों के विषय में भी कुछ प्रश्न उठा सकते हैं या कुछ ऐसे प्रश्न, जो शोध-विषय से सीधे संबद्ध न हों। उनके संतोषजनक उत्तर परीक्षकों पर अच्छा प्रभाव डालेंगे।

वस्तुत: अच्छे परीक्षक शोध-प्रवृत्ति की सूक्ष्म परख के लिए निश्चित विषय से कुछ बाहर की ही बात करते हैं। वे जानते हैं कि शोध-विषय को तो तुमने दो वर्षों से घोखा है। उसपर तुमने सटीक उत्तर दिए तो क्या कमाल किया! वे देखना यह चाहते हैं कि शोध-कार्य करके तुम्हारा बौद्धिक स्तर कुछ बढ़ा, कुछ व्यापक हुआ है या नहीं।

मई का महीना थीसिस का आधा दर्जन पारायण, और ईट्स के इर्द-गिर्द के विषयों पर बहुत कुछ पढ़ते, चिंतन, मनन करते बीता।

वाइवा के विषय में तरह-तरह की आशंकाएं मन में उठतीं।

पिछले दिनों हिंदुस्तानी विद्यार्थियों ने केम्ब्रिज में अच्छा प्रभाव न डाला था।

विश्वनाथ दत्त ने तीन वर्ष तक पी-एच० डी० के लिए काम करके थीसिस प्रस्तुत की थी और परीक्षकों ने उन्हें केवल एम० लिट्० दी थी। कैसी विडंबना है कि जिसने मेरे लिए डाक्टरेट का सपना सँजोया था, वह खुद केम्ब्रिज से डाक्टरेट न ले सका। जाते समय विश्वा-कमला कितने निराश और दुखी थे!

कहीं मुझे भी ऐसे ही न जाना पड़े।

शिवकुमार ने भी तीन वर्ष तक The Current of Unconscious in Modern Novel (आधुनिक उपन्यास में अवचेतन की लहर) पर काम करके पी-एच० डी० के लिए थीसिस प्रस्तुत की थी, पर वाइवा के बाद उन्हें कोई डिग्री न दी गई थी, परीक्षकों ने उन्हें साल-भर का समय दिया था कि

वे अपनी थीसिस को संशोधित कर पुनः प्रस्तुत करें।

मेरे लिए भी यही कहा गया तो मैं तो काम ही छोड़ बैठूंगा।

जो मैं कर सका हूँ, उससे बेहतर अब इस दिशा में मैं और कुछ नहीं कर सकूंगा। हर एक की शक्ति की सीमा होती है। मैंने अपनी पूरी शक्ति लगाई है। इससे अधिक की प्रत्याशा किसीको मुझसे या मुझे अपने से नहीं करनी चाहिए।

सिद्ध गिरकर कर दिया मैंने कि अपनी
शक्ति भर ऊपर उठा मैं।

इन्हीं ऊहापोहों में दिन कटते गए और वाइवा की तारीख़ आ गई। मेरा वाइवा मई के अंतिम सप्ताह में क्राइस्ट कालेज में था।

केम्ब्रिज में डाक्टरेट की डिग्री शोधार्थी को अच्छी तरह ठोंक-बजाकर दी जाती है। लिखित प्रबंध से अधिक महत्त्व 'वाइवा' को दिया जाता है। लिखने में आप पुस्तकों से या दूसरे जानकार लोगों से वांछित अथवा अवांछित सहायता लेकर कुछ ऐसा भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जो आपकी सूझ-बूझ या आपकी योग्यता से उद्भूत न हो, पर मौखिक परीक्षा में आप परीक्षक के रू-ब-रू हैं। जो आप हैं, जो आप सोच रहे हैं, जो आपकी स्थापना है, जो आपका तर्क है, वह आपकी आँखों से प्रतिबिम्बित, आपकी मुख-मुद्रा से प्रतिच्छायित हो रहा है। आपके लब-लहजे ही बताते हैं कि जो आप कह रहे हैं वह कहाँ तक स्वयं आपकी प्रतीति है। अब न धोखाधड़ी से काम चल सकता है, न उधारी से। यही कारण है कि कई मामलों में शोध-प्रबंध तो स्तरीय माना गया पर शोधार्थी को डिग्री का हक़दार नहीं क़रार दिया गया।

मौखिक परीक्षा के विषय में मैंने तरह-तरह की बातें सुन रक्खी थी कि परीक्षक लोग थीसिस की धज्जियाँ उड़ा देते हैं—Tear it to bits; कि परीक्षा खुले कमरे में होती है, जिसमें श्रोता और प्रश्नकर्त्ता के रूप में भी युनिवर्सिटी के अध्यापक और शोधार्थी उपस्थित रह सकते हैं। ट्राइपास की परीक्षाएँ एक समय इसी प्रकार होती ही थीं। मेरे कुछ सह-शोधार्थियों ने तो मुझे विनोदपूर्ण धमकियाँ भी दे रखी थीं कि वे मेरी

मौखिक-परीक्षा में आएँगे और मुझे embarass करेंगे—यानी मुझे छेड़ेंगे, और मैंने उनसे चिरौरी की थी कि 'बाबा, बख्शो मुझे।'

मेरा 'वाइवा' दो बैठकों में हुआ—११ से १ तक की पहली बैठक में, जिसमें प्राय: वीवियन डि सोला पिन्टो ने मुझसे प्रश्न किए, फिर लंच के बाद—२ से ४ तक की दूसरी बैठक में, जिसमें प्राय: ग्राहम हफ़ ने मुझसे प्रश्न किए।

हेन ने 'वाइवा' के संबंध में जो हिन्ट्स मुझे दिए थे उनका मैंने ध्यान रक्खा। मैं समझता हूँ कि 'वाइवा' मैंने अच्छा किया।

स्वाभाविक था कि अपने परीक्षकों का चेहरा देखकर मैं यह भाँपना चाहूँ कि मेरी थीसिस अथवा मेरे मौखिक उत्तरों के संबंध में उन्होंने कैसी राय क़ायम की—अनुकूल कि प्रतिकूल। स्फ़िक्स का चेहरा भले ही अपना भेद कभी कह दे, पर अंग्रेज का 'स्टोनी फ़ेस' (ईट्स के शब्द हैं) अपने भीतर के भाव को कभी बाहर न झलकने देगा।

एक जून को डिग्री कमेटी की मीटिंग थी। २ जून को दस बजे कार्यालय के बाहर के नोटिस बोर्ड पर परिणाम टाँग दिए जाने के पूर्व मुझे यह पता न लग सका कि मेरी थीसिस पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत कर ली गई है और मैं अगले कान्वोकेशन में डिग्री ले सकता हूँ।

मुझे याद है, मैं बावा को साथ लेकर गया था और उसीको आगे भेजकर मैंने नोटिस बोर्ड देखने के लिए कहा। वह दौड़ता हुआ आया और उसने मुझे बाँहों में भर लिया।

मेरे मुँह से सहसा एक वाक्य निकला,

'इज़्ज़त रह गई।'

मैंने सबसे पहले मि० हेन के पास जाकर उन्हें खबर दी और उन्हें प्रणाम किया, फिर मैं मि० हफ़ के पास गया।

हेन और हफ़ ने सबसे पहले 'डाक्टर' कहकर मुझे संबोधित किया और मुझे बधाई दी। उनसे विदा लेकर मैंने तेजी को तार दिया।

श्रम सुफल होने पर मुझे खुशी तो बहुत हुई थी,

पर उसे मानने के साधन का सर्वथा अभाव था।

ग़रीब के घर लड़का पैदा हुआ था।

जो ही मिलता था बधाई देता था और कहता था The occasion should be celebrated (इस अवसर पर तो दोस्तों को दावत दी जानी चाहिए), और मैं था कि आँखें चुराता था।

मैंने उस रात अपने को कमरे में बंद कर लिया और रामायण का अखंड पाठ किया।

दूसरे दिन तेजी और बच्चों की बधाई का तार आया।

सबकी बधाई फीकी पड़ गई।

चार दिन बाद तेजी का पत्र मिला। उनकी भी प्रतिक्रिया वही थी— मेरी इज़्ज़त रह गई।

तेजी ने मेरे डाक्टरेट पाने की खबर मेरे चित्र के साथ पत्रों में प्रकाशित करा दी थी और उसकी कटिंग मुझे भेज दी थी।

फिर तो कालेजों में डिनर के सिलसिले शुरू हुए। कालेज के मास्टरों अथवा प्रोवोस्टों ने मुख्य अतिथि के रूप में मुझे निमंत्रित कर हाई टेबिल पर अपने दाहिनी ओर बिठलाकर मुझे खाना खिलाया। यह केम्ब्रिज के कालेजों में सबसे बड़ा सम्मान समझा जाता है।

मेरी सफलता पर सबसे अधिक उत्साह-उल्लास सेंट कैथरीन्स कालेज की शर्ले-सोसाइटी के सदस्य-विद्यार्थियों ने दिखाया, मैं भी उसका सदस्य था। उन्होंने आपस में चंदा करके मुझे एक शाम काकटेल पार्टी दी। वे जानते थे, कई अवसरों पर देख चुके थे कि मैं शराब नहीं छूता, पर उस संध्या को उनका आग्रह जबरदस्ती की सीमा पर पहुँच गया। सबने डा० बच्चन के लिए जामे-सेहत उठाए और कुछ ने एक शैम्पेन की बोतल खटाक से खोलकर उसकी फेनदार शराब मेरे सिर पर उलट दी।

मैं कैसे कहूँ कि उसकी कुछ बूँदों का स्वाद मेरे अधरों तक न पहुँचा!

उनकी स्नेह-सुरा से मैं भीग गया।

आज तक भीगा हूँ।

तेईस वर्ष बाद, जब ये पंक्तियाँ मैं लिख रहा हूँ, उस शराब की ठंड अपने माथे, पलकों, गालों पर अनुभव कर रहा हूँ, होठों पर उसका स्नेह-स्वाद भी।

इसका मलाल भी आज तक सँजोए हूँ—

मैं उन्हें कोई पार्टी न दे सका।

मैंने कभी एक गीत लिखा था, प्रथम पंक्ति थी,

'प्यार की असमर्थता कितनी करुण है!'

उस शाम को जी चाहा इसे थोड़ा बदल दूं,

'दैन्य की असमर्थता कितनी करुण है!'

तब से वह शाम मुझे जितनी बार याद आई, मैंने वह बदली हुई पंक्ति मन में दुहराई है।

कान्वोकेशन की तारीख़ नज़दीक आ रही थी।

नियमानुसार डिग्री लेने के लिए फ़ीस के रूप में पाँच पौंड कालेज और छह पौंड युनिवर्सिटी को देने थे। यह भी बाबा ने मेरे लिए चुकाए।

कान्वोकेशन के अवसर पर डिग्री लेनेवालों को एक ख़ास तरह की पोशाक पहननी पड़ती है। कालेज से आदेश उसके लिए आ गया—काला जूता, काला मोज़ा, काला डिनर-जैकेट-सूट, सफ़ेद क़मीज़, संध्या को बाँधी जानेवाली सफ़ेद टाई, सबके ऊपर एम० ए० का गाउन और सिर पर पी-एच० डी० की काली-चौखुंटी-चोटीदार टोपी।

नए स्नातक बड़े उत्साह से नया सूट सिलवाते हैं; उनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर होता है, फिर-फिर तो नहीं आनेवाला है। केम्ब्रिज-भर के दर्ज़ी व्यस्त।

मैं तो नया बनवाने की स्थिति में नहीं था।

पर कपड़ों के संबंध में युनिवर्सिटी के नियम की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

किसी से मँगनी माँगने पड़े।

पहन कर चार्ली चैपलिन लगता हूँ।

अपने पर ठठाकर हँसता हूँ।

रुदन कभी-कभी हँसी का बाना भी धारण करता है। छिपता है क्या ?

केम्ब्रिज युनिवर्सिटी का कान्वोकेशन बड़ा चित्रात्मक अवसर होता है।

वाइस चांसेलर का जलूस चलता है, कालेजों के सामने के मार्ग के बाएँ फ़ुटपाथ पर, सेनेट हाल की ओर, जो बाईं ही तरफ़ पड़ता है। दर्शक दाहिने फ़ुटपाथ पर लाइन लगाकर देखने को खड़े हो जाते हैं।

आगे-आगे खास तरह की काली वर्दी, काली टोपी में प्राक्टर और उसके दो सहायक चलते हैं, काँधों पर चाँदी की चमकती गदा रक्खे, गदा अपने हनुमान जी की-सी नहीं, मोटे डंडे-सी, एक सिरे पर कुछ ज़्यादा मोटी। वाइस चांसलर काला, ऊपर कुछ चमकीले काम का, लंबा गाउन पहनते हैं, दो 'पेज ब्वाएज़' काली वर्दियों में उसे पीछे से उठाए रहते हैं, फिर कोर्ट के सदस्य, बड़े अध्यापक अपनी-अपनी डिग्री के अनुरूप रंगबिरंगे गाउनों में।

वाइस चांसलर सेनेट हाल में आकर एक सिरे पर ऊँचे डायस पर बीचोबीच में रखी एकमात्र कुर्सी पर बैठ जाते हैं। प्राक्टर-पेज ब्वाएज़ पीछे खड़े हो जाते हैं।

कार्रवाई सब लैटिन में होती है। अपने पल्ले कुछ नहीं पड़ती। संस्कृत में जैसे अनुस्वार-मकार की ध्वनि बहुतायत से आती है वैसे ही लैटिन में भी। ध्वनि से लगता है जैसे कोई बड़ी गंभीर बात कही जा रही है। वातावरण गंभीरता का होता ही है। ऊँची छत से आवाज़ प्रतिध्वनित होती गूंजती है।

स्नातक वाइस चांसलर के सामने जाकर घुटनों के बल बैठ जाता है, अपना हुड उतारकर दाहिनी तरफ़ रख देता है। बिल्कुल भारतीय पद्धति से हाथ जोड़कर बैठता है। वाइस चांसलर उसका जुड़ा हुआ हाथ अपने दोनों हाथों में लेते हैं, लैटिन में कुछ कहते हैं, स्नातक दाहिने हाथ से हुड उठाकर सिर पर रखता है, खड़ा होता है और बाईं ओर को मुड़ जाता है, जहाँ दरवाज़े पर उसकी डिग्री का काग़ज़ी सर्टिफ़िकेट उसे दिया जाता है, जिसे लेकर वह हाल से बाहर निकल जाता है। अभी तक वह युनिवर्सिटी के सामान्य विद्यार्थी का गाउन ही पहने रहता है, बाहर निकलने पर वह अपनी विशेष डिग्री का गाउन पहन सकता है।

मुझसे पूछा गया था, डिग्री आप ईसाई पद्धति से लेंगे या ग़ैर-ईसाई पद्धति से। शायद डिग्री देते समय जो शपथ दिलाई जाती है वह एक में फ़ादर, सन ऐंड होली गोस्ट के नाम पर होगी, दूसरी में सिर्फ़ परमात्मा के

नाम पर। अंतर समझ में तो आनेवाला था नहीं, फिर भी मैंने कह दिया था, ग़ैर-ईसाई पद्धति से।

काश, तेजी और बच्चे यहाँ मौजूद होते और मुझे डिग्री लेते देखते।

ऐसे अवसरों पर अपने प्रियजनों का अभाव बहुत खलता है। शोक शायद हम अकेले भी मना लें, ख़ुशी मनाने के लिए दो-चार अपने निकट होने ही चाहिए।

हेन और श्रीमती हेन मुझे डिग्री लेते देखने के लिए आ गए थे।

बाबा अपना कैमरा लेकर आया था। उसने बाहर मेरी कुछ तस्वीरें लीं।

मिसेज़ हेन बोलीं, 'आज मैं तुमको पी-एच० डी० के शानदार गाउन में देखने की प्रत्याशा कर रही थी।'

मि० हेन ने उनका हाथ दबाया। वे मेरी आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ न थे। मिसेज़ हेन ने उनका संकेत समझा, और फिर पी-एच० डी० के गाउन की बात न की।

मेरे दो साथी अपनी पी-एच० डी० गाउन में पास ही खड़े थे, उन्हें भी मरे साथ ही डिग्री मिली थी।

एक हीन भावना का मन में उठना स्वाभाविक है।

मैंने पी-एच० डी० का गाउन और हुड दूकानों पर शीशे के लंबे केसों में सजा अक्सर देखा था। अक्सर उनके सामने से जाते हुए सोचा था, एक दिन मैं ऐसा गाउन पहनने का अधिकारी बनूंगा, कितनी बार अपनी पीठ पर उस गाउन की कल्पना भी की थी, अच्छा सजता मुझ पर।

आज जब मैं उसे पहनने का अधिकारी हूं, मैं उसे नहीं पहन सकता, नहीं ख़रीद सकता।

लाचारी अपने को संतोष देने के बहुत से तर्क खोज लेतीं है।

गाउन न पहनने से मेरी डिग्री तो मुझसे नहीं छिन जायगी!

'दिल के बहलाने को ग़ालिब यह खयाल अच्छा है'

रात को कालेज में मुझे डिनर पर बुलाया गया। चूंकि सेंट कैथरीन्स कालेज से डाक्टरेट लेनेवाला एकमात्र मैं था, इसलिए मुझे टेबिल पर प्रमुख

स्थान दिया गया।

आज जो भी मुझे संबोधित करता है डा० बच्चन कहता है। नाम से पहले यह विशेषण पहले-पहले सुनता हूँ तो अनभ्यस्त होने से कभी-कभी लगता है जैसे किसी दूसरे को बुलाया जा रहा है।

खाना खत्म होने के बाद ऐन्टी-रूम में बैठता हूँ। सभी लोग मेरे शोध की उपलब्धि पर मुझसे बात करना चाहते हैं। मुझसे कोई बात करे भी तो किस विषय पर! मैं दो वर्ष से ऊपर इस विषय पर इतनी बातें करता-सुनता रहा हूँ कि अब चाहता हूँ लोग मुझसे इसकी चर्चा बंद करें। अब मैंने अपने दिमाग़ का गियर बदल दिया है।

घर लौटने के सपने देख रहा हूँ।

बावा की भी परीक्षा का परिणाम घोषित हो गया है। 'स्टेटिस्टिक्स' में उसे डिप्लोमा मिला है। प्रथम स्थान जिसकी उसे आशा थी, शायद, उसे नहीं मिला।

हम दोनों ही अपने-अपने कमरों में अपने अपने सामान की पैकिंग में लगे हैं। कितना सामान इकट्ठा हो गया है मेरे चारों तरफ़! सोचना है, क्या ले जाना है, क्या छोड़ना है, क्या सामान लकड़ी के क्रेटों में जायगा, क्या बक्सों में। 'हल' में जानेवाले कौन से बक्से होंगे, केबिन में रखनेवाला कौन बाक्स। काग़ज़ों की छँटाई भी घंटों होती है। शोध के लिए एकत्र नोटों की कापियाँ और थीसिस के सातों ड्राफ़्ट बचाकर रखता हूँ। तेजी मेरे श्रम का सबूत पाएँगी, बच्चे कभी उनसे अपने काम के लिए प्रेरणा लेंगे।

डिग के कमरों में सेल्फ़ सर्विस थी, यानी हमें अपना कमरा अपने आप साफ़ करना पडता था।

सात-आठ दिन से बावा ने अपने कमरे की सफ़ाई बंद कर दी है। इतने रद्दी काग़ज़ फाड़-फाड़कर उसने फेंके हैं कि उसका कमरा चिरे-फटे-गंदे काग़ज़ों का एक समुद्र हो गया है, उसी में छोटे-छोटे टापुओं के समान उसके दो बाक्स, एक बड़े टापू के समान उसकी चारपाई।

मुझे भी अपने बहुत-से काग़ज़ों को नष्ट करना पड़ा है, पर मैं रोज उन्हें ले जाकर बाहर फेंक आता हूँ। कमरे की झाड़-पोंछ भी रोज़ करता

हूँ। कमरे को पहले से ज़्यादा ही साफ़ रखता हूँ।

बावा मुझे यह सब करते देखकर हँसता है। व्यंग्य करता है, 'मालूम होता है, अभी आपको केम्ब्रिज में और रहना है!'

'नहीं, बात ऐसी नहीं है, मैं चाहता हूँ कि अगर कभी मुझे यह कमरा याद आए तो मैं इसका साफ़-सुथरा रूप आँखों के आगे देखूँ। जाते समय यह कमरा मैं जैसा देखकर जाऊँगा वैसा मेरी स्मृति में बहुत दिनों तक बना रहेगा।'

आज बाईस वर्षों के बाद भी वह कमरा मेरी आँखों के सामने है—तीसरी मंज़िल पर कमरा—सड़क की ओर दो खिड़कियाँ, उसपर पतली जाली के परदे, खिड़की के पास काम करने की मेज़-कुर्सी, बगल में खड़ी मेज़, कुर्सी से ऊबता हूँ तो खड़ा हो जाता हूँ, खड़े-खड़े थकता हूँ तो बैठ जाता हूँ। उस कोने बिजली की अँगीठी, साथ की आलमारी पर खाना खाने-बनाने के सामान-बर्तन। उस कोने में चारपाई, साथ की दीवार से लगी आलमारी किताबों, कापियों से लदी। चारपाई के साथ एक आरामकुर्सी है, कभी थककर उसपर बैठा हूँ और थोड़ी देर को आँख झँप गई है, और मैं अपने घर-परिवार के बीच पहुँच गया हूँ या घर-परिवार मेरे पास आ गया है···

बावा कहता है, 'मैं तो अपने कमरे को कभी नहीं याद करूँगा।'

क्यों याद करेगा! एक बड़ी दुखद स्मृति इसके साथ जुड़ी है, इसी में उसे अपने पिता के अचानक देहावसान का तार मिला था और उसने रो-रोकर कमरे को सींच दिया था।

मेरे भी कितने तनाव, खिचाव, हृदय-मन-मस्तिष्क मथनेवाले क्षण इस कमरे से जुड़े हैं, पर उनसे त्राण के भी, राहत के भी। तनाव-खिचाव के क्षण शायद भूल भी जाएँ, राहत के क्षण कैसे भुलाए जा सकेंगे, क्योंकि वे स्वर बन गए हैं, शब्द बन गए हैं, लय बन गए हैं।

'मधुर लय का क्या कहीं अवसान है?'

शोध-प्रबन्ध कह रहा था मेरे साथ चल···
कविता कह रही थी, मेरे साथ बह···

मैंने अपने मन से कहा था,

'गर्म लोहा पीट
ठंडा पीटने को
वक़्त बहुतेरा पड़ा है।'

क्या बताना पड़ेगा कि 'गर्म लोहा' क्या है, 'ठंडा लोहा' क्या है ? कविता का 'गर्म लोहा' फ़ौरन पीटना होता है। कल्पना की ललाई, भावनाओं का उत्ताप, लयों का लचीलापन ज़्यादा देर नहीं ठहरता।

यह कविता वहाँ उस कुर्सी पर बैठकर लिखी थी।

लाइब्रेरी में काम करनेवाली लड़कियों से जिस दिन कहा था, 'अब मेरा काम पूरा होने वाला है और मैं देश लौटने वाला हूँ,' उस दिन उन्होंने अपनी आँखों से जो प्रश्न किया था, उसके उत्तर में यह गीत उस मेज़ पर खड़े-खड़े लिखा था—

चार दिन मेरा तुम्हारा हो चुका है, हेम हंसिनि,
और इतना भी यहाँ पर कम नहीं है।

कल्पना कंकड़ को उठाकर मुट्ठी में बंद करती है और जब वह खोलती है, कंकड़ हीरा हो जाता है। हीरे की क़द्र कम न करें, क्योंकि मैंने बता दिया है कि उसके मूल में कंकड़ था।

उस खिड़की से हवा का जो कम ठंडा झोंका आया था उसने यह गीत लिखने को प्रेरित किया था,

अब हेमंत-अंत नियराया
लौट नें आ तू, गगन बिहारी।

और उसी खिड़की से दूर पर दिखती वृक्षावली से मेरे क़लम में जो हरकत हुई थी, उससे यह गीत उतर पड़ा था—

'कह रही है पेड़ की हर शाख
अब तुम आ रहे अपने बसेरे।'

उस दरवाज़े से अंग्रेज़ी वसंत का जो रूप देखा था उससे अपना देसी बसंत कितना-कितना याद आया था ! —

बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई ।
माना अब आकाश खुला-सा और धुला-सा,
फैला-फैला, नीला, नीला,
बर्फ़-जली-सी, पील-पीली दूब हरी फिर,
जिस पर खिलता फूल फबीला,
तरु की निरावरण डालों पर मूँगा, पन्ना
औ दखिनहटे का झकझोरा,
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई ।
माना, गाना गानेवाली चिड़ियाँ आईं,
सुन पड़ती कोकिल की बोली,
चली गई थी गर्म प्रदेशों में कुछ दिन को
जो, लौटी हंसों की टोली,
सजी-बजी बारात खड़ी है रंग-बिरंगी,
किंतु न दूल्हे के सिर जब तक
मंजरियों का मौर मुकुट पहनाए कोई, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई ।
डार-पात सब पीत पुष्पमय जो कर लेता
अमलतास को कौन छिपाए,
सेमल और पलाशों ने सिंदूर पताके
नहीं गगन में क्यों फहराए ?
छोड़ नगर की सँकरी गलियाँ, घर-दर बाहर
आया, पर फूली सरसों से
मीलों लंबे खेत नहीं दिखते पियराए, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई ।
प्रातः से संध्या तक पशुवत मेहनत करके
चूर-चूर हो जाने पर भी,
एक बार भी तीन सैकड़े पैंसठ दिन में
पूरा पेट न खाने पर भी,

मौसम की मदमस्त हवा पी जो हो उठते
हैं मतवाले, पागल, उनके
फाग-राग ने रातों रक्खा नहीं जगाए, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधु ऋतु आई।

बार-बार अपने को याद दिलाता हूँ, अपनी कविताओं के बारे में कम से कम कहना है, पर क्या करूँ, केम्ब्रिज का कमरा याद आए तो वे कविताएँ कैसे भुलाई जाएँ जो उसमें लिखी गई थीं और वे गीत याद आएँ तो वह कमरा कैसे भुलाया जाय जिसमें ये गीत लिखे गए थे ! आखिरकार यह संस्मरण है।

केम्ब्रिज छोड़ने को अब फ़क़त दो दिन हैं।
समय लेकर मि० हेन से विदा लेने गया।

हेन का मुझपर बहुत बड़ा ऋण है। निर्देशक-शोधार्थी का औपचारिक संबंध तो हफ़ ने भी निभाया था, निश्चय मेरे व्यावहारिक हित को ध्यान में रखकर, पर एक फ़ासला बनाए हुए। उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, पर हेन के प्रति मैं ऋणी हूँ। जिस दिन से मैं उन्हें मिला था उसी दिन से उन्होंने मुझे अपने विश्वास में लिया था, मेरे अंदर छिपी शोध-प्रकृति को पहचाना था, उसे विकसित करने में हार्दिक रुचि ली थी, मुझे जैसे एक बड़े और अनुभवी का स्नेह-संरक्षण दिया था, मुझे अपनाया था।

मुझे अनेक ऐसे अवसर याद हैं जब अपने अवसाद, निराशा या चिंता के क्षणों में—प्रवास में इनकी कमी तो नहीं रही—मैंने उनके सान्निध्य से विश्रांति पाई थी, सहारा पाया था, बल संचय किया था।

एक घटना का ज़िक्र करूँ ?

'५३ के अंतिम और '५४ के आरंभिक महीनों में इंग्लैंड में भीषण जाड़ा पड़ा, तापमान ज़ीरो से कई डिग्री नीचे चला गया। इतनी बर्फ़ पड़ी कि मकानों की छतें ढक गईं, पेड़ों की नंगी डालें बर्फ़ से सफ़ेद हो गईं, हर

खुली जगह पर बर्फ़ की परतें जम गईं। अखबारों में निकला कि पिछले पचीस वर्षों में ऐसी ठंड नहीं पड़ी। और ठंड बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुँची कि एक दिन केम्ब्रिज की कैम नदी जम गई। जमी नदी की कल्पना आप शायद ही ठीक से कर सकें। लगता है, नदी मर गई और कफ़न ओढ़कर पड़ी है—'जब नदी मर गई—जब नदी जी उठी' शीर्षक से मेरी एक कविता है किसी संग्रह में।

धन्य हैं इंग्लैंड के लोग, जो ऐसी भीषणता को भी त्योहार में बदल देते हैं। बच्चे जमी नदी पर दौड़ने को निकल पड़े, नवयुवकों ने अपनी सहेलियों के साथ उस पर नृत्य किया, बहुतों ने उस पर स्केटिंग की। कुछ दुर्घटनाएँ भी हुईं एकाध जगह, बर्फ़ पाँवों के नीचे धसक गई और बच्चे नीचे चले गए और लापता हो गए।

मैं अपनी डिग से चला, कुछ दूर पर एक पुल पारकर मुझे हेन के कमरे में जाना था, पर यह देखकर कि कई लोग नदी पर स्केटिंग कर रहे हैं, मैंने सोचा, नदी पर चलकर मैं भी पार हो जाऊँ, यह भी एक अद्वितीय अनुभव रहेगा।

उस सर्वथा नवीन अनुभव से उद्वेलित, हेन के कमरे में पहुँचकर उन्हें प्रसन्नचित्त पा मैंने कहा, 'श्रीमन, आज तो मैं नदी के ऊपर चलकर आपके पास आया हूँ···'

हेन की मुद्रा बदल गई, भौंहें तन गईं, फिर अपने क्रोध को क्वचित् नियंत्रित कर उन्होंने व्यंग्य से कहा, 'तो अब आप दूसरे क्राइस्ट के रूप में माने जायेंगे।'···(क्राइस्ट ने एक बार पानी पर चलने का चमत्कार दिखाया था)। और फिर वे अपने को न रोक सके, बरस ही पड़े, 'तुमने यह क्या बेवकूफ़ी की, तुम बीवी-बच्चे वाले आदमी, मैंने तो समझा था तुममें कुछ अक़्ल है, दुर्भाग्यवश बरफ़ टूट जाती तो तुम्हारा पता न मिलता, कुछ सोचा, तुम्हारे बीवी-बच्चों पर क्या गुज़रती···मैं तुमसे बहुत नाराज़ हूँ।'

उस दिन उनकी डाँट से मुझे जैसी आत्मीयता का अनुभव हुआ था, वैसी उनके मीठे वचनों से नहीं। केम्ब्रिज में मुझे कोई डाँटनेवाला तो है, अपना समझकर। अपने पर ही क्रोध भी किया जाता है, ग़ैर की तो उपेक्षा की जाती है।

विदा-भेंट के रूप में मैं सफ़ेद और लाल गुलाबों के दो गुच्छे ले गया था। मैंने कहा, 'प्राचीन भारत में जब शिष्य गुरु से विदा होने जाता था तो उसे दक्षिणा प्रदान करता था। वही परंपरा निभाने के रूप में मैं दो पुष्प-गुच्छ लाया हूँ, सफ़ेद आपके लिए है, लाल श्रीमती हेन के लिए। इस समय और कुछ के लिए मेरी असमर्थता तो आप...।' मुझे कुछ भावुक होते देख हेन हंसे, 'देखो जी, प्राचीन भारत में शिष्य को फ़ीस तो नहीं देनी पड़ती थी। कालेज तो तुमसे फ़ीस लेता रहा है, वह दक्षिणा तो हुई ही। ये फूल ही बहुत हैं, धन्यवाद, लेकिन दूसरा गुच्छा तुम जाकर वीवियन को ख़ुद दो, इससे वे ज़्यादा प्रसन्न होंगी और तुम्हारे केम्ब्रिज से जाने के पहले वे तुम्हें अपने हाथ से बनाई एक प्याली चाय ज़रूर पिलाना चाहेंगी।'

उन्होंने मुझसे कहा, 'केम्ब्रिज की डाक्टरेट अकादमिक दुनिया में एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है, इससे तुम्हारे कैरियर में भी उन्नति होगी, योरोप और अमरीका में अंग्रेज़ी तो लोग हिन्दुस्तानियों से नहीं पढ़ेंगे, पर जापान, हांगकांग, नैरोबी और अफ़्रीका के कई नगरों से केम्ब्रिज-शिक्षित-दीक्षित अंग्रेज़ी के अध्यापकों की माँग बराबर रहती है, सर्विस कण्डिशन्स बहुत अच्छी, तुम जाना चाहो तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूं।' मैंने कहा, 'हिंदी का छोटा-मोटा लेखक भी होने के नाते अपने भाषा-क्षेत्र से दूर जाना मेरे लिए हितकर न होगा, फिर मेरे बच्चे ऐसी अवस्था में हैं, जिसमें मैं चाहूंगा कि वे देश के ही संस्कारों में पलें-बढ़ें।' वे मेरे विचार से सहमत हुए।

हेन की प्रसिद्ध पुस्तक The Lonely Tower (दि लोनली टावर) मैंने बहुत पहले ख़रीदी थी, साथ लेता गया था कि इस पर उनके हस्ताक्षर ले लूंगा। मैंने पुस्तक उनकी ओर बढ़ा दी। और उन्होंने जो उसपर लिखा, उससे वे मेरी दृष्टि में बहुत ऊँचे उठ गए।

With gratitude for many wrong things which the owner has pointed out in this book!—Tom Rice Henn.

(इस पुस्तक के मालिक ने इसमें जो बहुत-सी ग़ल्तियाँ दिखलाई हैं उसके लिए मैं आभार प्रकट करता हूं।—टाम राइस हेन)

पाठकों को स्मरण होगा कि अपनी किसी स्थापना को सही साबित करने

के लिए मि० हेन की किसी स्थापना को मुझे ग़लत साबित करना पड़ा था। इसके लिए मेरे मन में बड़ा संकोच था, बड़ा भय भी था, उनकी नाराज़ी का; अपने से छोटों, अपने से कम योग्यों द्वारा अपनी आलोचना कौन सहन करेगा—उनके सामने मेरी हस्ती ही क्या थी!—सहन ही नहीं करेगा, उसके लिए कृतज्ञ होगा? वही, जो तथाकथित नहीं, वास्तव में बड़ा होगा, बड़े जिगरे वाला होगा, और इस बात से आश्वस्त होगा कि वह ऐसी जगह बड़ा है, जहाँ उसके बड़प्पन को चुनौती नहीं दी जा सकती।—हेन कहे जा रहे थे, 'किसी गुरु के लिए इससे अधिक हर्ष और गर्व का अवसर नहीं हो सकता कि उसका शिष्य उसकी भूलों को देख सके और उन पर उँगली रखने का साहस कर सके।' कौन कह सकता है कि हेन उन महान गुरुओं की परंपरा में नहीं थे जिन्होंने यह उद्घोषणा की थी—शिष्यात्पुत्रादिच्छेद पराभवम्!

केम्ब्रिज की पी-एच० डी० की डिग्री बहुत बड़ी है।

आप चाहें तो कह सकते हैं, और मैं उसपर आपत्ति नहीं करूँगा कि इसे पाने का मुझे गर्व है।

पर आप इसे सच मानें कि इसपर मुझे अधिक गर्व है कि केम्ब्रिज में मैं हेन जैसे गुरु का शिष्य रहा।

उनकी एक और पुस्तक The Apple and Spectroscope (दि ऐपिल ऐंड स्पेक्ट्रास्कोप) भी मैं अपने साथ ले गया था; उस पर उन्होंने अपने हाथ से मेरा नाम लिख दिया था H. R. Bachchan (Discipulo) नीचे अपना पूरा नाम Tom Rice Henn लिख दिया था—लैटिन Discipulo, अंग्रेज़ी Disciple, हिंदी शिष्य।

फिर भी मैं स्मरण करना चाहूँगा तुलसी का एक दोहा,

हौंहु कहावत सब कहत राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास॥

हेन ने जीवनपर्यंत मेरे प्रति अपना गुरुत्व निभाया।
वे बराबर मेरी गति-विधि जानने को मुझे पत्र लिखते रहे—मैं कैसा

हूँ, कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ, क्या लिख रहा हूँ—मेरी कौन पुस्तक प्रकाशित हो रही है ?

केम्ब्रिज से लौटने के ग्यारह वर्ष बाद, ईट्स की जन्म-शताब्दी पर जब मैंने अपनी थीसिस पुस्तक-रूप में प्रकाशित की तो उन्होंने बड़ी खुशी से उसकी भूमिका लिखी। कभी आपको अवसर मिले तो उस भूमिका को देखें, मूल पुस्तक तो आपको रुचिकर न लगेगी, जब तक आप ईट्स की रचनाओं से पूर्णतया भिज्ञ न हों। मेरी पुस्तक को जो महत्त्व उन्होंने दिया, उसमें मेरे प्रति उनकी कृपा और उदारता ही अधिक बोलती है। ऐसे महान व्यक्ति का कृपापात्र होना ही क्या कम महत्त्व की बात है !

भूमिका में एक स्थान पर वे लिखते हैं—

Dr. Bachchan is himself a Hindi poet of reputation and (so far as one may judge in translation) there is a striking similarity of approach particularly as regards images and symbol as between his own technique and that of Yeats.

(डा० बच्चन स्वयं हिंदी के प्रख्यात कवि हैं, और जहाँ तक अनुवादों को देखकर कोई निर्णय कर सकता है, यह कहना ग़लत न होगा कि काव्य के प्रति दृष्टिकोण में, विशेषकर रूपकों और प्रतीकों के उपयोग में, उनकी और ईट्स की तकनीक़ में अद्भुत समानता है।)

मेरे ऊपर शोध-कार्य करनेवाले भारत की कई युनिवर्सिटियों में मेरी कविता की मिट्टी पलीद कर रहे हैं। काश, उनमें से कोई हेन की इस स्थापना को लेकर कुछ तत्त्व की बात कहता। खैर।

शताब्दी-वर्ष में ही जब मैंने ईट्स की १०० कविताओं का अनुवाद हिंदी में करके छपाया, 'मरकत द्वीप का स्वर' के नाम से, तब उन्होंने उसकी एक प्रति मुझसे मँगाई, हालाँकि वे हिंदी का एक अक्षर भी नहीं पढ़ सकते थे। उन्होंने मुझे लिखा था, 'अब तो केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में हिंदी विभाग भी खुलनेवाला है और यहाँ बहुत-से हिंदी जाननेवाले होंगे, मैं किसी से पढ़वाकर तुम्हारा अनुवाद सुनूँगा।'

१९७० में एक जम्बो जेट दिल्ली से न्यूयार्क तक की अपनी प्रथम उड़ान पर जा रहा था। ऐसे अवसर पर ऐसी प्रथा है, भारत सरकार कुछ

जाने-माने नागरिकों को अतिथि-रूप में यात्रा करने के लिए आमंत्रित करती है। तेजी को भी निमंत्रण मिला था। तेजी लौटते समय लंदन से मेरे पूर्व शिष्य ओंकारनाथ श्रीवास्तव को साथ लेकर, जो वहाँ बी० बी० सी० में उन दिनों काम करते थे, केम्ब्रिज गईं। केम्ब्रिज पहुँचकर तेजी सेंट कैथरीन्स कालेज गईं और वहाँ से हेन को फ़ोन किया। उन्होंने फ़ोन पर कहा, 'आप जहाँ हैं, वहीं रुकें, मैं आ रहा हूँ।' और वे अपनी कार लेकर फ़ौरन कालेज आए और तेजी और ओंकार को अपनी गाड़ी में बिठालकर सारा केम्ब्रिज दिखाया, एक-एक जगह दिखाई, जहाँ मैं रह चुका था, लाइब्रेरी, कालेज का अपना कमरा, जहाँ-जहाँ मैंने काम किया था, फिर अपने घर, अपनी स्टडी में, लिवा ले गए जिसे दिखलाकर श्रीमती हेन ने कहा 'इसी कमरे में आपके और मेरे पति ने न जाने कितनी शामों को घंटों बैठकर काव्य और साहित्य की चर्चा की है।'

चलने लगे तो ओंकार ने हेन के पाँव छुए, 'आप तो मेरे गुरु के भी गुरु हैं।' तेजी बताती थीं, हेन की आँखों में आँसू भर आए थे।

अमिताभ १९७३ में अपने विवाह के बाद हनीमून मनाने को लंदन गए तो केम्ब्रिज भी गए और अपनी पत्नी के साथ उन्होंने मि० हेन के दर्शन किए। वे भाव-विभोर हो उठे। बहुत वृद्ध हो गए थे, बैसाखी पर चलते थे। एक पारिवारिक त्रासदी ने उनकी कमर तोड़ दी थी। उनके एक मात्र लड़के का भरी जवानी में अकस्मात देहांत हो गया था। मुझे सूचित करते हुए लिखा था, 'कृपया कोई संवेदना न व्यक्त करें।' मैंने ईट्स की पंक्तियाँ लिख भेजी थीं,

So like a bit of stone I lie
Under a broken tree,
I could recover if I shrieked
My heart's agony
To passing bird, but I am dumb
From human dignity.

मेरा हिंदी अनुवाद है :

टूटे तरु के नीचे
छोटे-से पत्थर-सा पड़ा हुआ हूँ मैं कब से,
विजड़ित जड़िमा से ।
मेरा दिल हल्का हो जाता,
डाली पर बैठी चिड़िया को
यदि मैं अपनी पीर सुनाता,
लेकिन मैं मुँह बन्द किए मानव गरिमा से ।

एक पंक्ति में उनका उत्तर मिला था, 'तुम्हारा पत्र प्रतिध्वनि के समान आया है ।'

और हेन अपना मुँह बंद किए ही, पर मानव-गरिमा के साथ, इस दुनिया से चले गए ।

हेन से जो मुझे मिला था, मेरे भाग्य ने अवसर ही न दिया कि मैं अपने शिष्यों को दे सकूं । वही उनसे उऋण होने का एकमात्र उपाय होता—

गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के ।

काश, मेरे पाठक परशुराम के प्रति कही गई लक्ष्मण की इस व्यंग्योक्ति को उसके संदर्भ से अलग करके देख सकते ।

मन में बड़ा मलाल हो रहा था कि इतने दिन बाद लौट रहा हूँ और बच्चों के लिए कुछ नहीं ले जा रहा हूँ । बावा ने मेरी वेदना देखी और मुझे दस पौंड और दे दिए । मैंने अमित के लिए एक छर्रे वाली बंदूक़ ले ली—उसकी दाढ़ देखकर हम पहले सोचा करते थे कि वह फ़ौज में जायगा, हम उसे कभी-कभी फ़ील्ड मार्शल अमिताभ कहकर पुकारते भी थे । बंटी के लिए मैंने बिजली से चलनेवाली एक रेलगाड़ी ली । सोचा, तेजी पूछेंगी, 'मेरे लिए क्या लाए ?' तो कहूँगा, 'तुम्हारे लिए तो मैं ख़ुद ही आ गया'—वही उत्तर, जो मैं किसी समय श्यामा को बाहर से लौटने पर देता था । न उनके लिए कुछ लिया, न अपने लिए, राजन के लिए एक टाई जरूर ले ली, अपने स्नेह-बंधन के प्रतीक रूप । पाँच पौंड बचाकर अपने पास रख लिए,

नक़द इतना ही अधिकतम समुद्री यात्रा में साथ ले जा सकता था।

केम्ब्रिज में हमारी आखिरी शाम आ गई। बाबा ने और मैंने सारी शाम घूम-घूम कर केम्ब्रिज के प्राकृतिक सौंदर्य पर आखिरी नज़रें डालीं। मौसम ऐसा सुहाना तो कभी हुआ ही नहीं था, नदी, किनारों, फूल-पौधों, पेड़ों सब पर प्रसन्नता की आभा। हमारे जाने पर उसे उदास क्या होना था, न जाने कितने यहाँ आए और यहाँ से चले गए। कहीं हम भी तो प्रसन्न थे, अपने घर वापस लौटने की घड़ी आ जाने पर। कहीं हमारी भीतरी प्रसन्नता ही तो केम्ब्रिज नहीं प्रतिबिम्बित कर रहा था। अंग्रेज़ी निबंधकार हैज़लिट ने कहा है—The happiest part of the journey is the return. (यात्रा का सबसे सुखद अनुभव यात्रा से लौटने का है।)

केम्ब्रिज में हमारी आखिरी सुबह। हम उठकर तैयार हुए हैं, डिग के साथियों ने हमें नाश्ता करा दिया है, दस बजे हमें लंदन के लिए ट्रेन पकड़नी है, बड़ा सामान एक दिन पहले टामस कुक के एजेन्टों द्वारा सँभाल लिया गया है, अब तो हाथ में रहनेवाला सामान साथ है, कुछ संगी-साथी मिलने आ गए हैं, मैं बड़े हल्के मूड में हूँ, सबको एक गीत सुनाता हूँ :

बाबुल मोरा केम्ब्रिज छूटो री जाय।
चार दोस्त मिल बक्सा उतारें
हेन-हफ़ छूटो री जाय। बाबुल मोरा···

सेंट कैथ पर्वत भया, जीसस ग्रीन अकास,
जा गोरी घर आपने, मैं चला तेज के पास।
बाबुल मोरा केम्ब्रिज छूटो री जाय।

कमरे में हँसी के फ़ौआरे छूट जाते हैं।
पर यह हल्का मूड बहुत देर नहीं रह पाता।

डिग से निकलकर बस स्टैंड तक जाने के लिए सेंट कैथरीन्स कालेज के सामने से होकर जाना पड़ता था।

कालेज के सामने पहुँचा हूँ तो मेरा पाँव ठिठक गया है। मि० हेन कालेज के लान पर टहल रहे थे, मुझे देखकर बाहर आ गए हैं, कहते हैं—

I knew you would like to have a look at your college before leaving Cambridge. (मुझे मालूम था कि केम्ब्रिज छोड़ने के पहले तुम अपने कालेज को एक नज़र देखना चाहोगे।)

मेरी आँख सेंट कैथरीन्स कालेज के लोहे के फाटक पर लगे सुनहले पहिए पर टिक जाती है। सेंट कैथरीन पुराकाल में एक साध्वी थी जिसे रोमनों ने लोहे के पहिए के नीचे कुचल-कुचलकर मरणांतक यातनाएँ दी थीं। बाद को यही पहिया सेंट कैथरीन की अदम्य आस्था का प्रतीक हुआ, जैसे क्रास क्राइस्ट का। जब उसके नाम पर इस कालेज की स्थापना हुई, तब पहिया कालेज का विशेष चिह्न (Emblem) बनाया गया। केम्ब्रिज में जब-जब मुझे मानसिक यातनाओं से गुज़रना पड़ा था, यह पहिया मुझे याद आया था। मैं उस कालेज का सदस्य हूँ जिसकी संरक्षिका (Patron Saint) सेंट कैथरीन है। मुझे उसके धैर्य, उसकी आस्था से बल संचय करना चाहिए। नियति ने यों ही नहीं, किसी ध्येय से मुझे सेंट कैथरीन्स का सदस्य बनाया है। अगर मैं आज जीवन के पहिए के नीचे हूँ तो क्या शिकायत करूँ, मुझसे बहुत बड़े, बहुत निर्दोष, बहुत पावन जीवन के पहिए के नीचे आ चुके हैं और उन्होंने जो वेदना झेली है, उसे देखकर बहुतों को अपनी वेदना झेलना सहज हुआ है।

मेरे भीतर किसी ने कहा कि इस पहिए से जो प्रेरणा तुम लेते रहे हो, उसके लिए तुम्हें सेंट कैथरीन को धन्यवाद दिए बिना केम्ब्रिज से नहीं जाना चाहिए।

एक क्षण के लिए मैं पहिए के सामने नतमस्तक हो गया।

हे सन्त, तुम्हारे उस बलिदान का संदेश मैं कभी न भूलूं। न जाने अभी जीवन कितना है, और न जाने अभी कितनी बार ऐसे पहियों के नीचे होकर जाना है।

हेन, 'वों वइयाज़' (यात्रा शुभ हो) कहकर अपना हाथ उठा रहे थे।

और उनके उस उठे हाथ में मुझे सेंट कैथरीन का आशीषदायी हाथ भी दिखाई पड़ा था।

लंदन में दो दिन, दो रात रहना था। लगता था, कैसे कटेगा यह

वक्त। अब जी यही चाहता है कि जल्दी से जल्दी जाकर जहाज़ में बैठ जाऊँ और वह चले और बंबई आने के पहले कहीं-कभी न रुके। खैरियत है, कुछ करने को था। १४ को लंदन स्टेशन के गोदाम में जाकर चेक करना था कि जो सामान केम्ब्रिज से थामस कुक ने इकट्ठा करके भेजा है, वह ठीक पहुँच गया है कि नहीं। १५ को वह जहाज़ में लदनेवाला था। उसी दिन लंदन युनिवर्सिटी के ओरियंटल विभाग में मुझे अपनी कुछ कविताएँ रेकार्ड करानी थीं, १८ को वहाँ एक हिंदी कवि-सम्मेलन आयोजित था, मैं तो रुक नहीं सकता था, मेरी कुछ कविताएँ सुनवाने को रेकार्ड कर ली गईं, मुझसे वादा किया गया था कि उसकी डिस्क बनवाकर भेजवा देंगे। अभी तक तो वह आई नहीं।

रात जैसे-तैसे कट गई।

१५ को दिन को क्या करूँ? लंदन में रहो तो कुछ घूमो-फिरो, कुछ करो-धरो।

लंदन का क्यू गार्डन अपनी खूबसूरती के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध है। देखने चला गया।

बाग़ अपनी पूरी जवानी पर था।

April showers
Bring May flowers.

अप्रैल की झड़ी
मई-फूलों की लड़ी!

और अप्रैल की बरसात से मई में जो फूल आए थे, वे जून के पहले पखवारे तक लहलहा रहे थे। पर हरे-भरे पौधों के बीच से झाँक रही थी तेजी, रंग-बिरंगे फूलों से अमिताभ-अजिताभ।

इंग्लैंड में आखिरी रात। इंग्लैंड में पहली रात भी इसी होस्टल में, घटनावश, इसी कमरे में काटी थी। तब से ठीक दो बरस, दो महीने, दो दिन की न जाने कितनी सुखद-दुखद घड़ियों पर उँगली रखती स्मृति निद्रा-लोक में खो गई है।...

सोते में जैसे सुबक-सुबककर किसीके रोने की आवाज़ सुनकर जाग पड़ा हूँ।

पास के बिस्तर पर बावा नींद में रो रहा था।

उसने अपने पिता के शव को सपने में देखा था।

सुबह होने को थी।

पास रहनेवाले दो भारतीय विद्यार्थियों ने आखिरी नाश्ते के लिए हमें निमंत्रित कर रखा था।

१० बजे ट्रेन लंदन से टिलबरी डाकयार्ड के लिए छूट गई।

शुक्र है, लौटानी सफ़र शुरू हो गया है।

पी ऐंड ओ स्ट्राथीडेन बहुत बड़ा जहाज़ था। इतने बड़े जहाज़ में मैंने पहले कभी सफ़र नहीं किया था। आया था हवाई जहाज़ से, डबलिन गया था स्टीमर से। बावा इंग्लैंड आया भी था समुद्री जहाज़ से। जहाज़ पर वह मेरा गाइड बन गया था।

स्ट्राथीडेन होगा तो कम से कम एक फ़र्लांग लम्बा और सौ फ़ीट चौड़ा, और ऊँचा? समुद्री सतह के ऊपर आठ डेक A, B, C, D, E, F, G, H. ऊपर के तीन डेक प्रथम श्रेणी के, शेष पाँच टूरिस्ट क्लास के। टूरिस्ट क्लास के कोई नौ सौ यात्री थे, फ़र्स्ट क्लास के कितने होंगे, नहीं कह सकता। फ़र्स्ट क्लास के लोग प्रायः टूरिस्ट डेकों पर नहीं उतरते और न टूरिस्ट क्लास के ही फ़र्स्ट क्लास के डेकों पर चढ़ते हैं! मैं तो चढ़ता था। फ़र्स्ट क्लास में सबसे ऊँचे डेक पर किनारे-किनारे चारों ओर चलने का रास्ता बना था, उसपर लिखा था, 'इतने चक्कर करो तो एक मील होता है।' कुछ लोगों को चलने का शौक़ होता है, और कुछ लोग न चलें तो उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती। ऐसों की सुविधा के लिए यह रास्ता बनाया गया था। मैं दोनों में हूँ। अलस्सुबह अभी जब फ़र्स्ट क्लास के यात्री सोते ही रहते होंगे, मैं ऊपर जाकर तीन-चार मील का चक्कर रोज़ लगा आता था। चलंतू किसी भी प्रथम श्रेणी के यात्री से कभी मेरी भेंट न हुई। मिलता भी तो शायद ही एतराज़ करता। मेरी पीठ पर कोई छाप लगी थी कि मैं टूरिस्ट क्लास का यात्री हूँ!

जहाज़ में यात्रियों के लिए केबिन होते हैं, रेल के डिब्बों जैसे, एक से छह

'वर्थ' के। स्ट्राथीडेन में कोई दो सौ केबिन तो होंगे। केबिन में कपड़े टाँगने के लिए एक आलमारी होती है, कुछ दराज़ कपड़े रखने के लिए, एक वाश बेसिन, और एकाध बैठने की छोटी कुर्सियाँ—कोशिश करने पर भी बाबा को और मुझे एक ही केबिन न मिला था। पर हम सिर्फ़ सोने के लिए अपने-अपने केबिन में जाते, बाक़ी वक़्त साथ रहते।

जहाज़ पानी पर तैरता एक छोटा-सा नगर ही होता है। स्ट्राथीडेन पर क्या नहीं था—केबिनों के अलावा, बैठक (लाउंज), मधुशाला, भोजनालय, काफ़ीख़ाना, धूम्रपानगृह, नाचघर, बाल भवन, धोबी-दफ़्तर, नाई की दूकान, अस्पताल, बैंक, पोस्ट आफ़िस, टेनिस कोर्ट, (डेक टेनिस खेलने के लिए, जो एक तरह के रबर के चक्र से खेला जाता है), सब तो था, यहाँ तक कि नहाने, तैरने के लिए एक तालाब भी। जहाज़ पर काम करनेवाले खलासी, बेयरे तथा अन्य कर्मचारियों के रहने की जगहें अलग थीं।

दो वक़्तों का खाना, नाश्ता, चाय टिकट में शामिल होता है। इसके अलावा कुछ खाना-पीना चाहें—केक, पेस्ट्री, सिगरेट, शर्बत, शराब तो उनके दाम अलग देने पड़ते हैं, पर जहाज़ पर चीज़ें बहुत सस्ती मिलती हैं, सिर्फ़ जहाज़ पर ही खाने-पीने के लिए—ख़रीदकर बंदरगाह पर उतरें तो भारी चुंगी देनी पड़ती है।

हम दोनों ने ही केम्ब्रिज में दो बरस जी-तोड़ मेहनत की थी, ऊपर से तरह-तरह की मुसीबतों के शिकार हुए थे। साथ ही हम दोनों यह भी जानते थे कि अपने-अपने घर पहुँचते ही हमें कई तरह की नई और कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। क्यों न हम इस अंतराल में विगत और अनागत दोनों को भूलकर सिर्फ़ वर्तमान में जिएँ, इससे पिछली थकान से भी हमारा निस्तार होगा और अगली चुनौतियाँ भी हमें ज़्यादा ताज़ा और तैयार पाएँगी। भूत-भविष्य की स्थूल परिस्थिति, परिवेश से असम्बद्ध, निस्सीम समुद्र की सतह पर द्वीप की तरह तैरते हुए छोटे-से जहाज़ पर असंभव तो नहीं कि यह संभव हो सके। हमने अपनी सागर-यात्रा भर के लिए एक दूसरे को इस साबर-मंत्र से दीक्षित किया—

जो बीत गई सो बात गई
जो आई नहीं छू पाई नहीं।

हमने आपस में तै किया कि हममें से कोई अगर दूसरे को कभी उदास देखे तो ज़ोर से गुदगुदा दे। और हमने मौक़े-बे-मौक़े एक-दूसरे को काफ़ी गुदगुदाया।

जहाज़ में नींद बड़ी अच्छी आती है। एक तो, जहाज़ के प्रोपेलर के चलने की गरर-गरर-गर···आवाज़ निरंतर कानों में आती रहती है। और, यह और कुछ न करे किसी और विचार को दिमाग़ पर बैठने नहीं देती। दो-एक दिन के बाद यह ज़हाज़ के अनवरत मंद-मधुर संगीत के समान कानों में गूँजने लगती है, यहाँ तक कि जब आप जहाज़ से उतरते हैं तो कई दिनों तक इसके अभाव में आपको नींद नहीं आती। दूसरे, अगर मौसम सामान्य हो तो चलते हुए जहाज दाहिने-बाएँ धीरे-धीरे हिलता है, ऐसा लगता है कोई आपको झूले में डालकर मंद-मंद झुला रहा हो और आप सो जाते हैं।

कोई गाता मैं सो जाता।
संसृति के विस्तृत सागर पर
सपनों की नौका के अंदर,
सुख-दुख की लहरों पर उठ-गिर बहता जाता मैं सो जाता।
कोई गाता मैं सो जाता।

सुबह उठकर मैं तो ऊपर डेक पर घूमने चला जाता और बाबा किसी खुले डेक पर ज़्यादा मशक़्क़त-तलब कसरत करता। फिर नहा-धोकर हम लोग नाश्ता करने जाते। बाद में हम लाउंज में जाकर नए-नए लोगों से परिचय करते। जहाज़ में बड़ी अनौपचारिकता का वातावरण रहता है और किसीमें मिलनसारी हो तो बहुत-से मित्र बना सकता है। लोग इससे खुश होते हैं कि आप स्वयं अपना परिचय देकर दूसरों से उनका परिचय माँगें। यह तो जहाज़ में ही स्पष्ट होता है कि दुनिया में कैसे-कैसे विचित्र लोग हैं और कैसी अकल्पनीय परिस्थितियों से गुज़रते हुए अपने जीवन का मार्ग बनाते हैं। अपनेआप बनाकर खाने से ऊबे हम बना-बनाया खाना डटकर खाते और दिन में कुछ देर को सो जाते। शामों को जहाज़ पर तरह-तरह के मनोरंजन का आयोजन होता है, जिनमें हर आदमी अपनी रुचि के अनुसार भाग ले सकता है। दो-चार दिन तो समुद्र का फैलाव, उठती-गिरती लहरें

अच्छी लगती हैं, फिर इनसे ऊब होने लगती है। जिन पेड़-पत्तों-घास की ओर हम कभी ध्यान नहीं देते, उन्हींको देखने को हम तरसने लगते हैं। जहाज़ पर इनका अभाव बहुत खलता है। 'कभी नोटिस करें, जहाज़ों में जो तस्वीरें लगी होती हैं वे पेड़, उद्यानों, जंगलों की होती हैं।

जिन्हें इन्सान की सोहबत पसंद हो, जिन्हें इन्सानों में रुचि हो, जिन्हें मनुष्यों के वैविध्यपूर्ण चरित्र और वृत्ति के प्रति कौतूहल हो, उन्हें समुद्र के उबाऊ परिवेश से घबराने की जरूरत नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज से अपनी पटरी बैठी रखने के लिए प्रायः वह एक समाज-प्रत्याशित रूप अपने ऊपर आरोपित किए रहता है। जहाज़ हर मनुष्य को इस सामाजिक दबाव और नियंत्रण से मुक्ति देता है और वह कुछ समय के लिए निजत्व में रहने का अवसर पाता है और अपने इस निजत्व में हमीं दूसरों की ओर आकर्षित नहीं होते, दूसरे भी हमारी ओर निःसंकोच खिच आते हैं। मैं भारत या आयरलैंड के किसी ऐसे परिवेश की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें नोरा ऐसी लड़की हमारे उतने निकट आ सके, जितनी कि वह उस जहाजी यात्रा में आई।

नोरा को पिछले वर्ष आयरलैंड की सौंदर्य-प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला था, पर वह अपनी सुंदरता के प्रति रंचमात्र सचेत न थी, साथ ही वह इतनी प्रसन्नचित्त थी कि लगता था, जैसे उसकी आंतरिक प्रसन्नता के प्रवाह में उसका सौंदर्य एक फूल के दोने के समान उतराता चला जा रहा हो। यदि वह यह जानकर मेरे निकट आती कि मैंने उसके देश के सबसे बड़े कवि के काव्य पर शोध किया है तो यह उसके आने की बड़ी ज़ाहिर व्याख्या होती। नहीं, यह उसने कभी नहीं जाना। वह तो मेरे पास ऐसे आ गई थी जैसे किसी कवि के पास उसकी कविता का विषय आ जाय और वह उसके प्रति न्याय न कर सके।

नोरा पर अपने प्रवास की मैंने अंतिम कविता लिखी। कुछ पंक्तियाँ आप सुनना चाहेंगे?

सब से कोमल
आयर-मधुवन की कलिका का

सब से निर्मल
आयर-सागर के मोती का
सब से उज्ज्वल
आयर-अंबर के तारे का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो,
भर आह कहूँगा मैं नोरा।

वह पोर्ट सईद में उतर गई।

उसके बाद हमें उसका कोई समाचार न मिला।

वह हमारा पता ले गई थी।

मुझे पता नहीं कि बाबा ने कभी उसके बारे में फिर सोचा या नहीं पर मैंने सोचा।

नोरा कहाँ होगी, कैसी होगी ?

और मेरा मन भीतर से बोला है, नोरा कहीं होगी, सुखी नहीं होगी।

इतनी अंधकारमयी, गंदभरी और कठोर दुनिया नोरा जैसी कोमलता, निर्मलता, उज्ज्वलता को सह सकी होगी !

उसकी तो सत्ता ही प्रतिक्षण दुनिया को उसकी हीनता का बोध कराती होगी।

नोरा को अपने धरातल पर उतार लाने को दुनिया ने क्या न किया होगा !

दुनिया की खींच, घसीट, बलात्कार ने नोरा की सहज, स्वाभाविक, सुकुमार प्रसन्नता को मिटा दिया होगा।

वह निश्चय दुःखी होगी।

सुखी होती तो हमें ज़रूर लिखती।

ऐसे अपने मन का उल्लास ही बाँटते हैं, अपने मन का अवसाद-भार अकेले ढोते, अनजाने, अनसुने रास्तों पर चले जाते हैं—'दे मन का उपहार सभी को, ले चल मन का भार अकेले।'

पोर्ट सईद की याद आते ही आँखों के सामने आ जाते हैं, उसके अरबी व्यापारी, जो लम्बी-लम्बी खुली नावों में मिस्र की कला-कारीगरी का रंगा-

रंग सामान प्रदर्शित करते हुए जहाज़ को घेर लेते हैं। बिना जहाज़ पर आए वे डेक पर खड़े मुसाफ़िरों से—ऊँचे से ऊँचे डेक पर खड़े—कितनी ख़रीद-फ़रोख़्त कर लेते हैं! वे लम्बी-लम्बी रस्सियाँ जहाज़ के सबसे ऊँचे डेक तक फेंकने में माहिर होते हैं। मुसाफ़िर उन्हें पकड़ लेते हैं और उन्हींके सहारे वे बड़े से बड़ा सामान ऊपर पहुँचा देते हैं और मुसाफ़िर उनका दाम नीचे। बड़ी मोलतोल-सौदेबाज़ी होती है, नए मुसाफ़िर ठगे जाते होंगे, दाम वे चौगुना-पँचगुना माँगते हैं, यात्री कितना कम करने को कहेगा! कितनी भाषाएँ वे जानते हैं, मुसाफ़िर को देखते ही वे उसकी भाषा बोलने लगते हैं। मुझे क्या लेना था, मुझे तो किसी व्यापारी ने सम्बोधित भी न किया। तजुर्बेकार अरबी व्यापारी सूरत देखते ही अन्दाज़ा लगा लेते हैं कि यह खरीदने वाला असामी है या नहीं।

दुनिया का हूँ दुनिया का तलबगार नहीं हूँ,
बाज़ार से गुज़रा हूँ, ख़रीदार नहीं हूँ।

स्वेज़ नहर में जहाज़ बहुत धीमे चलता है, कहीं-कहीं नहर इतनी सँकरी है कि डेक पर से किनारे खड़े आदमियों से बातचीत हो सकती है—होती भी है। बात करने वाले होते हैं—नहर के रक्षक, किनारे की छावनियों में पड़े फ़ौजी सिपाही। लम्बी-लम्बी अवधि तक नारी-सम्पर्क से वंचित ये सिपाही डेक पर खड़ी स्त्रियों को कितनी प्यासी नज़रों से देखते हैं! कोई-कोई प्यार-भरे शब्दों से उन्हें सम्बोधित भी करते हैं, 'फ़्लाइंग-किस' भेजते हैं। विनोद में योरोपियन स्त्रियाँ 'फ़्लाइंग-किस' से प्रत्युत्तर भी देती हैं, क्या जाता है उनका, सिपाही क्षण भर के लिए खुश हो जाता है।

लाल सागर में प्रवेश करते ही मौसम बदल गया—गर्मी पड़ने लगी। हम अपना तकिया-चद्दर लेकर खुले डेक पर आ जाते और वहीं सोते। खुले आसमान के नीचे सोने का सुख जब से भारत छोड़ा था, सपना हो गया था। चाँद-तारे हमारी कितनी प्रतीक्षा में थे! कभी हम जहाज़ के पिछले हिस्से पर जाकर खड़े होते तो जहाज़ चलने से समुद्र पर बनती, पीछे छूटती, सफ़ेद फेन की लम्बी लीक दूर तक दिखाई देती, जैसे कोई लम्बा अज़दहा, जहाज़ को पकड़ने को चला आ रहा हो, पर पकड़ न पाता हो।

जहाज़ अदन पहुँचा कि किसी जहाज़ी कर्मचारी ने सूचित किया कि You will be received on behalf of the Government of India. यानी बंदरगाह पर भारत सरकार की ओर से आपका स्वागत किया जायगा। सोचने लगा, मैं कौन ऐसी मुहिम मारकर आया हूँ कि भारत सरकार मेरे स्वागत को तुतुआ उठी है। अदन में भारत सरकार का कांसुलावास है यानी Consulate ! कांसुल महोदय अपनी किश्ती लेकर सीढ़ियों के पास मौजूद थे, हो गया न स्वागत ! वे मुझे किश्ती में बिठाकर बन्दर पर ले गए और उनकी वजह से बिना किसी पूछ-पछोर के मुझे बाहर जाने दिया गया । वहाँ उनकी कार खड़ी थी, अपने निवास पर ले गए, चटपटी मसालेदार आलू की तरकारी और पूरी का नाश्ता कराया। रोम-रोम उनके प्रति कृतज्ञ हो उठा। चलने लगा तो बोले, 'एक पेटी है, क्रोकरी की, उसे अगर तकलीफ़ न हो तो अपने सामान के साथ रखवा लीजिए, इलाहाबाद में फ़लाँ सज्जन को आप पहुँचा दीजिएगा, या उनको कहला दीजिएगा, वे आकर आपके यहाँ से ले जायँगे।' पूरी-तरकारी का स्वाद अभी जीभ पर से न गया था, तकलीफ़ कैसे होती ! पेटी रखवानी ही थी साथ। स्वागत का रहस्य खुल गया। अदन में विदेशी क्रोकरी सस्ती मिलती है, फ़्री पोर्ट है, यानी चुंगीफुंगी वहाँ नहीं लगती। कांसुल साहब अपने किसी सम्बन्धी को निहाल करना चाहते थे। यात्री-सूची से उनको मेरा पता लग गया होगा। और भारत सरकार की आड़ से उन्होंने अपना उल्लू साध लिया। उस पेटी को लेकर बम्बई में मुझे कितनी ज़हमत उठानी पड़ी !

लौटते समय अदन के बाज़ार से गुज़रा तो लगा जैसे हिन्दुस्तान के ही किसी बाज़ार से गुज़र रहा हूँ। कितने हिन्दुस्तानियों ने वहाँ अपनी दुकानें बैठा ली हैं; जहाँ सस्ते लाभ की गुंजाइश हो, वहाँ की ओर हिन्दुस्तानी व्यापारी बड़ी जल्दी लपकता है। दुनिया के किसी फ़्री पोर्ट की मैं कल्पना नहीं कर सकता, जहाँ हिन्दुस्तानी व्यापारी न पहुँच गए हों। फिर ब्रिटिश भारत की प्रजा होने के नाते जहाँ-जहाँ ब्रिटेन की हुकूमत हो, वहाँ जाने-बसने का उन्हें क़ानूनी अधिकार था। सोचता हूँ, ब्रिटिश सत्ता की अधीनता का सबसे अधिक लाभ हिन्दुस्तान के बनियों ने उठाया था। इसीसे तो शायद एक बनिए ने उस पाप का प्रायश्चित भी कर दिया।

जून समाप्त होने को था और अरब सागर में मानसूनी हवाएँ ज़ोरों से चल रही थीं। जहाज़ खूब हचकोले खाता, और हमें समुद्री मतली का भी शिकार होना पड़ा। सारा जहाज़ ही समुद्री मतली से पीड़ित था और मैंने ऐसा सुना कि कई वक़्त खाने के हाल में कोई गया ही नहीं और बम्बई थी कि जैसे-जैसे नज़दीक आती जाती थी, वैसे-वैसे वह और दूर लगती थी।

आखिरकार दो जुलाई की शाम को हमें सूचित किया गया कि तीन को सवेरे हमारा जहाज़ बम्बई पहुँचेगा।

रात के लिए जहाज़ पर फ़ैंसी-ड्रेस-शो आयोजित किया गया था। मुझे नहीं याद है कि बाबा ने या मैंने उसमें कोई खास भाग लिया था। अगर हम अपने प्रियजनों के पास पहुँच रहे थे तो हमारी समस्याएँ भी हमें घूरती नज़दीक आ रही थीं। हमारे साबर-मंत्र का प्रभाव अपनी अवधि समाप्त कर घटने लगा था। फिर भी अपनी ज़मीन पर पाँव रखने की आतुरता तो हमारे मन में थी ही।

रात देर तक चलनेवाले खेल-तमाशे के बाद हम अपनी-अपनी कुर्सियाँ डेक पर ही डालकर लेट गए, प्रभात की पहली किरणों के साथ हम अपने देश की धरती के दर्शन करेंगे।

सुबह छह बजे से ही कुछ हिन्दुस्तानियों ने दूरबीन की सहायता से और हमने उसके अभाव में आँखों पर जोर डालकर ही भारत के समुद्र-तट की धुंधली-सी रेख देखनी शुरू कर दी। हमें लग रहा था, जैसे वह धरती के नयनों की कोर है जिससे वह हमारी सतत प्रतीक्षा कर रही है। अपने देश की धरती नहीं, धरती माता की, माटी की, अपनी माटी की संतानों की प्रतीक्षा, जो कई दिनों से पानी ही पानी की सतह पर उतरा रही थीं।

जहाज़ १६ जून को लंदन से रवाना हुआ था। इन १८ दिनों में कभी भी उसकी चाल इतनी धीमी प्रतीत नहीं हुई—स्वेज़ कनाल में भी नहीं··· जितनी आज के तीन घंटों में। नहा-धोकर डेक पर आया हूँ—किनारा दूर है। सामानादि ठीक-ठाक करके आया हूँ—किनारा दूर है। नाश्ता-वाश्ता करके आया हूँ—किनारा दूर है। यात्रा के साथियों से विदा लेकर डेक पर आया हूँ—और किनारा अब भी दूर है। और सहसा अब किनारा

निकट आने लगा है तो जल्दी-जल्दी पास, और पास आता जाता है। दिन चढ़ने लगा है, हरे-हरे पेड़ों के कहीं आगे, कहीं पीछे, कहीं उनके बीच, कहीं लाल ईंटों के, कहीं सफ़ेद चूने-पुते मकान, कहीं ऊँचे, कहीं नीचे दिखाई दे रहे हैं। और अब तो आदमी, जानवर, गाड़ियाँ, छोटी-छोटी, पर साफ़ दिखती हैं। समुद्री चिड़ियाँ जैसे जहाज़ का स्वागत करने को उसके चारों ओर मँडलाने लगी हैं और उसके साथ-साथ उड़ती उसे किनारे पर ले जा रही हैं। जहाज़ तट पर लग गया है। कितने लोग अपने मित्रों-संबंधियों का स्वागत करने आए हैं, हाथों में बंबइया फूल-पत्तियों की मोटी-भारी मालाएँ लिए, चमकीले तागों से चमकती। बंबई उतरनेवाले यात्री डेक पर आ गए हैं। डेक पर, तट पर खड़े लोग आँखें ही आँखें हो रहे हैं। दोनों ओर प्रत्याशित व्यक्तियों की तलाश में आँखें एक से दूसरे चेहरे पर फिसलती तट और डेक की लंबाइयाँ नाप-नाप आती हैं।

तेजी ने मुझे केम्ब्रिज में ही सूचित कर दिया था कि वे बंबई नहीं आ सकेंगी, बंबई पहुँचने पर जो पहली गाड़ी मिले, उससे मैं इलाहाबाद के लिए रवाना हो जाऊँ, उन्हें तार दे दूँ, वे स्टेशन पर मेरा स्वागत करेंगी। फिर भी, इस पर मुझे पूरा विश्वास नहीं हुआ था। मुझे आश्चर्याल्हादित करने को तो न उन्होंने ऐसा लिख दिया हो कि जब मैं उनकी प्रत्याशा न कर रहा हूँ, वे सहसा प्रकट हो जायें।

मेरी आँखें तट के एक छोर से दूसरे छोर तक उन्हें खोज-खोजकर थक गईं। वे नहीं आई थीं। यह कल्पना मेरे लिए दुखदायी थी कि शायद पैसों के अभाव ने उन्हें आने से रोका होगा। अपनी आर्थिक विवशता में इस समय वे कितनी उदास होंगी! सोच तो रही होंगी इस समय कि मेरा जहाज़ बंबई आ गया होगा और मैं···

मुझसे कुछ दूर पर बावा खड़ा था। उसे भी इसकी कोई प्रत्याशा न थी कि उसका स्वागत करने को कोई बंबई आएगा। वह भी किन्हीं खयालों में डूबा, उदास, डेक पर खड़ा था, रेलिंग पर झुका, शून्य में घूरता, जैसे यहीं से पंजाब के किसी क़स्बे में बसे अपने परिवार के लोगों को देखने की कोशिश कर रहा हो।

मैंने उसे गुदगुदाने की सोची। उसके पास जाकर बोला, 'चलो, मैं

तुम्हारा स्वागत करता हूँ।' और उसके गले में माला पहनाने का अभिनय किया। फिर मैंने कहा, 'अब तुम इसी तरह मेरा स्वागत करो।' हम दोनों ही एक-दूसरे से गले मिलकर खूब हँसे।

इतने में देखता हूँ कि जहाज़ से तट पर उतरने के लिए पुल जोड़ दिया गया है और मंगलाबाई और शंकराबाई खेतान एक बड़ी-सी माला लिए ऊपर आ रही हैं। उन्होंने मुझे माला पहनाई, 'डा० बच्चन का स्वागत।' फिर दोनों बहनें मेरे अगल-बगल खड़ी हो गईं, एक फ़ोटोग्राफ़र ने हमारी तस्वीर भी ले ली। मैंने दोनों बहनों से बाबा का परिचय कराया।

तटकर अधिकारियों ने सामान के बारे में मुझसे जितने सवाल पूछे, उतने तो मेरे वाइवा के परीक्षकों ने भी न पूछे होंगे। फिर भी मुझसे बिना कुछ पुजाए उन्होंने मेरा पिंड न छोड़ा।

हमें मंगला जी अपने घर लिवा ले गईं—पीरामल हाउस, वर्ली में। बाबा ने ३ की शाम को ही अपने घर के लिए प्रस्थान करने का आग्रह किया। मुझे ३ को इलाहाबाद जाने देने को मंगला जी तैयार न हुईं। उस रात उन्होंने मेरे स्वागत में अपने यहाँ एक गोष्ठी का आयोजन कर रक्खा था। बोलीं, 'आपके बंबई के परिचित, प्रशंसक, मित्र आपसे मिलना चाहेंगे और हम आपकी नई कविताएँ आपके मुख से सुनना चाहते हैं जो पिछले दो वर्षों से 'धर्मयुग' आदि पत्रों में निकलती रही हैं।' मैं उनकी ज़िद न टाल सका।

घर के लिए मेरी उत्सुकता देखकर मंगला जी ने इलाहाबाद के लिए एक ट्रंक काल बुक कर दी और जल्दी ही लाइन मिल गई। तेजी और बच्चे आश्वस्त हुए कि मैं देश पहुँच गया हूँ, मैं आश्वस्त हुआ कि वे लोग कुशल-मंगल से हैं। कुछ और बात के लिए दोनों ओर मन बहुत भारी था। मैं सिर्फ़ इतनी सूचना दे सका कि ४ को कलकत्ता मेल से चलकर ५ की शाम को इलाहाबाद पहुँच रहा हूँ।

शाम को हम लोग बाबा को स्टेशन पर छोड़ने गए। पिछले दो वर्षों में केम्ब्रिज में प्रायः रोज़ मिलने, महीनों साथ रहने से हम एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए थे। एक-दूसरे से कोई दुराव-छिपाव नहीं, एक-दूसरे को समझने के लिए दिली आपसदारी, एक-दूसरे की व्यस्तता या फ़ुरसत में, बग़ैर हस्तक्षेप किए हुए, जहाँ भी आवश्यक हो, परस्पर सहयोग। घर से दूर, परदेस में,

एक दूसरे को बड़ा सहारा थे। बावा का मुझपर अतिरिक्त एहसान था। किफ़ायत से रहने के व्यावहारिक तरीक़ों में मुझे दीक्षित करके, उसने मेरे लिए यह सम्भव किया था कि केम्ब्रिज में दो वर्ष बग़ैर बहुत कठिनाई के रहकर मैं अपना कार्य पूरा कर सकूं। अन्त में, अपनी किफ़ायत से बचाए हुए सौ पौंड से मेरी मदद कर उसने मुझे जीवन भर के लिए ऋणी बना दिया था। मैं उसका सौ पौंड यथासमय चुकाकर भी ऐसा अनुभव करता हूं कि उसे सौ बार भी चुकाकर मैं उससे ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।

हमको अब अलग होना था। और एक-दूसरे से अलग-एकाकी अपनी-अपनी मुसीबतों, मुश्किलों से निबटना था। गाड़ी छूटने में अभी देर थी, पर हम दोनों ही चुप प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे, जैसे इस समय जो बहुत कुछ कहने को भीतर-भीतर उमड़ रहा है, उसकी भाषा चुप्पी है। हम एक-दूसरे की भावनाएँ आँखों-आँखों में समझ रहे थे। गाड़ी ने सीटी दी तो हमने एक-दूसरे के हाथों को ज़ोरों से दबाया, जैसे हमने आपस में कोई वादा किया हो। हाँ, हमने एक वादा किया था और वह वादा हम दोनों ही आज तक निभाते चले आ रहे हैं। वादा क्या था, इसे आपकी कल्पना पर छोड़ता हूँ। यह वादा मेरी बहुत बड़ी ताक़त है, और अगर आप बावा से कभी पूछें तो वह भी मेरा ख्याल है, इन्हीं शब्दों को दुहराएगा। वह आजकल होशियारपुर में व्यवस्थित है और वहाँ के गवर्नमेंट कालेज में गणित (सांख्यिकी) का प्राध्यापक है।

आज का दिन मेरे मन पर बड़ा भारी था। सुबह तेजी की असफल प्रतीक्षा, दिन को फ़ोन पर उनकी भाव-भीगी आवाज़, शाम को बावा से विदा। मेरा जी चाहता था, किसीसे न मिलूं, न कुछ खाऊँ, न पिऊँ, दरवाज़ा भीतर से बन्द कर,लूँ और बिस्तर पर जा गिरूँ। उधर मंगला जी के मेहमान आ रहे थे, उन्होंने तीस-चालीस मित्रों-सहेलियों को खाने पर बुला लिया था, ड्राइंग रूम में बैठे लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी बातचीत, हँसी-ठट्ठे की आवाज़ फ़्लैट-भर में गूंज रही थी···तेजी मेरे लौटने के आखिरी चौबीस घंटों के मिनट-मिनट गिन रही होंगी···बावा पंजाब मेल के डिब्बे में बैठा 'अपनी विधवा माँ और अनाथ भाई-बहन को किस हालत में पाऊँगा' की चिन्ता में डूबा होगा···

मैंने अपने से कहा, इस समय अपने में सिमटे रहना ठीक न होगा, बाहर निकलो ! मैंने सिर के एक झटके से अपना मूड बदला, स्नान किया, जैसे मुझ पर से दिन भर का सारा गर्द-गुबार धुल रहा हो, तेज नारायण—मंगला जी के पतिदेव—से एक ढीला पाजामा और तनज़ेबी कुर्ता उधार माँगा—मँगनी के कपड़ों में केम्ब्रिज की डाक्टरेट ले आया, अब किसी अवसर पर किसीके मँगनी के कपड़े पहनने में क्या शर्म ! मंगला जी से बोला, 'घर में कोई इत्र हो तो मुझे लगा दो।' और खुश-खुश ड्राइंग रूम में आ गया। खिड़की से देखा, दूर समुद्र ठाठें मार रहा था। समुद्र कम गम्भीर है ? पर ऊपर-ऊपर कैसा अट्टहास कर रहा है ! आज एक छोटे से समुद्र का अभिनय तुम भी करो।

कमरे में कई टेप-रेकार्डर लगे थे। मंगला जी ने गोष्ठी रचाई थी, मेरी नई कविताएँ सुनवाने के लिए, और लोग हैं कि सुनना चाहते हैं 'मधुशाला', 'इस पार-उस पार'। कहता हूँ, 'भाई, अब तो उस पार से इस पार आ गया।' लोगों का मन रखना पड़ता है। मूड को हल्का रखने के लिए एक फ़िलबदी शुरू कर देता हूँ, 'अच्छा, मेरा नया 'आत्म-परिचय' सुनिए' :

मैं हूँ बच्चन जी मस्ताना,
लिखता हूँ मस्ती का गाना,
मैंने खोली है मधुशाला,
जिसमें रहती है मधुबाला,
जिसके हाथों में घट-प्याला,
मुझको निशा-निमन्त्रण आया,
मैंने गीत अकेले गाया,
('एकांत संगीत' की ओर संकेत)
सुनकर सबका दिल घबराया,
('आकुल अंतर' की ओर संकेत)
मुझपर क्या रंगीनी छाई,
मैंने सतरंगिनी सजाई,

बीच की पंक्तियाँ भूल रहा हूँ, जिनमें मेरी और रचनाओं की ओर इशारा

था। आख़ीर की कुछ पंक्तियाँ शायद यों थीं—

मैंने प्रणय-पत्रिका भेजी,
पढ़कर बहुत ख़ुश हुई तेजी,
डिग्री लाया हूँ केम्ब्रिजी
मुझको कहो डाक्टर ए जी।
लेकिन नब्ज़ नहीं दिखलाना,
मैं हूँ बच्चन जी मस्ताना...

कमरे में हँसी के फ़ौआरे छूट गए और जैसे मैं उसी में नहा उठा।

मैंने पढ़ना बंद किया तो लोगों ने टेप चला दिए। भवानी भाई पास बैठे थे—अनुप्रास की महिमा देखिए कि 'भवानी' के साथ 'भाई' कैसा चस्पा हुआ है—उन्होंने साहित्यिक भाषा में मेरे कान में कहा, 'भैया, यह आत्म-विदूषकत्व आपको शोभा नहीं देता, हम आपकी गणना महा-कवियों में करते हैं, कुछ गंभीर सुनाएँ...' मुझे नहीं मालूम था कि भवनियाँ इतना बड़ा मुहर्रमी है। मैंने कहा, 'भवानी, तुम मेरा मूड नहीं समझ रहे हो, आज मैं अपना मज़ाक नहीं बनवाऊँगा तो खिड़की से कूद जाऊँगा।'

ख़ैर, कुछ और कविताओं के बाद 'मधुशाला' हुई। नई कविताओं तक लोगों ने आने ही नहीं दिया। मेरे काव्य-पाठ का कोई यज्ञ बिना 'मधुशाला' के शांति-पाठ के पूर्ण नहीं समझा जाता। लोग मेरा श्राद्ध कराके ही तृप्त हुए—'प्राणप्रिये, यदि श्राद्ध करो तुम मेरा तो ऐसे करना...'

मेहमान विदा हुए तो हास-उल्लास की वह हल्की चादर भी खींचकर ले गए जो मैंने ऊपर से ओढ़ रखी थी। अब मैं नंगा था, अकेला, अपनी प्राकृतिक मनःस्थिति के लिए खुला। ऐसा लगता था, जैसे तीन घंटे जादू की दरी पर उड़ने के बाद सहसा ज़मीन पर गिर पड़ा हूँ—शरीर भारी-भारी, मन दबा-दबा, साँस घुटी-घुटी। समुद्र बहुत अशांत था, वर्षा होने लगी थी और हवा का झोंका जब कमरे में आता था, तब सौ-सौ बूँदों से बदन को नम कर देता था। आधी रात से ऊपर हो चुकी थी। मुझे पता नहीं, किस समय उस अध-बेहोशी की अवस्था में मैं अगाध निद्रा में ढुलक गया।

तेज नारायण ने ४ को कलकत्ता मेल में, फ़र्स्ट क्लास में एक नीचे की

बर्थ मेरे लिए रिज़र्व करा दी। कूपे था, ऊपर की बर्थ पर कोई आया नहीं। डिब्बे में मेरा सामान और मैं अकेला, और पिछले की याद और अगले की चिंता करने को कितना कुछ। पिछला तो जहाज़ की फ़ुरसत-ऊबी घड़ियों में कितनी बार किसी फ़िल्म की रील की तरह आँखों के सामने से गुज़र चुका था—१२ अप्रैल १९५२ को बंबई के सांताक्रुज़ हवाई अड्डे से विमान द्वारा लंदन के लिए प्रस्थान करने से लेकर १६ जून १९५४ को लंदन के टिलबरी यार्ड से जहाज़ द्वारा बंबई के लिए रवाना होने तक—बीच में नवीन अनुभवों-संवेदनाओं, परिस्थितियों-प्रतिसमाधानों, परिचयों-प्रीति संबंधों, सुविधाओं, असुविधाओं, आशाओं-आशंकाओं, आकर्षणों-विकर्षणों, दुर्बलताओं-दृढ़ताओं, अवसादों-उल्लासों, और कभी-कभी दोनों से परे सुनसानों-दिवास्वप्नों, निशा-स्वगतों, और सब के ऊपर दिन-दिन स्वाध्याय, रात-रात सृजन की समाधिस्थ घड़ियों की कितनी कड़ियाँ!—जो सब की सब केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के सेनेट हाल में पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने के अवसर से जुड़ जातीं—यह अवसर न आता तो सब न जाने कहाँ टूट-बिखर जातीं। मेरा जीवन इतना विविधतापूर्ण, इतना कार्य-व्यस्त, इतना भाव-विचार-ग्रस्त शायद ही कभी रहा हो।

अब अगले की चिंता बराबर सिर उठाती है—घर-परिवार को किस दशा में पाऊँगा? विश्वविद्यालय में अपनी स्थिति अब क्या रहेगी? देश में, विदेश में, मेरे सृजन का क्या मूल्य लगाया गया होगा? हिंदी कवियों में शायद मैं पहला व्यक्ति हूँ जिसने योरोप की धरती पर पाँव रखा है, इंग्लैंड-आयरलैंड के संस्कृति-साहित्य से इतना घनिष्ट संबंध स्थापित किया है, विदेश की धरती से इतनी रचनाएँ की हैं। मेरा नया ज्ञानानुभव क्या मेरी अभिव्यक्तियों को कोई नया मोड़ देगा?…मगर सबसे पहले और सबसे अधिक तो मुझे घर की चिंताएँ खाएँगी। स्थिति शायद मेरी आशंका से अधिक बिगड़ चुकी है।

कल इस समय इलाहाबाद पहुँच जाऊँगा। सारी वस्तुस्थिति का सामना होने में २४ घंटे ही तो बाकी हैं—वस्तुस्थितियाँ अपनेआप ही कुछ सोचने-करने को विवश करेंगी और मेरी सारी लब्धियाँ-उपलब्धियाँ मुझे कसौटी पर कसेंगी। बस, ये अंतिम २४ घंटे हैं जिनमें मैं इस कशमकश से अपने को

मुक्त रख सकता हूँ। ये मेरे दो वर्ष तीन मास एक प्रकार के पलायन ही तो थे—ठीक ५ अप्रैल को इलाहाबाद से चला था, ठीक ५ जुलाई को इलाहाबाद लौट रहा हूँ। मैं अपने पलायन के २४ घंटे और भोग लूं।

रात कटी, प्रात आया। गाड़ी मध्यप्रदेश के किसी भाग से जा रही थी, और दिन भर स्टेशन पर स्टेशन पार करती अब सूर्यास्त के पश्चात बरसाती संध्या की लाली में जमुना पुल पर धड़-धड़ करती इलाहाबाद नगर में प्रवेश कर रही थी।

दाहिनी ओर क़िला, क़िले के नीचे संगम, बाईं ओर गंगा से मिलने की आतुरता में जमुना का सवेग प्रवाह, सामने क्रिश्चियन कालेज, इसके पीछे कटघर, वहीं हमारा पुराना घर, और अब सड़क के ऊपर बना पत्थर का पुल—सडक, दाहिनी ओर बाई के बाग़ को जाती हुई, बाईं ओर चौक को—और लो दाहिनी ओर म्योर कालेज का टावर, नज़दीक ही सेनेट हाल का टावर—घड़ी वाला—और अब सूरज कुंड, दाहिने बिजली घर, पीछे कायस्थ पाठशाला, बाएँ चौक को जाती सड़क, घंटाघर की एक झलक··· जगह-जगह से जुड़ी स्मृतियाँ जागने भी नहीं पातीं कि गाड़ी आगे खींच ले जाती है और लो, अब प्लेटफ़ार्म आ गया है—गाड़ी रुक गई है।

खिड़की से गर्दन निकालकर देखता हूँ। यह जो लड़का उचक-उचक कर डिब्बों को देखने का प्रयत्न कर रहा है, यह तो अमित है, अजित को कोई गोद में उठाए है, दोनों ने मुझे पहचान लिया है, हाथ हिलाता हूँ, और ये हैं तेजी, इनके बदन पर फूलों के गहने हैं। (क्या इसके पीछे कोई संकेत है?) साथ और दो-चार परिचित चेहरें, जिनमें एक मेरे वृद्ध मामा जी का है, एक मेरे भाँजे राम का, एक-दो मेरे कटघर के पुराने मित्रों का, दो-एक मेरे पुराने विद्यार्थियों का।

अमित-अजित देखने में स्वस्थ लगते हैं, अजित को मैं गोद में उठा लेता हूँ, अमित ने मेरा सामान उतरवाना शुरू कर दिया है, गिनना, सँभालना। बारह का होने को है, समझता है—अब वह बड़ा हो गया है और जिम्मेदारी के काम में उसे बड़ों का हाथ बँटाना चाहिए। तेजी के स्वास्थ्य से निराश होता हूँ, क्या कर डाला है उन्होंने अपने शरीर को, गहनों के फूलों का ताज़ापन भी उसकी कुम्हलाहट को नहीं छिपा सकता, शायद और ज़ाहिर

कर रहा है। पर स्टेशन पर ज्यादा कुछ पूछने का मौक़ा नहीं है। राजन को भी यहाँ देखने की प्रत्याशा कर रहा था, मालूम हुआ, उनके पिता बीमार हैं, वे कुछ दिन हुए बाँदा चले गए हैं। स्टेशन पर जो लोग मिलने आए थे, उनसे स्टेशन पर ही विदा ले ली।

कुछ सामान ताँगे, कुछ मोटर में डाल हम लोग घर आए, १७, क्लाइव रोड, ललिताश्रम—बहुत बड़ा मकान, चार हिस्सों में किराए पर उठा। फाटक में घुसते ही मैंने मज़ाक़ किया—'जान बची लाखों पाए, घर के बुद्धू घर को आए।'

घर प्राय: वैसा ही, जैसा छोड़कर गया था, तेजी ने, जब हम इस घर में आए थे, मेरे अध्ययन-कक्ष के सामने एक लता-मंडप बनवाया था, जिस पर दो तरह की बेलें चढ़वाई थीं—दोनों के फूल नीले, गिलास-नुमा, पर एक दिन को फूलती, रात में उसके फूल बंद हो जाते, दूसरी रात को फूलती, दिन में उसके फूल बंद हो जाते। तेजी ने कभी सोचा भी न होगा कि ईट्स इन एक-दूसरे से उलटी जाती लताओं को बहुत पसंद करते। रात वाली बेल के फूल इस समय गहगहाकर फूले हुए थे।

सामने का लान वैसा ही हरा था। उसके पार बेलों की ऊँची बाड़ के पास, सीमेंट का गोल तालाब, पानी भरा, पर वे नीले, सफ़ेद, लाल कमल उसमें नहीं, जो मैंने कभी लगाए थे,

> कौन श्यामल, श्वेत औ रतनार नीरज—
> के निकुंजों ने तुझे भरमा लिया है?

बगल के हिस्से में गुलाब के पौधे कुछ और बढ़ गए थे। पीछे नींबू के पेड़ों की क़तार वैसी ही खड़ी थी, लान के उधर केलों की गाछ भी। रसोई के सामने कुछ साग-सब्ज़ी लगाई जाती थी, अभी नहीं लगी।

तेजी अपनी नई महराजिन का परिचय देती हैं, 'खाना बहुत अच्छा बनाती है।'

महराजिन टुप से बोल देती है, 'जब सरकार, सामानौ अच्छा होय।' (मतलब ?)

सबने साथ बैठकर खाना खाया। शुक्र है, यह दिन भी आया।

अमित-अजित का कौतूहल पल-पल बढ़ रहा था जानने को कि इंग्लैंड से क्या चीज़ उनके लिए आई है।

वे अपना-अपना उपहार सिरहाने रखकर सो गए। रात ज्यादा हो चुकी थी।

सब कुछ अपने चारों ओर प्रायः वैसा ही पाकर भी, जैसा छोड़कर मैं गया था, मुझे लग रहा था कि जैसे इस सब के पीछे कुछ ख़ाली-ख़ाली, खोखला-खोखला है, जैसे दीमक कभी-कभी किताबों में इस भाँति लगती है कि बाहर से तो वे जैसी की तैसी दिखती हैं, पर भीतर से उन्हें वे सफ़ाचट कर चुकी होती हैं।

तेजी मेरे साथ एकान्त पाने को बेताब हो रही थीं। और जब घर की सब बत्तियाँ बुझा दी गईं, तब वे उस अँधेरी बरसाती रात के सन्नाटे में एक छिन्न लता की भाँति निराधार-निःसहाय मेरे ऊपर गिर पड़ीं। उनकी साँसें ऐसे चल रही थीं जैसे कोई थककर टूटा, त्यक्ताश तैराक अपनी समाप्तप्राय शक्ति के अंतिम प्रयत्नों से किनारे को किसी तरह पकड़ हाँफ रहा हो।

कितनी देर बाद वह कुछ कहने की स्थिति में हुईं, मुझे कुछ पता नहीं, और जब बातें शुरू हुईं तो रात ख़त्म हो गई, बातें ख़त्म नहीं हुईं। मैं तो समझता था कि दिनानुदिन मिलनेवाले उनके पत्रों से मैं यहाँ के तियाँ-तियाँ समाचार से भिज्ञ हूँ, पर जो मुझे बताया गया था, जो मैंने जाना या अनुमाना था, वह तो बहुत सतही था, और अब जो यहाँ के हालात की असली शक्ल मेरे सामने नुमायाँ हो रही थी, उसे देखकर आश्चर्य मुझे इस बात पर था कि मेरे बाल सहसा सफ़ेद क्यों नहीं हो गए और मेरे पाँवों के नीचे से धरती खिसक क्यों नहीं गई!

और अगर यह पाँवों के नीचे से धरती खिसकाने वाली बात नहीं थी तो और क्या हो सकती थी,

कि तेजी का आख़िरी ज़ेवर बेचा जा चुका था,
कि बैंक से आख़िरी पैसा निकाला जा चुका था,
कि घर का आख़िरी दाना पकाया जा चुका था!

और दूसरे दिन का राशन उस पाँच पौंड में से आया था जिनको मैंने जहाज़ पर ७५/—रुपयों में बदलवा लिया था।

युनिवर्सिटी से जो मैं २७ महीने अध्ययन-अवकाश पर था, उनमें से केवल १० महीने की छुट्टी मुझे सवेतन मिली थी।

मेरे दो प्रकाशकों में से एक ने दो वर्षों में रायल्टी के हिसाब में कानी कौड़ी न दी थी, और दूसरे ने 'सोपान' की अग्रिम रायल्टी के रूप में ३०००/=क्या दिए थे, मानो उन्होंने मेरी सारी किताबों का कापीराइट ही खरीद लिया था, यानी उन्होंने भी वार्षिक रायल्टी का हिसाब देना बन्द कर दिया था।

रेडियो, कवि-सम्मेलनों से होनेवाली आमदनी की मेरे प्रवास में होने के कारण कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

ले-दे के आते थे कुछ पैसे तो पारिश्रमिक के रूप में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं से, जिनमें छपने को अपनी कविताएँ मैं विदेश से भी भेजता रहता था—ऊँट के मुंह में जीरा!

भारतीय नारी आभूषणों को बड़े चाव से बनवाती, पहनती और प्राण-पण से उनकी रक्षा करती है, पर जब उसके या उसके परिवार के मान, मर्यादा का सवाल उठता है तो वह उतने ही विरक्त भाव से उन्हें अपने बदन से उतारकर अलग कर देती है। हमारे परदादा नायब साहब के बाद, दुर्भाग्यवश, हमारे परिवार की कोई पीढ़ी ऐसी न गई जिसके मान, मर्यादा को किसी न किसी आर्थिक संकट ने चुनौती न दी हो। और इन चुनौतियों का सामना कर मेरी दादी, मेरी माँ, मेरी पूर्व पत्नी श्यामा ने खान्दान की इज्ज़त बचाई थी। तेजी ने वही परम्परा निभाई।

जब मेरे एक मित्र ने मेरे बारे में झूठी अफ़वाहें सरकार के कानों में भरकर उससे मिलनेवाली सहायता से मुझे वंचित करा दिया, तब तेजी ने सरकार को भी चुनौती दी: 'मेरा पति, सिर्फ़ तेरे कुछ चाँदी के टुकड़ों के भरोसे केम्ब्रिज से डाक्टरेट करने नहीं गया। वह तेरी सहायता के बग़ैर भी अपना लक्ष्य पूरा करके आएगा।'

और इसी ज़िद पर, जब एक दूसरे 'सज्जन' ने उनकी इज्ज़त-अस्मत को चुनौती देकर ऐसी स्थिति खड़ी कर दी कि मैं अपने काम को अधूरा छोड़कर देश लौट आऊँ, तब केवल अपने बल-बूते उनका सामना करने का निर्णय लेकर उन्होंने मुझे शपथ दिलाई कि मैं अपना काम पूरा किए बग़ैर

देश न लौटूं । मैं आ ही जाता तो शायद वे कई वित्तीय साँकरों से बच जातीं । पर वे उन गुमनाम नपुंसकों को, जो उनकी बेबुनियाद बदनामी से शहर को ध्वनित-प्रध्वनित कर रहे थे, और हाथ की मैल जैसी चीज़ रुपये-पैसों को—मेरे मार्ग का रोड़ा बनने का श्रेय भी न देना चाहती थीं ।

मेरी योग्यता-क्षमता, मेरे श्रम-संघर्ष, और अंत में मेरी सफलता में उनका कितना दृढ़ विश्वास होगा कि उसके लिए उन्होंने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया था,

> औ' अडिग विश्वास का है श्वास चलता
> पूछता-सा, डोलता तिनका नहीं है···
> प्राण की 'बाज़ी लगाकर खेलता है
> जो कभी क्या हारता वह भी जुआ है ?

और —

> प्राण लगे हों बाज़ी पर तो पाँसे कब दो फेंके जाते ?

और तेजी को अपने बल-बूते का भी कितना विश्वास था और उसकी कैसी कठिन परीक्षा हुई !

बेटों की सौगंध दिलाकर मुझे उन्होंने यह घटना बताई कि मैं संबद्ध व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का क्रोध-विरोध कभी न प्रकट करूँगा, सुनूंगा और भुला दूंगा । बात खत्म हो चुकी है सदा को ।

घटना मैं भूल नहीं सका ।—

पिछली दिसंबर में राजन के पिता सख्त बीमार हो गए, उन्हें राजन को कुछ दिनों के लिए अपने पास बुलाना पड़ा । 'राक्षस' को उसका पता लग गया । वह इस घर की हर बात का अता-पता रखता था ।

एक शाम वह अपनी मोटर में अकेला अचानक आ गया और तेजी से साथ चलने को कहा, और जब उनकी ओर से इन्कार हुआ तो उसने ज़बरदस्ती उन्हें मोटर में बिठाल लिया । तेजी ने भी बहुत विरोध न किया—आज यह भी देख लूं कि यह किस बात पर उतारू है ? घर पर वे कोई नाटकीय स्थिति न घटने देना चाहती थीं ।

वह साठ-सत्तर मील की रफ़्तार से मोटर चलाता उन्हें द्रौपदी घाट के निचाट में ले गया :

तुमने मेरे पुरुषत्व का तिरस्कार किया,
मेरे घर में मुझे बदनाम किया,
आज तुम्हें आखिरी फ़ैसला करना है।

उसने अपनी पिस्तौल निकाल ली :

आज के तुम्हारे इन्कार के अर्थ होंगे कि मैं तुम्हें भी खत्म कर दूंगा और खुद को भी। तुम्हें क्या कहना है ?

सीता तैं मम कृत अपमाना
कटिहँउ तव सिर कठिन कृपाना
नाहिं त सपदि मानु मम बानी
सुमुखि होति न त जीवन हानी।

सब राक्षस एक ही प्रकार की भाषा बोलते हैं।

तेजी एक कगार के सहारे खड़ी हो गईं।

मुझे जो कहना था, एक बार कह चुकी।

मुझे न उसे दुहराना है, न बदलना है।

तुम चलाओ गोली। अगर मेरे बच्चों और बच्चन के भाग्य में यही देखना बदा है···मेरा भाग्य तो अब समाप्त होता है।

और राक्षस ने गोली चला दी।

तेजी निश्चल खड़ी रहीं।

निशाना उसने अलग लिया। मारना वह चाहता भी नहीं था। प्राणों की धमकी से जो संभव हो सकता था, उसके लिए भी प्रयत्न एक बार कर लेना चाहता था।

उसने अपनी पिस्तौल हाथ से गिरा दी।

और अपना सिर लटका लिया।

वह पूरी तरह परास्त हो चुका था।

तेजी जाड़े की कुहरा-उतारती संध्या में सधे और दृढ़ क़दमों से चलती, लाल कुरती आईं और वहाँ एक रिक्शे को खाली पाकर उसमें बैठ घर

वापस आ गईं, इतनी अविचल-शांत जैसे सिविल लाइन से शापिंग करके लौटी हों। प्राणों का सौदा तो करके आई ही थीं।

तेजी कह रही थीं—-

देखो, अब मुझे कभी अकेली मत छोड़ना।

मैंने देख लिया है कि इस समाज में अकेली नारी कितनी असमर्थ, कितनी असहाय, कितनी दयनीय है।

तेजी ने यह घटना मुझे केम्ब्रिज में लिख भेजी होती तो ?

तेजी ने मुझे बेटों की सौगंध न दिलाई होती तो ?

मैंने केम्ब्रिज की डाक्टरेट लेने के लिए कितना बड़ा खतरा उठाया था ! कितनी भारी क़ीमत अदा की थी !

'वे दिए क़ीमत यहाँ वरदान कोई
मुफ़्त में पाता कहाँ है ?'

पर वरदान डाक्टरेट नहीं थी।

वह तो बड़ी नगण्य वस्तु थी।

वरदान था, दोनों को मिला, अपनी-अपनी कसौटी पर खरा उतरा आत्मविश्वास, जो मनुष्य की सबसे बड़ी निधि है, और एक-दूसरे के प्रति विश्वास, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य को सौंपी सबसे बड़ी धरोहर है।

सुबह होने को थी पर न तेजी की आँखों में नींद थी, न मेरी आँखों में— 'न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ मगर यामिनी बीच में ढल रही है'—उस रात तो एक उम्र ही जैसे ढल गई थी। मैं तो दिन में ट्रेन में सो लिया था, और तेजी ने रातों को जागने की आदत डाल ली थी। जब से उनको बच्चों को ग़ायब करा देने की धमकी से भरे गुमनाम पत्र आए थे, तब से वे दिन को थोड़ा-बहुत सो लेतीं और रात-रात जागती रहतीं, सिर-हाने एक बिजली का लैंप जलता रहता और वे कोई उपन्यास पढ़ती रात काट देतीं, अपने बच्चों पर पहरा भी देतीं— इलाहाबाद में तो 'छह महीने हम बाहर खुले में या बरामदे में सोते थे—किसी चौकन्नी शेरनी के समान। वे कहीं भी कमज़ोर हों, उनके बच्चों पर कोई आँख उठाए तो वे सिंहनी बन-

कर उस पर टूटेंगी। महीनों दिन-सोने, रात-जागने के विपर्यय की थकान और तनाव उनके शरीर पर भी था, मनोशिराओं पर भी। उनका स्वास्थ्य बस टूटने-टूटने को हो रहा था।

और तेजी को परेशान करने में बाहर के बदमाशों ने जो कोर-कसर छोड़ी थी, वह साथ के किराएदारों ने पूरी कर दी थी, विशेषकर उन्होंने जो हमारे हिस्से के ठीक ऊपर के हिस्से में रहते थे—पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसी बड़े जमींदार के साहबजादे, जो कई सालों से युनिवर्सिटी में लॉ पढ़ रहे थे। किसी साल हाज़िरी पूरी न होने से उन्हें इम्तहान में बैठने की इजाज़त न मिलती, किसी साल वे खुद ही ड्राप कर जाते और किसी साल बेफ़िकरी से फ़ेल हो जाते, और इस प्रकार अपनी पढ़ाई को शहर में रहने का एक बहाना बनाए रहते। वे और उनके गँवर मुच्च नौकर अपनी देहकानी हरकतों से हमें हर समय परेशान रखते थे। फिर भी मेरे युनिवर्सिटी में होने के कारण उनकी अचगरी कहीं एक सीमा मानती। मेरी अनुपस्थिति में उन्होंने तेजी को अपनी वहशियाना आदतों से बहुत हलकान किया। आदमी ऐसी छोटी-छोटी, गो दिमाग़ को उलझन में डालनेवाली, झंझट-बखेड़ा खड़ा करनेवाली, सुरुचि पर आघात करनेवाली और शांतिकामी, क्रमबद्ध जीवन में खलल पहुँचाने-वाली बातों के लिए थाना-कचहरी तो नहीं दौड़ता। पंजाबी में एक कहावत है, घर और कबर अकेली ही भली।

तेजी तो, जिसे कहते हैं, एकदम नर्वस ब्रेकडाउन की हालत में थीं। उन्होंने अपने ऊपर बहुत भार ले लिया था, और इसके लिए अपराधी मैं कम नहीं था। उस भार का दबाव अब अपनी सीमा पार कर चुका था और आवश्यकता इस बात की थी कि तुरंत उनके भार को हल्का कर उन्हें कुछ राहत, आराम, विश्रांति दी जाय। अन्यथा किसी अनिष्ट के लिए मुझे तैयार होना पड़ेगा।

नर्वस ब्रेकडाउन की हालत तो मेरी न थी, पर पिछले दो वर्षों में जो श्रम मैंने किया था और जिन शारीरिक और मानसिक तनावों में होकर निकला था, उनसे मैं कम थका-टूटा नहीं था। और घर लौटकर जो मैंने देखा और पाया था, उससे अगर मैं न टूटा होता तो भी टूट जाना था। और मेरी सबसे बड़ी व्यथा तो यह थी कि अपनी सब प्रकार की थकन-टूटन

में जिसका मुझे सबसे अधिक सहारा था, वह स्वयं टूट रहा था।

ऐसे समय मेरा ध्यान किपलिंग की प्रसिद्ध कविता If की ओर गया और उससे मैंने बड़ा बल संचय किया। पढ़ तो उसे मैंने बहुत पहले रक्खा था, पर शायद उसे समझने का उपयुक्त अवसर अब आया था, उससे प्रेरित होने का और उस पर चलने का भी। अब उसे पढ़ता तो मुझे ऐसा लगता जैसे वह मेरी ही सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर लिखी गई हो। बड़ी कविताएँ अपने को पूरी तरह व्यक्त करने के लिए जीवन के गहन अनुभवों की प्रतीक्षा करती रहती हैं।

उसका एक भावानुवाद देना चाहूँगा, शायद वह मेरी जैसी स्थिति में पड़े किसी और को कभी बल दे—

"अगर तुम अपना दिमाग़ ठीक रख सकते हो, जब कि तुम्हारे चारों ओर सबके बे-ठीक हो रहे हों, और दोषी इसके लिए वे तुम्हें ठहरा रहे हों,

अगर तुम अपने ऊपर विश्वास रख सकते हो, जब कि सब लोग तुम पर संदेह कर रहे हों, पर साथ ही उनके संदेह की अवज्ञा भी तुम न कर रहे हो,

अगर तुम नीके दिनों की प्रतीक्षा कर सकते हो, और प्रतीक्षा करते-करते ऊबते न हो,

या जब सब लोग तुम्हें धोखा दे रहे हों, पर तुम किसी को धोखा न देते हो,

या जब सब लोग तुम्हें घृणा कर रहे हों, पर तुम किसी को घृणा न करते हो, साथ ही न तुम्हें भले होने का अभिमान हो, न बुद्धिमान होने का,

अगर तुम सपने देख सकते हो पर सपने को अपने पर हावी न होने दो, अगर तुम विचार कर सकते हो पर विचारों में डूबे रहने को ही अपना लक्ष्य न बना बैठे हो,

अगर तुम विजय और पराजय दोनों का स्वागत कर सकते हो, और दोनों में से कोई तुम्हारा संतुलन न बिगाड़ सकता हो,

अगर तुम अपने शब्दों को सुनना, मूर्खों द्वारा तोड़े-मरोड़े जाने पर भी, बर्दाश्त कर सकते हो, और उनके कपट-जाल में नहीं फँसते हो,

या उन चीज़ों को ध्वस्त होते देखते हो, जिनको बनाने में तुमने अपना सारा जीवन लगा दिया था, और अपने थके हाथों से उन्हें फिर से बनाने को उद्यत होते हो,

अगर तुम अपनी सारी उपलब्धियों का एक अंबार खड़ा कर उसे एक दाँव पर लगाने का खतरा उठा सकते हो—हार होय कै जीत,

और सब कुछ गँवा देने पर अपनी हानि के विषय में एक शब्द भी मुंह से न निकालते हुए, उसे कण-कण पुनः प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हो,

अगर तुम अपने दिल, अपने दिमाग़ और अपने पुट्ठों को फिर भी कर्म-नियोजित होने को बाध्य कर सकते हो जब कि वे पूरी तरह थक-टूट चुके हों, जब कि तुम्हारे अंदर कुछ भी साबित न बचा हो सिवा तुम्हारे इच्छा-बल के, जो उनसे कह सके, तुम्हें पीछे नहीं हटना है,

अगर तुम भीड़ में घूम-फिर सको मगर अपने गुणों को भीड़ में न खो जाने दो, और सम्राटों के साथ उठो-बैठो मगर जन-साधारण का संपर्क न छोड़ो,

अगर तुम्हें प्रेम करनेवाले मित्र और घृणा करनेवाले शत्रु, दोनों ही तुम्हें चोट न पहुँचा सकते हों,

अगर तुम सब लोगों का लिहाज़ रक्खो, लेकिन एक सीमा के बाहर किसीका भी नहीं,

अगर तुम क्षमाहीन काल के एक-एक पल का हिसाब दे सको,

तो यह सारी पृथ्वी तुम्हारी है और हर एक वस्तु जो इस पर है; साथ ही, वत्स, तुम सच्चे अर्थों में इंसान कहे जाओगे,

जो उससे भी बड़ी उपलब्धि है।"

मैंने अपने चारों ओर की स्थिति का जायज़ा लिया तो मैंने अपना कर्तव्य साफ़ देखा—अपने लिए अगले कई वर्षों तक केवल श्रम-संघर्ष का जीवन। एक युग के श्रम-संघर्ष के परिणाम पर जो ख़ुशी होनी थी, वह केम्ब्रिज में ही हो ली। अब फिर श्रम-संघर्ष का दूसरा युग आरंभ हो रहा था।

हलाहल के दो युग के बीच
एक मदिरा की कल्पित रेख।

हलाहल के दूसरे युग में केवल एकाकी इंसान की गरिमा के बल पर

शायद ही मैं प्रविष्ट हो सकता जिसकी प्रत्याशा और माँग किपलिंग अपनी कविता में करते हैं। मेरे सामने मेरी पत्नी थी, मेरे बच्चे थे—देखने में स्वस्थ,—इसके लिए शाबाशी तेजी को मिलनी चाहिए—पढ़ने-लिखने में तेज़—वे हर साल परीक्षा में अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होते रहे और स्कूल से उनकी रिपोर्टें बड़ी अच्छी आती रहीं—मन से प्रसन्न, निश्चित, निर्द्वंद्व—उनकी छोटी-छोटी बातों में उनके होनहार होने के संकेत, मेरे लिए वे भविष्य की आशा, उज्ज्वलता और विश्वास के प्रतीक थे, और श्रांत-क्लांत होने पर भी श्रम-संघर्ष करने की प्रेरणाएँ। जब कोई हो, जिसके लिए मनुष्य जी सके, तभी जीवन का कुछ अर्थ होता है, कठिन होने पर भी वह सरल, सुखद लगता है। केवल अपने लिए जीना, जीने के लिए जीना, नरक भोगने से कुछ कम नहीं। मैं एक समय यह नरक भोग चुका था। तभी तो पूछा था.

किसके लिए ? किसके लिए ?

और मेरा प्रश्न निरुत्तर प्रश्न बनकर मेरे चारों ओर ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहा था। अब मैं अपने प्रश्न का उत्तर अपने सामने मूर्तिमान देख रहा था। इन आँखों का स्वप्न, इन कंठों का मुक्त हास, इन हाथों की महत्त्वाकांक्षा, इन पाँवों की अबाध प्रगति, इन कलियों का विकास, निश्चय ही मेरे अश्रु, स्वेद, रक्त का योग्य अधिकारी है। मैंने फिर अपनी कमर कसी और खुशी से, उत्साह से।

मैंने तेजी के घावों को सहलाया। जो बीत गई सो बात गई। जो हो गया सो हो गया। हम दोनों ही एक कठिन परीक्षा से निकले हैं, और 'असफल' हमारे शत्रु भी हमें नहीं कह सकते, उसके लिए मुसीबतें हमें चाहे जितनी उठानी पड़ी हों। आओ, हम एक-दूसरे को बधाई दें, हमें बधाई देने वाले बहुत नहीं हैं—जो हैं, उनमें भी अधिकतर औपचारिकता निभाने वाले, धन्यवाद भी दें—पति-पत्नी में भी थोड़ी औपचारिकता, थोड़ा शिष्टाचार शोभन होता है—तुमने जो साहस दिखाया, सहयोग दिया, उसीसे मेरा यज्ञ पूरा हुआ। लोगों ने तो दूसरी ही भविष्यवाणियाँ कर रखी थीं। शुक्र है कि वे सच नहीं हुईं—आज वे ईर्ष्या-लज्जित हैं और मैं

विजेता की भाँति घर लौटा हूँ—घर जो मेरी अनुपस्थिति में बहुतों की अशुभ प्रत्याशा और कुछ के हैवानी-शैतानी प्रयत्नों के बावजूद उजड़ा नहीं। ज़रा कल्पना करो, यदि यह यज्ञ विध्वस्त हो जाता—इसकी भी संभावना कम नहीं थी—तो आज हम कहाँ होते लोग हमें क्या-क्या न कहते ! हमें छोड़ो, हमारे बच्चे भी कितनी हीन भावना के शिकार होते, और हमारा भविष्य कितना अनिश्चित होता ! क़ीमत तो हर उपलब्धि की चुकानी पड़ती है। ज्ञान किसी भी क़ीमत पर सस्ता ही माना गया है—यहाँ मैं अपनी काग़ज़ी डिग्री की बात मात्र नहीं सोच रहा हूँ। हम सबने—तुमने, मैंने, बच्चों ने उस अनुभव से कुछ पाया है। हर बात का परिणाम जल्दी सामने नहीं आता। मेरे बहुत से विश्वास टूट चुके हैं, फिर भी मैं आज भी ऐसा मानता हूँ कि तप का परिणाम अच्छे के सिवा दूसरा हो नहीं सकता—और यह तब भी होता जब उसका कोई प्रत्यक्ष रूप सामने न आता—मेरा मतलब है, अगर किसी कारण मुझे डाक्टरेट न मिलती—गो अच्छे का रूप पहचानने में हमसे भूल हो सकती है, विलंब भी हो सकता है। आज हम जिस जगह हैं, उससे असंतुष्ट होने का मैं कोई कारण नहीं देखता। एक बार मैं शून्य पर भी सीढ़ी खड़ी करने का साहस रखता हूँ। हम ऐसे आधारहीन नहीं। फिर हमें ऊपर खींचने वाले दो तारे हैं, उनको तारों के ही रूप में मैं केम्ब्रिज से देखा करता था—किसी कविता में इसका संकेत है, तुम्हें भेजी थी,

आँख जो ऊपर उठाई तो सितारे
दो रहे थे कर इशारे,
और तब से आज तक चलता रहा हूँ
एक उनके ही सहारे।

कल तक तुमने कुछ भी सोचा हो, सहा हो, पर आज तो मैं आ गया हूँ, और मेरा आना ऐसा कुछ बेमानी तो नहीं है। मैं सब कुछ सँभाल लूँगा, तुम कुछ समय के लिए अपने को एकदम ढीला छोड़ दो, तन को भी विश्राम दो, मन को भी, दिल को भी, दिमाग़ को भी। घर का प्रबंध भी मेरे हाथों में छोड़ दो, नौकरों को भी, बच्चों को भी, मोटर को भी—देखो, मैं कितनी किफ़ायत से घर चलाता हूं। तुमसे हाथ नहीं खिंच सकेगा, मैं

ज्यादा बढ़ाऊँगा ही नहीं, हमें कुछ बचाना भी पड़ेगा, सबसे पहले बच्चों की शिक्षा वाली राशि पूरी करनी है—पाई-पाई—इसके बिना मुझे चैन नहीं, फिर तुम्हारे बदन पर तुम्हारे गहने वापस लाने हैं—इन सब के ऊपर कुछ जोड़ना-बटोरना भी होगा, कभी किसी आपाती स्थिति के लिए, जो जीवन में अक्सर अचानक उठ खड़ी होती है—किसी अघटित-घटित में हमारे बच्चों के पाँवों के नीचे धरातल इतना अस्थिर-अनिश्चित न रहे कि वे अपने को असहाय पाएँ। अपने दो बेटों, एक भतीजे को विकास के पथ पर हमें लगा देना है। लक्ष्य प्राप्त हो, न हो, लक्ष्य पर पहुँचना अपने ही हाथों में नहीं होता, पर लक्ष्य बनाकर ही चला जाता है। यह कम सौभाग्य की बात नहीं है कि हमारे सामने लक्ष्य हैं। वह आकर्षक है—प्रेरक भी। जब तक मैं अपनी पूरी शक्ति, सामर्थ्य नहीं लगा देता, तब तक मैं दैव, नक्षत्र, नियति को दोष नहीं देता। अव्यवस्था को व्यवस्था देना ही कला है। कलाकार तुम भी हो, मैं भी हूँ। आज अव्यवस्था ने हमें चुनौती दी है। मैं अपने कलाकार का सबसे बड़ा और पहला क्षेत्र जीवन मानता हूँ। शब्दों के क्षेत्र में सफल होकर जीवन में असफल हो जाऊँ तो मैं अपने कलाकार को असफल ही मानूंगा। कलाकार की सफलता बाहर से ही देखने की चीज़ नहीं है। सफल हूँगा तो उसका संकेत मेरे मन की 'हारमनी' देगी, शांति देगी। अभी मैं विक्षुब्ध हूँ। पर 'हारमनी' लाने-पाने की खोज मेरी आज से ही शुरू होगी···अभी से···

सुबह मैंने यात्रा में साथ लाए पैसे से राशन तो मँगा दिया था, पर जब-जब मुझे यह ख्याल आता था कि अगर मुझे दो-चार दिन की देर हो जाती तो ? तब मेरी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे ही रह जाती थी।

मुझे याद आता, ईट्स की प्रेयसी माडगान ने कहीं लिखा था कि जब स्वाधीनता-संग्राम के दरमियान आयरलैंड में अकाल पड़ा तो आयरी किसान अपनी दीनता प्रदर्शित करने को बाहर न निकले, उन्होंने अपने दरवाज़ों पर कीलें मार दीं और मुंह में कपड़ा भर कर बिस्तरों में जाकर लेट गए।

'तेजी में इतना स्वाभिमान है, इतनी आन है—सोढी सिक्खों के परिवार में पैदा होने के कारण कुछ प्रबल संस्कार तो वे लाई ही हैं—कि किसी

के सामने हाथ फैलाने की नौबत आने पर कुछ उसी प्रकार का उग्र निर्णय लेने को वे तैयार हो जातीं...

नियति के किसी क्षेमकर विधान से मैं ठीक उसी दिन आ गया था जिस दिन मुझे आना था।

और मेरे आने के साथ ही, इलाहाबादी कायरों की धमकी-भरी बंदे-खुदाई चिट्ठियाँ और अश्लील लांछनों से पूर्ण गुमनामी पत्र ग़ायब हो गए थे।

कहाँ चले गए थे वे सब गोबरी गुंडे और सींकिया सूरमा जो महीनों से टट्टी की आड़ में खड़े हुए अपने क़लम भाँजा करते थे?

और कहाँ चले गए थे वे इलाहाबादी कौए और गीदड़ जो तेजी के, राजन के और मेरे बारे में कुछ सुनी, कुछ गढ़ी अफ़वाहों और कुछ कुरुचिवश, कुछ ईर्ष्या-द्वेष के कारण, कुछ बिल्कुल अकारण हम पर मढ़े आरोपों को शहर की सड़कों और चाय-काफ़ीख़ानों, पान की दूकानों पर, और अपनी गप्प-गपोड़ी-गोष्ठियों में कोंकोआते और हुहुआते फिरते थे?

क्यों यह शहर का शहर हमारा दुश्मन हो गया था?

हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता थी कि तुरंत कहीं से कुछ पैसे मिलें।

१० जुलाई को युनिवर्सिटी खुल गई। और क़ायदे से मुझे दो महीने की गर्मी की छुट्टियों की तनख़्वाह के रूप में १०००/= मिल गए। मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इलाहाबाद युनिवर्सिटी में भी मेरे प्रति यदि विरोध का नहीं तो असहानुभूति और उपेक्षा का वातावरण था। स्वयं मेरे विभागाध्यक्ष यह नहीं चाहते थे कि गर्मियों की छुट्टी की तनख़्वाह मुझे मिले, इसे वे उस व्यक्ति को दिलाना चाहते थे, जिसने मेरी अनुपस्थिति में अस्थायी रूप से काम किया था। यह बड़ी आसानी से हो जाता अगर मैं उसी दिन युनिवर्सिटी न ज्वाइन करता, जिस दिन युनिवर्सिटी खुली थी। केम्ब्रिज छोड़ने के पहले विभागाध्यक्ष ने जो पत्र मुझे लिखा था—वह पत्र अभी तक मेरे पास रक्खा है—उसमें चार स्थानों पर लिखा था कि युनिवर्सिटी १३ जुलाई को खुल रही है, कि किसी तरह यदि मैं १० को भ पहुँचूँ तो उनकी मंशा पूरी हो जाय। उन्होंने पहले भी जो किया था और आगे भी जो किया,

उससे ऐसा भोलाभाला षड्यन्त्र उनसे बईद न था।

उस वर्ष अंग्रेज़ी विभाग में एक अतिरिक्त रीडर की नियुक्ति होनेवाली थी। मुझे इलाहाबाद लौटने पर पता चला था कि वह पद मेरे वापस आने के पूर्व दफ़्तरी वरिष्ठता के आधार पर भर दिया गया था। जब वाइस चांसलर, विभागाध्यक्ष, पदार्थी (पद+अर्थी) एक ही जाति के हों, तब परम्परागत वरिष्ठता की आड़ लेकर भाई-भतीजावादी मनोवृत्ति को संतुष्ट कर लेना कितना आसान हो सकता था! क्या रीडर की नियुक्ति में जल्दबाज़ी इसलिए नहीं की गई थी कि केम्ब्रिज से डिग्री लेकर वापस आने पर निश्चय मैं उनका एक सबल प्रतिद्वंद्वी सिद्ध हूंगा? और क्या कभी-कभी वरिष्ठता की परंपरा के अपवाद के उदाहरण भी युनिवर्सिटी के इतिहास में नहीं मौजूद थे?

इतना ही नहीं, वे आगे भी पदोन्नति के 'क्यू' में लगे लोगों के हित में, जिनमें उनका अपना सगा भाई भी था, मेरा युनिवर्सिटी में रहना ठीक नहीं समझते थे। वे मेरी बड़ी प्रशंसा करते, 'तुम इतनी बड़ी युनिवर्सिटी से इतनी बड़ी डिग्री लाए हो, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी से डाक्टरेट लेनेवाले तुम दूसरे भारतीय हो, पर कितनी बड़ी विडम्बना है कि यहाँ वरिष्ठता की परंपरा चलती है, और हम तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकते।' (दुर्भाग्यवश, वे स्वयं वरिष्ठता की परंपरा से ही अपनी कुर्सी पर बैठे थे और चाहते थे ऐसा दुर्भाग्य सबके भाग्य में आए।) वे मेरे सामने सुझाव रखते, 'अगर किसी युनिवर्सिटी में विभागाध्यक्ष की जगह खाली हो तो तुम्हें फ़ौरन मिल सकती है।' इसके लिए वे पूरी तरह मेरी सिफ़ारिश करने को भी तैयार थे। शायद उन्हें नहीं मालूम था कि केम्ब्रिज की डिग्री अपनेआप में इतनी बड़ी है कि वह किसीकी सिफ़ारिश की मुहताज नहीं रहती। पर विभागाध्यक्ष अपनी महत्ता और प्रभाव के प्रति अचेत कैसे रहे! विभाग से मुझे हटाने का उनका सूक्ष्म षड्यन्त्र देखते हुए भी मैं उनके प्रति बाहर से कृतज्ञता दिखलाता।

मन से मैं इलाहाबाद छोड़ना नहीं चाहता था। पीढ़ियों से इलाहाबाद मेरी मातृभूमि-पितृभूमि थी। इलाहाबाद युनिवर्सिटी के प्रति भी मेरा कम लगाव नहीं था। जिस युनिवर्सिटी का मैं विद्यार्थी था, उसी युनिवर्सिटी में मैं

अध्यापक हूँ, इस पर मुझे गर्व ही नहीं था, इसका मेरे लिए एक भावात्मक मूल्य था। यह संस्था एक कड़ी थी जो मुझे मेरे प्रारंभिक यौवन के श्रम-संघर्ष के दिनों के साथ मेरे वर्तमान जीवन के कतिपय सुख-सुविधाजनक दिनों को जोड़ती थी। नियति के किसी विधान से मेरी गिरावट का दिन फिर लौट आया था, और मैं इसी जमीन पर एक बार फिर उठने का स्वप्न देखता था। युनिवर्सिटी के साथ मेरा और एक विशिष्ट संबंध था, जिसके प्रति मैं सचेत भी था और जिसका किसी अर्थ में अभिमानी भी। ऐसे लोग युनिवर्सिटी भर में इने-गिने थे, अंग्रेज़ी विभाग में तो कोई भी और न था। कोई कानपुर का था, कोई गोरखपुर का, कोई देहरादून का तो कोई लखीमपुर का, कोई झाँसी का तो कोई फ़र्रुखाबाद का, कोई बंबई का तो कोई बारीसाल का, या और कहीं-कहीं का—सब 'स्यूडो इलाहाबादी'। मैं ख़ान्दानी इलाहाबादी होकर इलाहाबाद युनिवर्सिटी का था, जिसकी सात पीढ़ियाँ यहीं की मिट्टी में जनम, पल, बढ़, इसीकी मिट्टी में विलीन हो गई थीं। मेरे दोनों लड़के भी यहीं जन्मे, और इसीकी माटी में खेले थे और मेरा अरमान था कि उन्हें यहीं के संस्कार मिलें। इस मिट्टी, इसके हवा-पानी, इसकी परंपरा, इसकी शिक्षा-संस्था, सबसे बड़ी शिक्षा-संस्था से मेरी जो रक्त की आत्मीयता थी, उसे विभागाध्यक्ष समझ ही नहीं सकते थे। उनकी बातों को सुनकर मैं सोचता, क्या जो मेरा मातृ-विद्यालय (आलमा मेटर) है, वह अपने एक योग्य बेटे को अपनी गोद में शरण देने को तैयार नहीं है ? क्या मैं यहीं रहकर अपनी रोज़ी-रोटी नहीं कमा सकता ? क्या यहीं रहते हुए मेरी उन्नति-पदोन्नति का द्वार नहीं खुल सकता ? केम्ब्रिज में बैठे हुए भी मैं अपने इलाहाबाद को नहीं भूला था, याद किया था, लिखा था, 'लिखता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।'

और वही इलाहाबाद मेरी अवहेलना कर रहा था, मुझे बहिया देना चाहता था, क्योंकि कुछ अयोग्यों को मेरी योग्यता सह्य न थी।

मैं जिस दिन से लौटकर आया था, उस दिन से विभाग क़दम-क़दम पर मुझे महसूस करा देना चाहता था कि तुम यहाँ वांछित नहीं हो।

मुझे नहीं याद कि केम्ब्रिज से मेरे डाक्टरेट लेने पर किसी ने खुल-

कर मुझे बधाई भी दी हो, सिवा डाक्टर दस्तूर के, जो अपनी नई पत्नी के साथ मेरे घर आकर मुझसे मिले थे, और मुझे मुबारकबाद दी थी।

विलायत की एक बहुत ग़लत तस्वीर अपने मन में बसाए मेरे बहुत से सहयोगियों को पहली मुलाक़ात पर सिर्फ़ यही कहने को था, 'खूब मज़े किए होंगे।' मेरे पूर्व मेरे विभाग के एक नवयुवक सहयोगी श्री इक़बाल अहमद ६ महीने के लिए इंग्लैंड गए थे और योरोपीय नाच सीखकर लौट आए थे, साथ लाए थे सरपेंटाइन लेक, हाइड पार्क और सोहो की सस्ती रात-बालाओं से अपने प्रेमाभिसार के जूसी क़िस्से जिन्हें हमारे यौन-बुभुक्षित साथी लोग मुंह बा-बाकर सुना करते थे; जैसे उनके वर्णन से भी दो-चार बूंद उनके मुख में टपक पड़ेंगी। इक़बाल साहब अब पाकिस्तान चले गए थे, पर अपने क़िस्सों की प्रतिध्वनियाँ यहीं छोड़ गए थे।

स्कालर कहलाते हैं! पर किसीने मेरे काम के प्रति कुछ भी जिज्ञासा नहीं प्रकट की। मेरी थीसिस ही एक नज़र देखना चाहते।

मैं चाहता था कि युनिवर्सिटी मेरी थीसिस ही प्रकाशित करा दे। मैंने भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रार्थना कर प्रकाशन का आधा खर्च देने के लिए उसे तैयार कर लिया था बशर्ते कि युनिवर्सिटी आधा खर्च देने को तैयार हो। युनिवर्सिटी नहीं तैयार हुई। विभागाध्यक्ष ने मुझसे कहा था, 'अभी तो हमारे यहाँ ही प्रस्तुत की गई थीसिसें अप्रकाशित पड़ी हैं, हम केम्ब्रिज युनिवर्सिटी की थीसिस कैसे प्रकाशित करें!' काश, वे प्रकाशित हो जातीं तो इतना तो पता चलता कि इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी शोध का स्तर क्या है!

युनिवर्सिटी से एक अंग्रेज़ी की पत्रिका निकलती थी। संपादक हमारे ही विभाग के थे। उन्होंने साल-भर में एक बार भी मुझसे न कहा कि मैं उनकी पत्रिका में केम्ब्रिज में युनिवर्सिटी-जीवन या ईट्स से संबंधित किसी विषय पर कुछ लिखूं।

युनिवर्सिटी में एक्स्ट्रा म्यूरल व्याख्यान होते हैं। मुझसे कभी प्रार्थना न की गई कि केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के विषय में या ईट्स-साहित्य के किसी पक्ष पर कोई व्याख्यान दूं। 'भारत और ईट्स' पर एक व्याख्यान देने के लिए मुझे नगर के रोटेरी क्लब ने निमंत्रित किया। मुझे नहीं याद कि

मेरे सहयोगियों में से कोई उस व्याख्यान में उपस्थित हो।

और तो और, जब मैं इंग्लैंड जाने लगा था, तब विभाग की ओर से मुझे चाय-पार्टी दी गई थी। जब मैं लौटा, तब? मुझे याद आया केम्ब्रिज के कितने कालेजों ने, मुझे निमंत्रित कर अपने यहाँ के हाई टेबिल पर मुझे मुख्य अतिथि का सम्मान दिया था।

कहने की सीमा होती है
सहने की सीमा होती है
कुछ मेरे भी वश में मेरा कुछ सोच समझ अपमान करो।

और अपमानित कर रहे थे मुझे विभागाध्यक्ष और मेरे सहयोगी, मेरी उपेक्षा करके। हम तुम्हारी डिग्री को कोई महत्त्व नहीं देते। उसकी कोई परवाह नहीं करते। केम्ब्रिज से डिग्री ले आए तो कौन बड़ी लाट खड़ी कर दी। शायद उन्होंने मुझे 'डाक्टर बच्चन' कहकर संबोधित करने में भी अपनी हीनता समझी। उनके लिए मैं बच्चन जी था, बच्चन जी बना रहा— हिंदी का कवि!

देखत ही हर्षे नहीं नयनन नहीं सनेह
तुलसी तहाँ न जाइए कंचन बरसे मेह।

ये सारी बातें, न चाहते हुए भी, मुझे भीतर से कहीं तैयार कर रही थीं कि अवसर मिले तो मैं इलाहाबाद से हट जाऊँ।

जुलाई में ही पंडित जवाहरलाल नेहरू इलाहाबाद आए—साल में दो-तीन चक्कर उनके इधर लगते थे। वे जब आते, आनंद-भवन पर एक नई आभा छा जाती। भीतर-बाहर चारों ओर सफ़ाई होती, रात को कमरे-कमरे में रोशनी, मिलनेवालों का ताँता लग जाता—मोटर, ताँगों, रिक्शों, इक्कों से आनंद-भवन घिर जाता—'एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार'—भूप-से वे थे ही, देश के भी, देशवासियों के दिलों के भी। सामने से आने-जाने वालों को भी पता लग जाता, पंडित जी आ गए हैं। उनमें कुछ ऐसा आकर्षक और उत्प्रेरक था कि उनके आते ही नगर भर कुछ

अज्ञात उल्लास का अनुभव करता।

मैंने केम्ब्रिज से अपनी सफलता की सूचना उन्हें दे दी थी। उन्होंने पूरी नहीं तो एक बहुत बड़ी सहायता तो दी ही थी। सूचना देने के पीछे मेरा एक ध्येय यह भी था कि उन्हें जता दूँ कि जो सहायता उन्होंने दी थी, वह मैंने व्यर्थ नहीं की थी—जिसकी आशका उनको बीच में हो गई थी—उसको मैंने किसी अर्थ में सुफल किया, उसका कुछ अच्छा उपयोग किया, जिससे उनको भी कुछ संतोष हो सकता था। स्वदेश लौटने पर मैं दिल्ली जाकर उनकी पूर्व आशंका को निर्मूल करना चाहता था, जिसके लिए अपने शोध-कार्य में सफलता पा, मैं अधिक अनुकूल स्थिति में था। लेकिन लौटने पर जो आर्थिक कठिनाइयाँ मेरे सामने आ खड़ी हुई थीं, उनके कारण ऐसा संभव न हो सका, और मैं अपनी इच्छा को दबा गया था। अब वे स्वयं इलाहाबाद आ गए थे।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वे मुझे भूले न थे, और एक शाम उन्होंने तेजी को और मुझे खाने पर बुला लिया था।

पंडित जी का दर्शन सदा सुखद होता था—वही परिचित, प्रत्याशित, अपरिवर्तनशील पोशाक-मुद्रा—दिल्ली के औपचारिक दफ़्तरी हाँ-हुजूरी के वातावरण सें दूर अधिक स्वाभाविक लगती-सी, वे अधिक सहज-प्राप्य लगते-से।

हम लोग पहुँचे तो हमें देखते ही वे आगे बढ़े और एक हाथ तेजी के कंधे पर रखकर और एक मेरे, उन्होंने अपने से चिपका लिया, एक बार तेजी की ओर देखकर मुस्कराए, एक बार मेरी ओर—वे अपनी दृष्टि, अपनी मुस्कान में कितना अर्थ भर सकते थे!

केम्ब्रिज में उनकी बेरुखी का परिहार हो गया।

वे कुछ न बोले पर मुझे लगा कि उन्होंने मेरी सफलता पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की, मुझे बधाई दी, साथ ही तेजी को भी बधाई दी, जैसे कह रहे हों कि बिना उनके सहयोग के, जो काम मैंने किया, वह संभव नहीं था, शायद अपनी मुद्रा से अधिक श्रेय उन्होंने तेजी को ही दिया। नारी के प्रति वे सहज उदार थे—और उनकी मुसकान में यह भी था कि तुम लोगों के बारे में मेरे पास तो और ही कहानियाँ पहुँचाई गई थीं, पर अब मुझे

मालूम हो गया है कि वे सब झूठी थीं। मैंने मन ही मन याद किया, केम्ब्रिज में मैंने उनसे कहा था, 'सच्चाई किसी दिन खुलेगी।'

खाने की मेज़ पर इने-गिने लोग ही थे—डा० सामंत (कमला नेहरू अस्पताल की), श्याम कुमारी खान और उनके पतिदेव श्री जमील अहमद खान और हम पति-पत्नी। हमें पंडित जी ने अपने दाएँ-बाएँ बिठलाया। आमों का मौसम था—उन्होंने खाने के बाद हमें खुद काट-काट कर आम खिलाए—'केम्ब्रिज में तो मिला नहीं होगा।' मेज़ पर ही केम्ब्रिज की बातें हुईं—वे स्वयं केम्ब्रिज के स्नातक थे, वहाँ के मानद डाक्टरेट-प्राप्त भी। मुझे लगा, जैसे वे अपने-मेरे संबंध में केम्ब्रिज की एक और कड़ी जुड़ी पाकर प्रसन्न हैं।

उन्होंने मेरे शोध-कार्य के विषय में पूछा। ईट्स की कविता और फ़िलासफ़ी पर थियोसोफ़ी के भी प्रभाव का विवेचन मैंने किया था, और एक समय थियोसोफ़ी आंदोलन में नेहरू-परिवार ने पर्याप्त रुचि ली थी। मोतीलाल जी थियोसोफ़िकल सोसाइटी के सर्वप्रथम सदस्यों में थे, जवाहरलाल जी भी कई वर्ष तक उसके सदस्य थे—उन्हें दीक्षा मिसेज़ ऐनी बीसेंट ने दी थी, जो आंदोलन की प्रवर्तिका मादाम ब्लावाट्स्की की निकटतम शिष्या थीं, उनके लड़कपन के गृह-शिक्षक एफ़० टी० ब्रुक्स अच्छे और उत्साही थियोसोफ़िस्ट थे। 'आत्मचरित' में स्वयं उन्होंने अपने विकास में थियोसोफ़ी के योगदान को स्वीकार किया है और उसके प्रति अपने को ऋणी माना है। जब मैं थियोसोफ़ी की बातें कर रहा था, मैंने देखा, पंडित जी जैसे बग़ल के पुराने 'आनंद भवन' (अब स्वराज भवन) में, अपने लड़कपन के दिनों में चले गए हों, और उनकी आँखों के सामने से उनके मास्टर, ऐनी-बीसेन्ट, मादाम ब्लावाट्स्की, आनंद भवन में ही थियोसोफ़ी पर आयोजित साप्ताहिक बैठकें, थियोसोफ़ी की अद्भुत मान्यताएँ स्मृति-चित्रों की भाँति गुज़र रही हों। मेरे कार्य में उन्होंने रुचि दिखाई, कभी मेरी थीसिस पढ़ने की इच्छा भी प्रकट की। मैं जानता था कि उनके व्यस्तातिव्यस्त जीवन में मेरी थीसिस पढ़ने को समय कहाँ मिलेगा, पर उनके इतना कहने से भी मैं गद्गद् हो गया। युनिवर्सिटी के मेरे सहयोगियों ने मेरी उपलब्धि के प्रति जो उदासीनता और मेरे कार्य के प्रति जो उपेक्षा प्रदर्शित कर मुझे क्षत-

विक्षत किया था, पंडित जी की सहृदयता ने जैसे उस पर मरहम लगा दिया।

उन्होंने मेरे वेतन आदि के बारे में चर्चा चलाई थी। वे चाहते थे कि शिक्षण-क्षेत्र में रहते हुए मेरी पदोन्नति हो। जजों के भोज में एक बार जाने पर उन्होंने युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर बी० एन० झा को अपने पास पाकर मेरी प्रशंसा उनसे अतिशयोक्तियों में की थी—यह मुझे झा महोदय ने स्वयं बताया था। यह मेरी अनुशंसा करने का उनका तरीक़ा था कि इससे प्रभावित हो, शायद, अधिकारी मुझे आगे बढ़ने का अवसर दें। पर एकमात्र पद, जिस पर मुझे अधिकारपूर्वक बिठलाया जा सकता था, उसके बारे में फ़ैसला पक्षपातपूर्ण ढंग से हो चुका था।

दिल्ली में बैठे-हुए भी, वे मेरे बारे में सोचा करते थे, मेरी योग्यता-क्षमता के अनुरूप किसी अच्छे काम में मुझे लगाना चाहते थे, इसकी भी खबर मुझे मिली थी। पंडित जी की आदत थी कि जब किसी मीटिंग वग़ैरह में बैठते तो किन्हीं भावों-विचारों को वे किसी न किसी रूप में चित्रित किया करते थे—पेंसिल से। इसे अंग्रेज़ी में 'डूडलिंग' कहते हैं। साहित्य अकादमी के उस समय के उप-सचिव डा० प्रभाकर माचवे ने मुझे एक बार उनकी एक डूडलिंग भेजी थी जो उन्होंने साहित्य अकादमी की किसी मीटिंग में बैठे हुए की थी। उस डूडलिंग में उन्होंने मेरा नाम एक काग़ज़ के टुकड़े पर लिखा था और उसके चारों ओर किरणें-जैसी बनाई थीं, ऊपर आग के कुछ चिह्न थे, नीचे पानी के। पता नहीं पंडित जी के दिमाग़ में मेरे बारे में क्या विचार आए थे? वह डूडलिंग मेरे काग़ज़-पत्रों में कहीं रखी है, मिल गई तो उसका ब्लाक बनवाकर पुस्तक[1] में देना चाहता हूँ। पंडित जी के बहुत से डूडलिंग नेहरू म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं, कुछ के ब्लाक बनाकर छापे भी गए हैं।

मुझे उस समाचार से प्रसन्नता हुई थी। इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कभी-कदा मेरे बारे में सोचता है, यह मेरे लिए कम गौरव की बात नहीं है।

मेरी ऐसी धारणा है कि पंडित जी के मन में कहीं इस बात की छोटी-सी ग्लानि थी कि उन्होंने किसी ग़लत-फ़हमी में, किसी वक़्त, मेरे प्रति उचित

---

१. देखें चित्र

न्याय नहीं किया था। वे मेरे लिए कुछ करके जैसे इसका प्रतिकार करना चाहते थे और उन्होंने समय आने पर किया भी।

मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अपनी पुरानी जगह पर काम करता जा रहा था, वहाँ से संतुष्ट न होते हुए भी, पर मन में यह विश्वास रखे हुए कि पंडित जी मेरे योग्य कोई अच्छी जगह दृष्टि में आने पर उसपर काम करने के लिए मुझे बुलाएँगे।

पंडित जी ने युनिवर्सिटी के मेरे वेतन के बारे में पूछा था।

विभाग का सारा तंत्र मुझे यह कटु अनुभूति करा देना चाहता था कि तुम आज भी ठीक उसी जगह पर हो, जहाँ सवा दो वर्ष पूर्व अपने को छोड़-कर गए थे, जिसमें मेरा वेतन भी सम्मिलित था। शेष तंत्र के सामने तो भीतर से मैं विद्रोह भी कर सकता था कि, 'जी नहीं, मैं सवा दो वर्ष पूर्व जहाँ था वहीं नहीं हूँ, सवा दो वर्ष तो बहुत होते हैं,'

मैं जहाँ खड़ा था कल उस थल पर आज नहीं

पर रुपया, आना, पाई के सामने तो भावना की नहीं चलती।

जिस समय मैं इंग्लैंड गया था उस समय वेतन के रूप में मुझे ४६०/= मासिक मिलते थे, ३५/=प्रतिमास मँहगाई भत्ता, २०/=प्रतिवर्ष वेतन-वृद्धि का क्रम था। जब मैं लौटा तो मुझे एक साथ दो वर्षों की वेतनवृद्धि के साथ ५००/=मासिक मिलने लगे, पर मँहगाई भत्ता बंद हो गया, क्योंकि वह पाँच सौ से नीचे पानेवालों के लिए था। शायद आप समझें कि ५/=की वेतन वृद्धि फिर भी हुई। वह भी नहीं हुई। भत्ते पर इनकम टैक्स-प्राविडेन्ट फंड नहीं कटता था, वह पूरे का पूरा मिल जाता था। तनख्वाह पर तो कटना ही था और फलस्वरूप जितनी राशि पहले हाथ में आती थी, अब उससे १/=ज्यादा आने लगी। दो वर्ष से अधिक पहाड़ खोदने पर यही चुहिया मेरे हाथ लगी थी। मेरे सहयोगी मेरी पीठ-पीछे अगर यह कहकर मुझ पर व्यंग्य करते थे कि 'फ़रहाद मर गया, अंग्रेजी विभाग में अपनी औलाद छोड़ गया,' तो क्या अनुचित करते थे!

पर दो बातें मेरे सहयोगी नहीं जानते थे। एक यह कि किसी आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखकर मैं अपना शोध-कार्य पूर्ण करने के लिए इंग्लैंड नहीं गया

था। हाँ, इतना मैं ज़रूर चाहता था कि यह कार्य यदि अपनी सँजोई यत्किंचित राशि को हाथ लगाए बग़ैर हो सके तो अच्छा। पर परिस्थिति-वश अगर वह संभव नहीं हो सका तो अपना सब कुछ होम कर भी यह यज्ञ पूरा कर लेने में न मैं हिचका, न मेरी पत्नी हिचकी। और, और भी जो कठिनाइयाँ आईं, उनके लिए हम बे-तैयार तो नहीं थे। हम बहुत पहले जान चुके थे :

जिस जगह यज्ञ होता राक्षस आ ही जाते।

दूसरी बात, कि मेरे अर्जन का क्षेत्र केवल युनिवर्सिटी ही नहीं थी। युनिवर्सिटी से इतर क्षेत्र मेरे लिए अब भी उसी प्रकार खुले थे जैसे मेरे जाने के पहले।

एक बार जब हम दोनों ने यह निर्णय ले लिया कि हम अपने मासिक व्यय को अपनी युनिवर्सिटी की तनख्वाह की सीमा में रक्खेंगे तो हमारी जो भी अतिरिक्त आमदनी थी, वह उस कमी को पूरा करने में लग गई, जो पिछले दो वर्षों में आई थी—

बूँद-बूँद ते घट भरै, टपकत रीतो होय

और जब तक वह घट नहीं भरा, उसमें बूँद-बूँद टपकाते जाने का मेरा क्रम बना रहा।

कठिन आर्थिक परिस्थितियों में प्रायः लोग ऐसा काम कर जाते हैं, जिसके लिए उनकी आत्मा गवाही न देती हो, या जिसके लिए उन्हें बाद को पश्चात्ताप हो। परमात्मा को धन्यवाद है कि इसके लिए प्रलोभन आने पर भी मैंने ऐसा कुछ नहीं किया, जिसे मैंने ग़लत समझा हो या जिसे करके मैं पछताया हूँ। फ़रहाद अपनी चट्टान डाइनेमाइट से भी उड़ा सकता था, पर तब शायद फ़रहाद खुद उसके साथ उड़ जाता। फ़रहाद ने अपनी चट्टान तिल-तिल काटी। चट्टान कट के रही और इस प्रक्रिया में फ़रहाद के पुट्ठे टूटे नहीं, मज़बूत ही होते गए।

श्री सत्येन्द्र अथैया बम्बई में मुझसे मिले थे। इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र थे—बड़े चलते-पुर्ज़े, बड़े मिलनसार, कुशाग्र बुद्धि जितने थे

उससे अधिक अपने को प्रदर्शित करने में प्रवीण, पी० सी० बैनर्जी होस्टल में रहते थे। अपनी पढ़ाई समाप्त कर, कई प्रतियोगी परीक्षाओं में नाकामयाब हो, सिनेमा-संसार में अपनी क़िस्मत आज़माने के लिए बंबई पहुँच गए थे। बड़े तपाक से मिले और बड़ी प्रलोभनपूर्ण शब्दावली में चट उन्होंने एक प्रस्ताव मेरे सामने रख दिया, 'पार्टनर, एक तस्वीर के लिए गीत लिख दो और अपनी मोटर से इलाहाबाद जाओ। आपके गीतों से भाव उड़ा-उड़ाकर लोग चाँदी काट रहे हैं।' सिनेमा की दुनिया ने ऐसे प्रलोभन मेरे पथ में पहले भी डाले थे, पर मैं उनसे अपने को बचा ले गया था। उस समय भी मेरे कानों में किसीने कहा, 'सतीत्व भ्रष्ट करने के लिए एक वेश्यावृत्ति पर्याप्त है।' मैंने उनसे क्षमा माँगी।

'ग़लती कर रहे हो, बिरादर, सोच लो, आदर्शों के चक्कर में मारे जाओगे', वे बोले।

मैंने कुछ सोचकर कहा, 'मेरे पूर्व-लिखित गीतों को कोई लेना चाहे तो मुझे आपत्ति न होगी, दी परिस्थिति, दी मनःस्थिति, दी लय पर मुझसे गीत न लिखा जायगा।'

जब से अमिताभ फ़िल्म-क्षेत्र में आए हैं, मेरे कुछ गीत फ़िल्मों के लिए माँगे गए हैं। मेरे बहुत से पाठक मुझसे पूछते हैं, 'क्या अब आप फ़िल्मों में गीत लिखने लगे हैं ?' बिल्कुल नहीं। मेरे जो भी गीत लिए गए हैं, वे पूर्व-लिखित हैं, अपने पूर्व रूप में ही।

इलाहाबाद में ही एक प्रकाशक ने मुझे घेरा, 'हमारे लिए पाठ्य-पुस्तक तैयार कर दीजिए, हिंदी के साथ अब अंग्रेज़ी में भी आपके नाम की धाक है, तीन बरस के लिए भी आपकी पुस्तक हाई स्कूल या इंटर में लग गई तो आप मालामाल हो जायेंगे।'

मैंने उनको एक दोहा सुनाया,

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डार
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तलवार।

उन्होंने मेरा मतलब न समझा तो समझाना पड़ा। पाठ्य-पुस्तक बनाने का काम पेंउदों को सीने-जोड़ने का है, या कैंची, लेई का। यह काम मैंने कभी

नहीं किया। काम की अवज्ञा नहीं करता, काम शायद होशियारी का है। मुझसे कराएँगे तो बिगड़ जायगा। सुई का काम सुई से ही लेना बुद्धिमानी है।

बहुत कुछ तर्क-वितर्क के बाद वे इस पर उतर आए कि आप केवल अपना नाम दे दें, काम वे दूसरों से करा लेंगे।

प्रकाशक से मैंने हँसकर कहा, 'नाम को छोड़कर और मेरे पास क्या है, वही मेरा एकमात्र आधार है, नाम को ही लेकर तो मैं खटता-खपता हूँ। नाम को ही बेंच दूंगा तो मेरे पास रह क्या जायगा? मेरा नाम बिकाऊ नहीं है।'

प्रकाशक फिर मेरे पास न आया।

मेरे अपने प्रकाशक नें अगर एक पुस्तक पर अग्रिम रायल्टी देकर शेष पुस्तकों की भी रायल्टी बंद कर दी थी तो मैं उससे झगड़ा नहीं कर सकता था। लेखक का प्रकाशक से झगड़ा उसके लिए हितकर नहीं। गिरधर कवि राय ने अपनी एक कुंडलिया 'साइं ये न विरुद्धिए...' से आरंभ करके उन तेरह लोगों के नाम गिनाए हैं, जिनको तरह देने से ही बन आती है। आज गिरधर मुझसे मिलते तो मैं उनसे कहता उसमें 'प्रकाशक' का नाम भी जोड़ दें। लेकिन यह अक़्ल आए, इसके पहले मैं अपने प्रकाशक से झगड़कर कुछ किताबं दूसरे प्रकाशक को दे चुका था। अगर दूसरे ने उन पर रायल्टी न दी थी तो रायल्टी की रक़म भी कुछ ख़ास न बनी थी। कारण यह था कि पिछली किताबें विज्ञापित तो बहुत दिनों से पहले प्रकाशक के नाम थीं। आर्डर उन्हींके पास आते, और वे आर्डर चुपचाप फाड़कर फेंक देते, वे अपने प्रतिद्वंद्वी को फ़ायदा क्यों पहुँचाएँ, पर मारा बीच में जा रहा था मैं।

फिर भी, जब नई पुस्तक प्रकाशित कराने की योजना बनी तो मैंने वह नए प्रकाशक को ही दी, उनसे लाभ लेने को, मुझे उन्हें विज्ञापित भी करना था। पंजाबी में एक कहावत है कि 'अंधे से कुछ काम कराना तो उसे घर छोड़ने जाना।'

प्रवास में लिखी मेरी कविताएँ जब टाइप होकर आ गईं तो मुक्त छंद और छंदोबद्ध कविताओं की अलग-अलग फ़ाइलें बनाकर मैंने अपनी मेज पर रख दीं—अपनी थीसिस के साथ—जब कभी उन पर दृष्टि जाती,

तब मेरे पिछले वर्षों के शोध-सृजन का यह मूर्त रूप मुझे बहुत संतोष देता।

कविताएं—मुख्यतया गीत—मैंने 'मिलन यामिनी' के पश्चात एक विशिष्ट योजना के अंतर्गत लिखनी आरंभ की थीं, और अपने शोध-काल में भी मैंने वह क्रम जारी रखा था, परंतु देश लौटकर अपनी उद्विग्न मनःस्थिति में उसे आगे बढ़ाने में मैंने अपने को असमर्थ पाया, और फ़िलहाल उसे मैंने अपने मन से उतार दिया, या वही मेरे मन से उतर गया। जो मेरे सिर चढ़कर नहीं बोला उसे मैंने शायद ही कभी लिपिबद्ध किया हो। उसे आंशिक रूप में प्रकाश में लाने की मेरी इच्छा नहीं थी, भले ही योजना पूरी होने में और कई वर्ष लग जाएं। पर कई बातों ने मेरे इच्छा-बल को कमज़ोर कर दिया।

मेरे नए प्रकाशक का कहना था कि पिछले चार वर्षों से मेरी कोई नई किताब नहीं निकली, निकलेगी तो उसकी खूब माँग होगी और इससे उनका प्रचार हो जायगा। मेरे गीत मेरे प्रवास में भी देश की पत्र-पत्रिकाओं में निकल रहे थे और मेरे लौटने पर लोग मेरे किसी नए संग्रह की प्रत्याशा कर रहे थे। उधर चुनाव करने को भी मेरा मन तैयार नहीं था—मुझे लगता था कि एक इमारत जो अभी अधबनी ही है, कैसे उसकी ईंटों को जहाँ-तहाँ से निकालना शुरू कर दूं। यह अप्रिय कार्य करने का भार श्री (अब डाक्टर) ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने लिया। वे युनिवर्सिटी के नाते मेरे प्रिय पूर्व-शिष्य थे, मेरे पास अक्सर आते-जाते थे, मेरी फ़ाइलें प्रायः कौतूहलवश उलटते-पलटते थे। उनका भी आग्रह था कि मेरा नया संग्रह आना चाहिए। अंततोगत्वा मैं पुस्तक निकलवाने को सहमत हो गया। ओंकार ने ५९ कविताएँ चुनीं और वे छपने के लिए भेज दी गईं, जो जनवरी १९५५ में 'प्रणय-पत्रिका' के नाम से निकलीं। प्रूफ़ आदि देखने का काम भी उन्हीं ने कर दिया। प्रूफ़ देखते समय मैं अपनी कविताओं में कुछ सुधार-परिष्कार कर दिया करता हूँ। 'प्रणय-पत्रिका' मेरे अन्तिम स्पर्श से वंचित रही।

बाईस वर्षों बाद मैं यह अनुभव करता हूँ कि अपनी योजना को खंडित कर आंशिक रूप में प्रकाशित करने में मुझसे एक भारी सृजनात्मक भूल हो गई—अक़्ल आने में बहुत दिन लगते हैं।

ओंकार ने भी एक शरारत की थी, पता नहीं जानकर या अनजाने, उन्होंने अपने चुनाव से कविताओं का क्षीर निकाल लिया था। अवशेष को मैं देखता तो समझ ही न पाता कि कहाँ-कहाँ और कैसे मैं फिर से ईंटों की जोड़ाई, चुनाई शुरू करूँ। शेष कविताएँ जब 'आरती और अंगारे' (१९५८) के नाम से निकलीं तब तक भी, मुझे यह आशा थी कि मैं अपनी योजना किसी दिन पूरी कर सकूँगा, आगे के गीत 'मेरे और तुम्हारे बीच' शीर्षक से लिखूँगा और तब फिर तीनों संग्रहों की कविताओं का क्रमांकन नए सिरे से करूँगा और उन्हें एक बड़ी सम्यक् कृति के रूप में प्रस्तुत करूँगा, 'अभिनव प्रणय पत्रिका' के नाम से, जिसके बाद उपर्युक्त पिछले तीनों खंड-संग्रह स्वतंत्र रूप से नहीं निकलेंगे। बात यह है कि किसी बड़ी सांग रचना की कल्पना में, सर्जक के नाते मेरा यह अनुभव है, उसकी परिणति—तीव्रतम स्थिति—पहले सामने आती है। उसे लक्ष्य में रखकर प्रस्थान बिंदु से चलना होता है, लक्ष्य से प्रस्थान करना, यह कला-जगत की विरोधाभासी, पर मान्य प्रक्रिया है।

मेरी आयोजित 'प्रणय-पत्रिका' की तीव्रतम स्थिति, उसका लक्ष्य उन गीतों में अभिव्यक्ति पा चुका था जो 'प्रणय-पत्रिका' में चुन लिए गए थे, विशेषकर उसके अंतिम गीतों में। वे निकल गए तो मेरे सामने सिर से अलग धड़ ही पड़ा रह गया जैसे, और उससे फिर सिर जोड़ उसे प्राण-प्रतिष्ठित करना मेरे लिए संभव न हो सका। मेरी योजना पूरी नहीं हो सकी और अब तो शायद ही कभी हो सके। मेरे मन पर लगे हुए धक्के, मेरी बदली परिस्थितियाँ, तेज़ी से बदलता-भागता समय और आवेगपूर्वक परिवर्तित होता हिंदी-कविता का सारा परिवेश—शायद सभी मुझे उस मनः वातावरण से दूर हटा ले गए, जिसमें मेरी कल्पित 'प्रणय-पत्रिका' की रचना संभव थी। इस कारण ओंकार को, अपने प्रकाशक को, अथवा अपने को ही इस विफलता के लिए उत्तरदायी ठहराना ग़लत होगा। सृष्टि में अपूर्णताएँ कम हैं? और साहित्य में भी क्या कम हैं? और अपनी दृष्टि से जिन्हें हम पूर्ण समझ लेते हैं, वे ही कितनी पूर्ण हैं! सब कुछ प्रयोग ही तो है, और असफल प्रयोगों से भी कुछ सीखा जा सकता है, कम से कम मैंने कुछ सीखा है। वैसे जीवन और सृजन की भूलें भी आगे ही ले जाती हैं। हम ऐसे

यन्त्र पर आरूढ़ हैं जो रुक जाए, दिग्भ्रमित हो जाए, लौट आए, आगे ही बढ़ता है, पीछे कभी नहीं जाता। यह कम संतोष की बात है? यदि मेरे सृजन का मेरे विकास में, मेरे माध्यम के विकास में, कोई स्थान है तो मेरे असफल प्रयोगों का भी उसमें योगदान निःसंशय सुनिश्चित है।

'प्रणय पत्रिका' को प्रत्याशित लोकप्रियता मिली, पर उससे मिली रायल्टी से कहीं अधिक कवि-सम्मेलनों से मिले पारिश्रमिक ने मेरी आर्थिक स्थिति सुधारने में मेरी सहायता की। दो-ढाई वर्षों से मैंने किसी कवि-सम्मेलन में भाग न लिया था। अब निमंत्रणों की भरमार रहती थी। मैंने बहुत पहले कवि-सम्मेलनों में जाने के लिए अपने ऊपर एक शर्त बाँधी थी—कवि-सम्मेलनों में तभी जाऊँगा, जब युनिवर्सिटी में छुट्टी हो, कवि-सम्मेलनों के लिए युनिवर्सिटी से कभी छुट्टी न लूंगा। और उस नियम का पालन मैं अब भी करता था। कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए पारिश्रमिक लेने की प्रथा एक प्रकार से मैंने ही चलाई थी, और शुरू-शुरू में 'हिंदी-सेवा' के लिए भी पारिश्रमिक चाहने पर जो गालियाँ मुझे दी गई थीं, जो लांछन मुझ पर लगाए गए थे, वे सब मैंने सहे-झेले थे। अब तो यह माँग सर्व-स्वीकृत है, और हिंदी के बहुत से गले-बाज़ कवि इन कवि-सम्मेलनों से, जो अब हर नगर, क़स्बे में—कभी-कभी गाँव में भी—हर मेले-ठेले, नुमाइश, वार्षिकोत्सव, जयंती, सभा, सम्मेलन, समारोह के अवसर पर आयोजित किए जाते हैं, अच्छी-खासी रक़म लूट रहे हैं—एक से दूसरे कवि-सम्मेलन में धावा मारते हुए—हर दिन उनका बिस्तर बंधा, हर वक़्त वे पा-ब-रकाब।

उन्हीं दिनों मैंने कवि-सम्मेलनों के ह्रास के लक्षण भी देखे। धीरे-धीरे उनका साहित्यिक रूप घट और मनोरंजनी रूप बढ़ रहा था। कवि जनता को अपने स्तर पर उठाने के बजाय वाह-वाही लूटने के लिए उसके धरातल पर उतर रहा था—या तो गलेबाज़ी और सिनेमाई तर्जों का सहारा लेकर या हल्के-फुल्के हास-व्यंग्य विनोद का। फिर तो गायक और नबी के स्वरों में बोलने वाले हूट किए जाने लगे और विदूषकों की आरती उतारी जाने लगी। महफ़िलों का यह रंग देखकर किसीने लिखा था, 'बुलबुलों को यह शिकायत है हम उल्लू न हुए।' दादुरों के बोलने और कोकिलों के मौन रहने की बेला आ गई थी। नई कविता से काव्य-पाठ की एक नई विधा

का आरंभ हो सकता था, पर नए कवि यह मानकर चले कि कविता सुनाने की चीज़ नहीं है—छपे हुए पेज पर आँख से पढ़ने की चीज़ है। उन्होंने कवि-सम्मेलनों का बाइकाट कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कवियों के दो दल हो गए—कवि सम्मेलनी कवि और पुस्तकी कवि। इससे कविता और कवि-सम्मेलन दोनों की हानि हुई। कवि-सम्मेलन नई विचार-भावधारा से वंचित हो हास्य कवियों का अखाड़ा हो गया और नई कविता केवल किताबी चर्चा हो गई, उसका जन-संपर्क समाप्त हो गया, जो कविता के लिए स्वस्थ स्थिति नहीं।

युनिवर्सिटी में पढ़ाने को मुझे वही क्लास दिए गए थे जिन्हें मैं इंगलैंड जाने से पहले भी पढ़ाता था, यानी बी० ए० के; एम० ए० के नहीं—दिए जाते तो उनसे मेरी गरिमा न बढ़ जाती, जिसे घटाने की नहीं तो जैसी थी, वैसी ही है बताने की—कम से कम मुझे—सारी कोशिश की जा रही थी। पढ़ाना मुझे अच्छा लगता था। मैं मेहनत से पढ़ाता, यथायोग्यता, विधिवत्—पाठ को आकर्षक, रोचक, ग्राह्य बनाकर, प्रत्येक विद्यार्थी पर दृष्टि रखते हुए, प्रत्येक में रुचि लेते हुए। पढ़ाना मुझे सदा से एक सर्जनात्मक क्रिया लगती थी—एक सजीव, संभावना-संकुल, उभरते, ताज़गी बिखेरते—कभी कुछ शरारत या नटखटपने के रूप में भी—माध्यम को निखारना, सँवारना, संस्कार देना। मैंने अपने विद्यार्थियों से सदा सहयोग पाया है, कुछ उससे भी बढ़कर, उनका समादर, उनका स्नेह। कैसे विद्यार्थी अपने अध्यापकों को छेड़ते, परेशान करते, पढ़ाने न देते, उनकी बात न मानते, उनका विरोध करते या क्लास में शोर-गुल मचाते—यह मैंने जाना ही नहीं, जैसे कवि-सम्मेलनों में हूट होना। और न यही मेरी कल्पना में आता है कि कैसे अध्यापक अपने सामने उठती विद्यार्थियों की नई पीढ़ी को अवज्ञा, उदासीनता अथवा निरपेक्षता की दृष्टि से देख सकता है,

सब उठती चीज़ें मन मेरा हर लेती हैं—
उगता सूरज, उगता चंदा
चढ़ता बादल, चढ़ती नदियाँ
बढ़ती फ़सलें, उठती क़ौमें

धरती की परतें फोड़ गगन को छूने वाले फ़ौआरे।
आओ इनपर अपना तन-मन जीवन वारें!

मैंने केम्ब्रिज में सृजन-शोध साथ-साथ किया था—बहुत असफलतापूर्वक नहीं, हालाँकि पहले मुझे ये दोनों प्रक्रियाएँ एक-दूसरे की विरोधी लगती थीं। पर बाद को मुझे दोनों में एक प्रियकर समन्वय दिखा था, अनुभव हुआ था। जब कोई गाड़ी बहुत तेज़ी से चलाई जाती है तो इंजन को रोक देने पर भी वह अपनी पूर्व गति के बल पर कुछ देर चलती रहती है। ज़ाहिर है कि थीसिस पूरी कर देने पर शोध की प्रक्रिया रुक गई थी, पर सृजन तो चल रहा था। क्या आप विश्वास करेंगे कि सृजन-प्रक्रिया में जब मेरा दिमाग़ सक्रिय होता था तब कोई न कोई शोध की योजना पर काम करने की इच्छा भी उसमें जागती थी। मैंने अपने दिमाग़ में शोधक-केन्द्र जाग्रत कर लिया था और वह इतनी जल्दी सुप्त होने वाला नहीं था। बी० ए० को पढ़ाने के लिए मुझे किसी प्रकार की तैयारी की आवश्यकता न होती—वही पाठ्य पुस्तकें, वही नाटक, वही कविताएँ, वही निबंध—सब पर मेरे नोट्स तैयार, लेक्चर तैयार, बरसों से। सृजन का काम तो कोई नित्य-नैमित्तिक काम न था—प्रेरणा मिली तो रोज, न मिली तो महीनों नहीं। ऐसी अवस्था में मैंने शोध की एक नई योजना बनाई जो अगर मैं युनिवर्सिटी में रहा आता तो शायद किसी दिन पूरी हो जाती। मनुष्य, जीवन में अधूरी छोड़ी किन-किन चीज़ों को लेकर रोए! शायद बहुत-सी ऐसी चीज़ें मन को कुछ संस्कार देकर चली जाती हैं, संभवतः अगले जन्म में सक्रिय होने को। कौन जाने!

केम्ब्रिज के दिग्गज आचार्यों ने मुझे शोध का यह रहस्य स्पष्ट किया था कि अध्येता शोधार्थी को अपना विषय ऐशोन्मेष (Revelation) के रूप में प्राप्त होता है। बाद को उसे तथ्यों तथा तथ्याधारित कल्पना के पथ से उस तक पहुँचना चाहिए। मुझे अपने पूर्व शोध का विषय भी क्या इसी तरह प्राप्त नहीं हुआ था!

तथ्यों से पथ का शोध, और तथ्याधारित कल्पना के सहारे उसका निर्माण भी करने के लिए मुझे कितना पूर्वी और पश्चिमी धर्म-तन्त्र और

ग्रोकल्ट ('रहस्यवादी' के बजाय 'निगूढ़' शब्द शायद 'ग्रोकल्ट' के अधिक निकट है 'रहस्यवादी' 'मिस्टिक' के लिए रूढ़ हो चुका है।) से संबद्ध साहित्य चाटना पड़ा था—नीरस, निःस्वाद, दुर्गम ग्रौर दुर्बोध ग्रौर उनके प्रति कवियों की रुचि ग्रौर कुतूहल ने ब्लेक से लेकर ईट्स तक की कितनी रचनाग्रों को कितना क्लिष्ट, ग्रस्पष्ट किंतु साथ ही कितना सार-गर्भित वना दिया था। इन रचनाग्रों पर पश्चिमी ग्रोकल्ट के प्रभाव का थोड़ा-बहुत विश्लेषण हुग्रा था, परंतु पूर्वी धर्म-तंत्र के प्रभाव की प्रायः उपेक्षा हुई थी, जान-बूझकर उतनी नहीं जितनी पाश्चात्य मस्तिष्क द्वारा उसकी ग्रग्राह्यता के कारण। क्यों न इस पर एक विस्तृत शोध-प्रबंध लिखा जाय The Shadow of the Orient on English Poetry fromry Blake to Yeats—'ब्लेक से लेकर ईट्स तक की ग्रंग्रेजी कविता पर पूर्व की छाया।' एक बार तो मुझे ऐसा लगा था जैसे मेरे लिए मेरे शोध का विषय ऐशोन्मेषित हो गया। इंग्लैंड के पुस्तकालयों में कितनी सामग्री इस पर मिलती! पर, जो सामग्री युनिवर्सिटी ग्रौर पब्लिक लाइब्रेरी में थी, उससे कुछ शुरुग्रात करने में क्या हर्ज था! मैं युनिवर्सिटी का काम खत्म कर, किसी रेस्ट्राँ में चाय ग्रादि पी, कभी पब्लिक लाइब्रेरी में, कभी युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में जा बैठता ग्रौर विषय से संबद्ध पुस्तकें निकलवाकर पढ़ता, उनपर सोचता ग्रौर नोट लेता। लाइब्रेरी बंद होती तो घर लौटता—पब्लिक लाइब्रेरी ग्रधिक रात तक खुली रहती। वहाँ युनिवर्सिटी के किसी ग्रध्यापक को न पाकर कभी-कभी सोचता—इक्के-दुक्के विद्यार्थी और लाइब्रेरी के कर्मचारी मुझे कितना बड़ा सनकी समझते होंगे! क्या मुसीबत पड़ी है इन्हें जो ग्रकेले वुद्धू-से यहाँ बैठे हैं! इन्हें ग्रौर कोई काम नहीं है? ग्रौर न जाने कब मैं कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी लाइब्रेरी के ऐन्डरसन रूम में पहुँच जाता—शोधार्थियों के लिए खास— ग्रब तो वहाँ की ग्रालमारी पर मेरी भी थीसिस लगी होगी—कितने सहयोगी, साथ काम करते हुए, कितनी पठन-सामग्री, कितनी शांति! ग्रौर यहाँ युनिवर्सिटी की सडकों पर ढोल-ताशों के साथ कभी सिनेमा के पोस्टरों का जलूस निकलता, कभी लाउड-स्पीकरों से विद्यार्थी ग्रांदोलनों के नारे लगते, कभी कुछ ग्रौर एलान किए जाते। ऐसे शोर-गुल में चिंतन क्या होता, खाक!—यूनिवर्सिटी

के अधिकारी अभी इतना भी नहीं कर सके कि इन बाजों-गाजों, लाउड-स्पीकरों पर युनिवर्सिटी क्षेत्र में प्रतिबंध लगा दें। अपने देश की परि-स्थितियाँ हैं, उन्हें बदल नहीं सकते तो उन्हें स्वीकारो। आँगन को टेढ़ा कहोगे तो यहाँ यह कहनेवाले बहुत मिलेंगे कि नाच नहीं जानता।

१६५४-५५ के युनिवर्सिटी सत्र में अपने खाली वक्त को मैंने अपनी उसी सनक में काटा—और मैं क्या पढ़ रहा हूँ, किस दृष्टि से पढ़ रहा हूँ, इसका पता मैंने किसी को भी न दिया, तेजी को भी नहीं। तेजी को आश्चर्य होता, लाइब्र री में इतनी-इतनी देर मैं क्यों बैठने लगा हूँ? ऐसा मैं पहले तो कभी नहीं करता था! पर, शायद, वे जानती थीं कि इंगलैंड से लौटने पर जो कुछ अप्रिय, असह्य और अप्रत्याशित मैंने पाया है, उसे झेल जाने के लिए मुझे कहीं-न-कहीं व्यस्त रहने की ज़रूरत है, चाहे वह काम इस कोठी का धान उस कोठी में करने जैसा बेकार ही क्यों न हो। मेरे दिमाग़ की दो बरस पुरानी शोधार्थी आदत मुझसे यह सब करा रही है, इस ओर उनका ध्यान शायद ही गया हो। लाइब्रेरी से किताबें मैं घर पर ही लाता और जब भी खाली रहता, उनमें जुटा रहता। शोध-दृष्टि मेरी वास्तव में पैनी हो गई थी—कितनी ही पढ़ी हुई चीज़ें फिर पढ़ता तो उनके पीछे, कुछ नए ही संकेत देखता। अफ़सोस, कि इलाहाबाद युनिवर्सिटी को मेरी नई दृष्टि की कोई आवश्यकता नहीं थी। नहीं याद कि कोई शोधार्थी भी मेरे निर्देशन में काम करने को मुझे सौंपा गया हो।

समकालीन इलाहाबादी साहित्यिक परिदृश्य की भी एक झाँकी मेरी आँखों के सामने है, हालाँकि मेरी हस्ती उसमें एक नदी के द्वीप से अधिक की न थी। वहाँ का साहित्यिक-जगत, जैसा कि उसके एक सदस्य ने स्वयं कभी कहा था, मुझे 'आउट-साइडर' समझता था, और मैं भी न तो 'इन साइडर' होने की तमन्ना रखता था, और न 'आउट साइडर' माने जाने से किसी तरह से विक्षुब्ध। बहुतों को कारण शायद मेरे अंग्रेज़ी विभाग से संबद्ध रहने में दिखाई दे, हालाँकि कारण कहीं और गहरे थे जिनका संबंध जीवन, सृजन और साहित्य के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण से था—कवि को जीवन की सच्ची अनुभूतियों को वाणी देनी चाहिए, कवि अपने ही निकट से निकट जाकर जीवन के अधिक से अधिक समीप आ जाता है,

कवि यदि जीवन से प्रतिबद्ध हो तो उसे किसी और के साथ प्रतिबद्ध होने की आवश्यकता नहीं, न किसी वाद से, न किसी तथाकथित साहित्यिक आंदोलन से, न किसी सभा-सोसाइटी से, सृजन एकांत क्षणों की वाणी होकर ही पाठक के एकांत क्षणों का उद्बोधक होता है, सर्जक और भावक के बीच की एकमात्र कड़ी सृजन है जिससे अपना संबंध स्थापित करने के लिए उसे किसी दूसरे की ज़रूरत नहीं रह जाती, यानी कवि के लिए सीधे अपने पाठक तक और पाठक के लिए सीधे अपने कवि तक जाने के लिए मार्ग खुला है। वहाँ किसी की सिफ़ारिश न सहायक होती है, न किसी का विरोध आड़े आता है, पर्याप्त है कि हम जिस समाज और युग के लिए सृजन कर रहे हैं, उसके समक्ष पूरी तरह खुले रहें कि उसको पूरी तरह अपने सृजन-व्यक्तित्व में आत्मसात कर सकें। समाज और युग अलग इकाइयाँ नहीं हैं, वे देश और काल से जुड़कर, यानी इतिहास से जुड़कर ही अपने पूरे संदर्भ में प्रकट होते हैं और उसको समझने के साधन हैं—हर एक की अपनी क्षमता और सीमा में ग्राह्य, बोधगम्य। ऐसे सिद्धांतों को जीने वाला प्राय: समाज के प्रति लापरवाह या उससे अलग भी लग सकता है, गो वह वास्तव में होता नहीं। वह स्वयं भी ऐसी ग़लतफ़हमी में रह सकता है। आख़िर कुछ अलग, कुछ असामान्य होना ही तो उसके होने का औचित्य है, अधिकार है। कम से कम वह इसकी कामना तो कर ही सकता है :

मैं गाऊँ तो मेरा कंठ-
स्वर न दबे औरों के स्वर से,
मैं जीऊँ तो मेरे जीवन
की हो सब से अलग रवानी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे आयर के शायर अभिमानी।

अपने चारों ओर के साहित्यिक दृश्य की एक झाँकी प्रस्तुत करने का लोभ इसलिए नहीं संवरण कर पा रहा हूँ कि शायद आप मुझे उसके बीच रखकर देखना चाहें या मेरी दृष्टि से उसे—नदी से द्वीप को, द्वीप से नदी को।

इस साहित्यिक नदी के दो पुराने, बड़े घाट थे पंत और निराला—

एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, एक दूसरे के ध्रुव विपरीत।

पंत जार्ज टाउन (अब टैगोर टाउन), अंग्रेज़ी सिविल लाइन के देसी संस्करण, की हैमिल्टन रोड पर रहते थे, रेडियो के चीफ़ एडवाइज़र के रूप में ऊँची तनख्वाह पा रहे थे, उनसे मिलने-जुलने वालों में थे शिष्ट, संभ्रांत, सफ़ेदपोश नागरिक। निराला मोहल्ला दारागंज की गंदी गली में रहते थे, दूसरों की सहायता-उदारता पर निर्भर-आश्रित थे, उनसे मिलने-जुलने वालों में थे प्रायः कुछ अपढ़, अधपढ़े, अर्ध-ग्रामीण-अर्ध-नागरिक जो उनके संपर्क से अपनी ही महत्ता बढ़ाने के प्रति सचेत थे। मैं पंत के पास अधिक जाने वालों में था, निराला के पास कम। निराला के चारों ओर जो महादेवी ('महदेव' से विशेषण, जैसे 'स्कूल' से 'स्कूली') बारात होती, उससे मेरी रुचि बिदकती थी।

ये बाहरी बातें हुईं। औदास्य और दैन्य के जिस वातावरण में मैं निराला के विक्षुब्ध और विक्षिप्त रूप को देखा करता था, उसे भूल सकना मेरे लिए शायद कभी संभव न होगा। एक त्रासदी का नायक अपने जीवन-नाटक के अंतिम अंक में प्रवेश कर चुका था। वह त्रासदी ही इसलिए थी कि वह नायक का दायित्व, उसकी निर्मिति, उसकी नियति थी। परिस्थिति से संघर्ष करने की स्थिति जब रही हो, तब रही हो, अब तो उन्होंने उसे जैसे स्वीकार कर लिया था। यह स्वीकार ही जैसे उस परिस्थिति पर एक कटु व्यंग्य हो, उसके प्रति एक तीक्ष्ण दृष्टि मौन विद्रोह। उन्हें आप अपनी संवेदना, करुणा दे सकते थे, पर उन्हें अपने त्रासद अंत की ओर जाने से एक क़दम भी पीछे नहीं लौटा सकते थे।

पंत ने अपने जीवन की लड़ाई आदर्शवादी तलवार से ही नहीं, समझौतावादी ढाल के सहारे भी लड़ी थी, इसलिए वे जीवन-समर में यदि विजयी नहीं हुए थे तो पराजित भी नहीं हुए थे। साथ ही वे जीवन में विभाजित व्यक्तित्व की इकाई थे, यानी भावना-जीवन में उन्हें कुछ भी सहना-भोगना पड़े, उनका सर्जक-व्यक्तित्व एक परिनिष्ठित परिष्कृत शैली में उनके बुद्धि-विवेक-गत विचारों को वाणी देने से उपराम न होता था। निराला के व्यक्तित्व में ऐसा कोई विभाजन न था, इसलिए जिस समय उनका व्यक्तित्व हारा, उस समय उनका सर्जक भी सृजन से पराङ्मुख हो

गया, जिस समय वे संघर्ष में टूटे उस समय उन्होंने अपने कवि-लेखक को भी ध्वस्त-धराशायी पाया। निराला जिस आग में आहुति हो गए, पंत ने उस आग को साधा। आहुति बनना कठिन है तो आग को साधना भी सरल नहीं है। मैंने दोनों को श्लाघा की दृष्टि से देखा था।

महादेवी जी इन दोनों घाटों के बीच में पुल के रूप में थीं। उनका कवि तो उनसे बहुत पहले विदा ले चुका था पर गद्य जब भी वे लिखती थीं, उसमें जीवंतता होती थी, ताज़गी बोलती थी। सृजन जैसे-जैसे उनका कम होता गया था, वे सृजनेतर साहित्यिक कार्य-क्षेत्रों में अधिकाधिक सक्रिय होती गई थीं। उधर उनकी प्रसिद्धि अपने घर को 'ज़ू' बनाने की हो गई थी, जिसमें वे पाले हुए थीं—कुत्ते, बिल्ली, हिरन, खरगोश, मोर, मैना, तोते आदि के साथ एक पीर, बबर्ची, भिश्ती, खर भी।

युनिवर्सिटी हिंदी विभागी घाट की औपचारिक अध्यक्षता थी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की, पर सृजनशील साहित्यकार के नाते वहाँ चौधराहट थी डा० रामकुमार वर्मा की—जैसे पुराने नेपाल में राज चले राजा का पर हुक्म चले राना का—उनके विद्यार्थी, शोधार्थी, बोधार्थी उनकी आज्ञाकारिता में, चाटुकारिता में। किसी समय उनकी गिनती 'वर्मात्रयी' में होती थी, भगवतीचरण वर्मा और महादेवी वर्मा के साथ और वे छायावाद के परम परिष्कृत (Polished) कवि माने जाते थे। पर अब वे कविता से हटकर एकांकियों पर अपने क़लम का ज़ोर आजमा रहे थे, उनके कुछ विद्यार्थी-शोधार्थी तो उन्हें एकांकियों का प्रवर्तक और सम्राट भी मानते थे, हालाँकि उनसे पहले भी हिंदी में एक एकांकीकार हुआ था, जिसका नाम गणेशप्रसाद द्विवेदी था।

युनिवर्सिटी घाट अपने में वैविध्य की एक मिसाल था। वहाँ एक ओर 'रसाल' ऐसी हस्ती थी, जो रीतिकाल के बाद की कविता को कविता ही नहीं मानती थी तो नई कविता को ही कविता मानने वाले जगदीश गुप्त और धर्मवीर भारती जैसे कवि थे और डा० रघुवंश और रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आधुनिकतम मानदंडों से लैस समालोचक।

भारती का परिमली रूप इतना उभर कर लोगों के सामने आ गया था कि उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियों की ओर लोग कम देखते थे। उनकी

प्रतिभा 'स्यूडो' इलाहाबादी नहीं, खाँटी इलाहाबादी थी और उस वर्ग में अपने बाद, कम से कम समय-क्रम में—मैं उनको सर्वप्रमुख मानता था। भारती ने अपने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और 'ठंडा लोहा' से हिंदी गद्य-पद्य को जो आक्रामक ताज़गी दी थी, उसका मैं प्रशंसक था—अभिव्यक्ति में कुछ ऐसा नियमन-संतुलन, चिंतन-भावना में कुछ ऐसी तरतीबी जो पश्चिम के मुख्यत: विज्ञान-युगीन साहित्य में आभासित होती है। मेरी ऐसी धारणा है, उनकी कविता का यह अनुशासन उनके आधुनिक पाश्चात्य काव्य के अध्ययन से आया था जिसका सबूत बाद को 'देशांतर' (१९६०)ने दिया। इस सबसे 'अंधा युग' की भूमिका तैयार हो रही थी।

खाँटी इलाहाबादी प्रतिभा का ज़िक्र आ गया है तो पंडित पद्मकांत मालवीय को कैसे भूलूं? वे मेरे समकालीन थे, पर वे साहित्य संसार से रिटायर हो द्रौपदी घाट से रहे थे। भारती के बाद उस कड़ी में मैं पं० उमाकांत मालवीय को मानता हूं, बीच में 'गोपेश' भी उभरे थे। सी० बी० राव इलाहाबाद से बाहर जाकर पलुहाए। जब लौटे अपने कवि को बाहर ही छोड़ आए थे, उनका गद्यकार मुखर हो गया था।

दुनिया के साहित्य का इतिहास देखें तो स्वप्न और सत्य दोनों से उच्च कोटि का काव्य लिखा गया है—आकाश की तरफ़ भी देखकर, धरती की तरफ़ भी देखकर। एक की अतिशयता पर दूसरे का विद्रोह भी बराबर हुआ है। आकाशी उड़ान और धरती गड़ान दोनों अतिशयताएँ हैं। आदर्श स्थिति यह है कि गड़ा रहे ज़मीन में, उठा रहे आसमान में, धरहरे या मीनार के समान।

हिंदी में शताब्दी के मध्य दशकों में जो नई कविता का आंदोलन चला, वह वास्तव में छायावादी अति ऊर्ध्व की प्रतिक्रिया में अति समता का आंदोलन था। एक अर्थ में यह आंदोलन, गो आंदोलन की शक्ल में हरगिज़ नहीं, मेरी कविता के साथ ही आरंभ हो गया था, पर 'आउट-साइडर' की ओर इन साइडर' की नज़र नहीं जाती। ख़ैर!

प्रयाग में इस 'नए आंदोलन की केन्द्र 'परिमल' नामक संस्था थी! 'परिमल' की स्थापना के समय मैं मौजूद था। उसकी सौवीं बैठक मेरे मकान (१७ क्लाइव रोड, इलाहाबाद)की छत पर हुई थी। मैं उसका सदस्य कभी

नहीं रहा, निमंत्रित सदा उसकी सार्वजनिक बैठकों में किया जाता था। हर संस्था के कुछ नियम, कुछ मर्यादाएँ होती हैं, सदस्यता के अर्थ हैं—उनसे बँधना। मैं नहीं बंधा। आंदोलन, प्रचार, विज्ञापन, वकालत, गुटबंदी दो-चार लोगों को, या दो-चार विचार-सिद्धांतों को, थोड़ी देर के लिए, उभार-उछाल भले ही दें, पर सृजन का आंतरिक मूल्य निर्धारित करने के लिए काल जिस मानदंड का प्रयोग करता है, उसे बनाने में ये सब योग नहीं देते। आंदोलन और संस्थाओं का उपयोग अथवा शोषण (मेरा मतलब 'एक्सप्लायट' करने से है, जो शोषण से शायद कम स्वार्थ-व्यंजक शब्द है) भी कुछ इने-गिने लोग कर पाते हैं, गो उनमें कुछ प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। 'परिमल' से लाभ उठाने वाले चंद लोगों के नाम छिपे नहीं हैं। मुझे संस्था से कुछ लेना नहीं था, और मैं संस्था को कुछ देने योग्य हूँ, इसमें किसी सदस्य को शायद ही विश्वास हो।

वस्तुतः यह नई उभरती पीढ़ी की संस्था थी, जो एक ओर तो संकीर्ण राजनीति-पीड़ित प्रगतिवादिता की विरोधिनी थी और दूसरी ओर उस विघटित और अभिनव छायावादिता की, जिसकी स्वप्निलता, आदर्शवादिता, भावातिशयता और छंद-रागमयता अब उनके चारों ओर के कटु सत्यों की दुनिया से दूर की चीज़ लगने लगी थी। इस नई पीढ़ी को अपने से पहले की पीढ़ी के सब लोग इन्हीं उपर्युक्त विरोधी शिविरों में दिखाई पड़ते थे। स्वाभाविक है कि अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए, अपने लिए रास्ता बनाने के लिए, यह पीढ़ी तथाकथित 'बड़ों' की उपेक्षा ही नहीं करती थी, बल्कि एक सूक्ष्म सुनियोजित ढंग से उनका उपहास करना, उन पर प्रहार करना, उन्हें नीचा दिखाना और उन्हें गिराना भी चाहती थी—गो साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य किसी के गिराने से नहीं, अपनी कृतियों की कमज़ोरी से गिरता है। साथ ही कुछ पुराने संस्कारों से, या पुरानों के नाम-स्थान का अपने हित में कुछ उपयोग करने के लिए वे उन्हें पूछते भी थे। 'नई कविता', डा० जगदीश गुप्त और डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादकत्व में निकली तो उसका प्रवेश-लेख पंत जी से लिखाया गया। १९५८ में परिमल का जो द्वि-दिवसीय वार्षिक उत्सव हुआ उसका सभापतित्व करने को 'दिनकर' जी बुलाये गये। भारती, विजयदेव नारायण साही, केशवचन्द्र

वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त, डा० रघुवंश 'परिमल' से विशेष रूप से संबद्ध हुए।

रेडियो घाट पर दो प्रतिभाएँ थीं, पंत के अतिरिक्त—भारत भूषण अग्रवाल और डा० प्रभाकर माचवे—दोनों 'तार सप्तक' के कवि थे। वे अपने को 'अज्ञेय' का शिष्य तो न मानते थे, पर अज्ञेय' अपने को उनका गुरु अवश्य मानते थे, गुरु नहीं तो पथ-प्रदर्शक अवश्य। उनमें से एक ने जब गुरु से विद्रोह किया तो गुरु ने बड़ी डाँट-भरी कविता लिखकर उसकी भर्त्सना की। अग्रवाल के काव्य में चुटीला व्यंग्य था। माचवे, लगता था, कविता को सयत्न कुछ असाधारण बनाते हैं। अपनी प्रतिभा को बहुत दिशाओं में बिखेरने से वे एक स्थान पर विशिष्टता पाने से वंचित रह गए।

अज्ञेय बहुत इलाहाबाद में रहे, बहुत कुछ यहाँ उन्होंने किया, 'प्रतीक' निकाला, 'जवाहरलाल नेहरू अभिनंदन ग्रंथ' संपादित किया, बहुत कुछ अपना सृजनशील साहित्य भी लिखा होगा। पर वे यहाँ के होकर न रह सके। उनमें अंतर्राष्ट्रीयता और यायावरी के तत्व इतने प्रबल हैं कि वे एक देश से दूसरे देश, एक नगर से दूसरे नगर में बसते-उखड़ते रहते हैं। इलाहाबाद आकर फिर कोई इलाहाबाद से जाता है? वे यहाँ आकर यहाँ से चले गए, यह उनकी या तो कोई ख़ासियत बताता है या उनमें कुछ कमी। कल्पना आप करें! अज्ञेय, माचवे, अग्रवाल 'परिमल' के निकट न आ सके। वे लोग प्रयोगवादी थे; 'परिमल' का आंदोलन उनसे चार क़दम आगे नई कविता का था। 'अज्ञेय' को इलाहाबाद से उखाड़ने में 'परिमल' ने भी तो कोई भूमिका न अदा की थी?

ख़ुसरू बाग़ के घाट पर उपेन्द्रनाथ अश्क थे—कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, निबंधकार, संपादक, सदा-बीमार मगर सदा लिक्खाड़। उनकी शायद ही कोई किताब आप पढ़ें जिसमें उनकी गंभीर बीमारी का ज़िक्र न हो। सच हो तो उनके दुर्निवार कलम-संचार पर उनके आगे नत-मस्तक होना पड़ेगा। साहित्य आधी कला है, आधा व्यापार, इसको उन्होंने ख़ूब अच्छी तरह समझा था। नीलाभ प्रकाशन उनका अपना था। उदीयमान लेखकों से अश्क हमेशा संबद्ध रहे। कुछ लोगों का ख़्याल है कि वे उनके पोषक थे, कुछ का कि वे उनके शोषक, अपना-अपना अनुभव। खेवट

वे जीवट के थे और हर हवा को अपने पाल के अनुकूल कर लेने में माहिर।

अश्क के प्रतिलोम थे इलाचंद्र जोशी। कलकत्ता बदर होकर, पता नहीं किस कारण, इलाहाबाद में आकर बसे थे। इलाहाबाद में उन्होंने कवि-रूप में प्रवेश किया था। बाल-संस्कार तो वे छायावादी कवियों से लाए थे, कविता-संस्कार भी। आते ही उनका एक काव्य-संग्रह निकला था। पर इलाहाबाद में कवि-रूप में इतने बड़े-बड़े दिग्गज डटे थे कि वे उभर न सके और उपन्यास-विधा की ओर झुके। गद्य-शैली वे अपने बड़े भाई हेमचन्द्र जोशी के साथ 'विश्वमित्र' के संपादन-काल में ही परिमार्जित कर आए थे। स्वयं संघर्ष कर आगे बढ़ने का माद्दा उनमें न था। उन्हें आगे बढ़ाने वालों में थे धर्मवीर भारती और गंगाप्रसाद पांडेय। पांडेय उन्हें 'आदरणीय जोसी जी' कहकर संबोधित करते थे। साथ-संपर्क भी 'जोशी जी' का इन्हीं दो तक सीमित था। जोशी जी ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अपने चरित्र-चित्रणों में विशेष स्थान दिया। मेरी ऐसी धारणा है, भारती ने 'गुनाहों के देवता' में जोशी जी की कला से काफ़ी प्रेरणा ली।

अमृतराय प्रेमचंद के सुपुत्र की ख्याति और उग्र प्रगतिवादी का बाना पहनकर इलाहाबाद आए थे। सुनते हैं कि इलाहाबाद की मातदिल आबो-हवा ने उनको बहुत साधा है। आम-फ़हम, बामुहाविरा और उर्दू-हिंदी की गंगा-जमुनी शैली से वे खिलाड़ी की तरह खेलते थे। 'क़लम का सिपाही' से जीवन-चरित साहित्य का उन्होंने एक मानदंड स्थापित किया। पर प्रगति-शीलता के समर्थन में उनको श्रीकृष्णदास और भैरवप्रसाद गुप्त से आगे कोई न मिला।

नरेश मेहता उन दिनों इलाहाबाद नए-नए आए थे और अपनी कोई प्रकाशन-संस्था खोलने के फेर में थे, इलाहाबाद में नवागंतुकों को यह रोग बड़ी जल्दी लगता है। कहानीकार मार्कंडय के भी कोई पत्रिका निकालने, कोई प्रकाशन-संस्था खोलने के असफल प्रयासों की याद लोगों को न भूली होगी।

इलाहाबाद तो अशरण की शरण है। शमशेर भी बारह घाटों का पानी पीकर-फिर इलाहाबाद आ गए थे और किसी घर के किसी कोने में अपनी चित्रकला का अभ्यास करते थे। याद है, एक बार पंत जी ने उनके चित्रों

की एक प्रदर्शनी का उद्घाटन किया था। पुरानी पीढ़ी के होकर भी उनके नई कविता के मसीहा माने जाने में अभी दस-पन्द्रह बरसों की देर थी।

लक्ष्मीकांत वर्मा इलाहाबाद की किसी कम जानी-मानी बस्ती में रहते थे, पर अपनी काव्य-प्रतिभा के अदम्य विश्वासी थे, पैना गद्य भी उनके जैसा कम लोग लिख सकते थे। साहित्य में उनके प्रति न्याय नहीं हुआ और समय ने उनको बहुत तोड़ा, पता नहीं, आजकल कहाँ हैं, कहाँ ग़ायब हो गया है उनका साहित्य !

इलाहाबाद भी क्या अजीबोग़रीब शहर है ! यह इसी शहर में सभव था कि एक तरफ़ तो यहाँ ऐसी नई कविता लिखी जाय जिस पर योरोप और अमरीका को रश्क हो और दूसरी तरफ़ यहाँ से एक ऐसी पत्रिका प्रकाशित हो जिसका आधुनिकता से कोई संबंध न हो—संपादकीय को छोड़कर। पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी 'सरस्वती' को द्विवेदी युग से भी पीछे ले जाकर जिलाए जा रहे थे, आश्चर्य इस पर था।

और अंत में इलाहाबाद का एक आदमी और था जिसे आप वहाँ की हर सभा-सोसाइटी-गोष्ठी में अवश्य पाते। उसका नाम था वाचस्पति पाठक। कभी उसने कहानियाँ लिखी थीं, अब वह भारती भंडार प्रकाशन का प्रबंधक था। बनारस का था, बनारसी पान से हर समय मुख रंजित किए। 'स' को 'फ़' बोलता था, यानी 'प्रसाद' को 'प्रफ़ाद' कहता था। कुछ बहरा था इस कारण वह सब को बहरा समझता था और इतने ज़ोर से बोलता था कि किसी भी जल्से में उसकी आवाज़ को आप अनसुनी नहीं कर सकते थे। भारती भंडार का कोई लेखक—बड़े से बड़ा भी, जिन में पंत-निराला भी थे—उसकी अवहेलना नहीं कर सकता था, क्योंकि लेखकों की रायल्टी तो उसकी मुट्ठी में रहती ही थी, वह लेखकों को परेशान करने के बहुत से तरीक़े जानता था। दुर्भाग्य से मैं भी उसके चंगुल में था।

ऐसा था वह साहित्यिक परिवेश जिसमें मैं अपने को उन दिनों पा रहा था। पता नहीं, इसमें 'आउट साइडर' समझे जाने के लिए आप मुझसे ईर्ष्या करेंगे, या मुझे सहानुभूति देंगे।

मेरे इंग्लैंड के लिए प्रस्थान करने के पूर्व ही जिस कविता को 'प्रयोग-शील' के नाम से अभिहित किया जाता था, उसने 'नई कविता' का नाम ले

लिया था। प्रथम 'तार-सप्तक' के प्रायः उपेक्षित रहने —और आठ वर्ष के बाद भी उसके दूसरे संस्करण की माँग न होने के बावजूद 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित कर दिया गया था, लौटने पर नवयुवक कवियों से बातचीत करने के दौरान, 'भोगा हुआ यथार्थ', 'क्षण की अनुभूति', 'लघु मानव की अभिव्यक्ति', 'अर्थ की लय' आदि टुकड़े उनके द्वारा बराबर प्रयोग किए और दुहराए जाने लगे। उसी साल 'नई कविता' का पहला अंक निकला। उसकी कविताएँ मुझे उन कविताओं से बहुत दूर नहीं लगीं, जैसी कि मैं छह हजार मील की दूरी पर बैठा पिछले दो वर्षों में लिखता रहा था, मेरा मतलब है मुक्तछंद वाली कविताओं से। अमूर्त सिद्धांतों की बहस में तो मैं न पड़ा था, पर मेरा ऐसा ध्यान था कि हिंदी की काव्य-मनीषा जिन भाव-विचारों से आंदोलित हो रही थी, उसके स्पंदनों का अनुभव मेरी कविता ने भी किया था। नए आंदोलन से मैं भी किसी प्रकार संपृक्त हूँ, इससे अधिक संतोष इस बात का था कि हिंदी की मनीषा एक संगठित इकाई है—उसमें कहीं कुछ सबल-सशक्त घटित होगा तो उसके प्रभाव से उसका दूर-सुदूर कोई कोना भी वंचित न रहेगा।

भाषा से संपृक्त होने का अर्थ मेरे लिए है—समाज से संपृक्त रहना। भाषा यदि समाज के चिंतन-मनन, गति-विधि, विकास का अपरिहार्य माध्यम है तो कोई भी सप्राण लेखक, चाहकर भी, चूंकि वह भाषा के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है, समाज से असंपृक्त नहीं रह सकता।

नए आंदोलन से मेरे संपृक्त होने की यह व्याख्या आपको न भाए तो आप यह भी कह सकते है कि मैं सींग कटाकर बछड़ों में शामिल होना चाहता हूँ और मैं इसपर कोई आपत्ति न करूँगा, आपत्ति करना होगा तो करेंगी मेरीं 'बुद्ध और नाचघर' से लेकर 'जाल समेटा' तक की कविताएँ।

५४-५५ के युनिवर्सिटी सत्र की मेरी स्मरणीय यात्राएँ थीं कलकत्ता और पटने की और सत्रांत पर ग्रीष्मावकाश में नेपाल की।

कलकत्ता में 'भारतीय संस्कृति संसद' नाम की एक संस्था है। उससे मेरा पुराना संबंध था। वह प्रति वर्ष बड़े पैमाने पर एक कवि-सम्मेलन कराती थी और मुझे जरूर बुलाती थी। विदेश में रहने के कारण दो-तीन

वर्षों से मैं उसमें भाग न ले सका था। संसद की ओर से प्रस्ताव आया कि वह केम्ब्रिज से मेरे डाक्टरेट लेने के उपलक्ष्य में मेरे सम्मान में एक आयोजन करना चाहता है।

प्रस्ताव मुझे कुछ अजीब-सा लगा। मेरी नई उपलब्धि का सम्मान जहाँ होना चाहिए था, वहाँ तो मुझे अँगूठा दिखाया जा रहा था और हिंदी की एक साहित्यिक संस्था मेरा सम्मान करना चाहती थी।

मैंने उसे लिखा, 'यदि संसद मुझे औपचारिक सम्मान देने का आग्रह न करे और आयोजन को एक विशुद्ध कवि-सम्मेलन का रूप दे जिसमें मुझे अपनी नई कविताएँ सुनाने का अवसर दिया जाय तो मुझे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार्य होगा।' संसद मान गया।

आधुनिकता के चातुर्य-चटुल युग में लोग एक ही तीर से कई लक्ष्य भेदना चाहते हैं। मंच पर कई मूर्तियाँ ऐसी थीं जिनका संबंध पत्रकारिता, युनिवर्सिटी-शिक्षण तथा बंगाल के सामाजिक जीवन से था। विदेशी डाक्टरी का ऐसा सुरखाब का पर मैं लगाकर गया था कि उसके लिए बधाई तो मुझे दी ही जाने वाली थी, फिर भी आयोजन का मुख्य बल मेरी नई कविताओं के पाठ पर रहा। मुझे देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरी नई कविताएँ भी जन-मानस को छूती हैं। अधिक कहना मेरे लिए उचित न होगा।

उस आयोजन की एक खास बात मुझे आज तक याद है। उन दिनों भारत सरकार के डाक-तार संचार मंत्री रफ़ी अहमद क़िदवई कलकत्ता में थे। संसद ने उन्हें भी आमंत्रित कर दिया था और वे आने को तैयार हो गए थे। मुझसे उनका व्यक्तिगत परिचय न था पर मेरे नाम से शायद वे अपरिचित न थे।

हमारे गुलाम-संस्कारी देश में कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि शुद्ध साहित्यिक समारोहों में भी यदि राजनीतिक नेता पधार जायँ तो लोगों का सारा ध्यान उन्हींकी ओर खिंच जाता है—प्रबंधक, पत्रकार, फ़ोटोग्राफ़र, ऐरे-ग़ैरे—सब उन्हींके पीछे-आगे, बाएँ-दाएँ लुलुआने लगते हैं। क़िदवई साहब के आने पर भी यही हुआ, पर उस दिन उनके व्यवहार से मुझे उनके बड़प्पन का एक अचूक सबूत मिला। शायद बर्क ने कहीं लिखा है कि अगर बड़े आदमी के साथ बरसात से बचने के लिए तुम्हें किसी छाया में खड़े होने

का अवसर मिले तो वह इतने थोड़े समय में भी अपने बड़प्पन का कोई-न-कोई सबूत तुमको दे देगा। स्वाभाविक था कि मंत्री जी के आने पर लोग उन्हें मंच पर ले जाते और वे चले भी जाते। क़िदवई आए तो विना किसी प्रदर्शन के, सहज रूप में, झट से श्रोताओं के बीच बैठ गए। अब क्या था, मंचस्थ लोग नीचे उतर पड़े, संसद के अधिकारी, उत्सव के प्रबंधक उन्हें घेर कर उनसे ऊपर बैठने का आग्रह करने लगे। पर वे उसके लिए तैयार न हुए बोले, 'साहब-यह अदीबों और शायरों का स्टेज है। मैं ठहरा सियासती गुंडा। मैं इस पर पाँव रखने की जुर्रत नहीं कर सकता।' काश, क़िदवई जैसे गुंडे कुछ और होते!

संसद ने मुख्य सम्मेलन के अतिरिक्त दो गोष्ठियों का भी आयोजन किया था, एक बंगाल क्लब में, जिसमें मेरे समवयस्क बंगला के कुछ साहित्यकारों को आमंत्रित किया गया था, दूसरी किसी संभ्रांत महिला के घर पर, जिसमें कुछ नवयुवक कवि बुलाए गए थे।

पहली गोष्ठी में बातें शुरू हुई नहीं कि रवीन्द्र नाथ टैगोर पर आ गई—बँगला लेखकों से बातचीत करने का जब-जब अवसर मिला है, मैंने देखा है कि टैगोर की चर्चा कहीं न कहीं ज़रूर आ जाती है, यहाँ तो आनी ही चाहिए थी, मेरा परिचय ईट्स-साहित्य के विशेष स्वाध्यायी के रूप में दिया गया था। लोग टैगोर और ईट्स के व्यक्तिगत संबंध को जानते थे, और उनके संबंध में कुछ सही-ग़लत बातें—ईट्स ने गीतांजलि का अनुवाद किया था (उन्होंने केवल अनुवाद सुधारा था), उसकी भूमिका लिखी थी, टैगोर को नोबेल पुरस्कार दिलाया था (हालाँकि उन्हें खुद तब तक यह पुरस्कार नहीं मिला था) और यह कि वे टैगोर के समान रहस्यवादी थे। यह धारणा भारत के कुछ-पढ़े, कुछ-सुने शिक्षित, शायद ज़्यादा ठीक होगा कहना अर्द्धशिक्षित, लोगों में इतनी व्यापक है कि मुझे बीसों जगह इसका प्रतिवाद करना पड़ा है। टैगोर और ईट्स के संबंध में समता का इतना आकर्षण नहीं था, जितना विषमता का। इस गोष्ठी में भी मैंने कहा कि टैगोर निःसंशय आस्था और वांछित की प्राप्ति के कवि हैं, ईट्स के सामने सर्वदा प्रश्न खड़े रहे, ईट्स की खोज हमेशा जारी रही। टैगोर का बल उपनिषदों से लेकर संत कवियों तक की परंपरा है, ईट्स ने उन्नीसवीं सदी

के उत्तरार्द्ध में व्याप्त विज्ञानपोषित संदेहवाद के प्रभाव में ईसाइयत के भी सचेत संस्कारों को नकार दिया, और सर्वथैव अप्रतिबद्ध मानव के जग-जीवन-काल संबंधी सौ-सौ सवालों का जवाब ढूंढ़ने के लिए वे कहाँ-कहाँ नहीं मारे-मारे फिरे। प्रश्न पूछा जा सकता है कि उन्होंने कुछ समाधान पाया? ईट्स ने न समाधान पाया, न तलाश छोड़ी। टेनीसन की 'युलिसीज़' शीर्षक कविता की पंक्ति है,

To strive, to seek to find and not to yield.

(यत्न करना, खोजना, पाना और हार न मानना)

रोमें रोलाँ ने इस पंक्ति को अपने किसी उपन्यास का मोटो बनाया, उसमें एक शब्द जोड़कर, पर उसकी प्रखरता सौ गुनी बढ़ाकर,

To strive, to seek, *not* to find and not to yield.

(यत्न करना, खोजना, न पाना और हार न मानना)

यह वाक्य मोटो के रूप में ईट्स की जीवनी को भी दिया जा सकता है। वे जीवन भर ऐसी लड़ाई लड़ते रहे जिसमें न वे विजेता हुए और न उन्होंने पराजय स्वीकार की। इस कारण वे उस मानव के सहज प्रिय हो जाते हैं जिसे जीवन अनवरत समर के रूप में प्राप्त हुआ है। टैगोर की शांति या तो सहज पलायन है या दुर्लभ साधना, पर आज के साधारण मनुष्य का साधारण भाग्य तो वह संघर्ष है, जिसमें विजयी होना तो संभव नहीं, पर वह अपने हठ से, ज़िद से, रगड़ से, दृढ़ता से अपनी पराजय को भी असंभव कर सकता है। मैंने कहा, 'ईट्स और टैगोर के परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों का विश्लेषण मैंने अपने शोध-प्रबंध में किया है, कभी प्रकाशित हो तो देखिएगा।'

गोष्ठी में जिन बँगला साहित्यकारों और कवियों ने भाग लिया था, उनके नाम मुझे याद नहीं हैं, सिर्फ एक का छोड़कर—श्री बुद्धदेव बसु का। मैं इनको किसी अंश में अपना बंगाली 'काउंटरपार्ट' (प्रतिरूप) समझता हूँ—उम्र में मुझसे केवल एक वर्ष दो दिन छोटे, उन्होंने भी अंग्रेज़ी लेकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, जादवपुर युनिवर्सिटी में तुलनात्मक साहित्य (अंग्रेज़ी-बंगला) के प्रोफ़ेसर थे, लेकिन उन्होंने अपनी सृजन-प्रतिभा का लाभ बँगला को दिया था—कवि, उपन्यासकार, समा-

लोचक, निबंधकार, बाल-साहित्य-प्रणेता-अनुवादक, संपादक—सभी रूपों में वे बँगला साहित्य-संसार की ख्यातिप्राप्त विभूति थे। शरीर से दुबले-पतले, क़द में नाटे, रंग में साँवले, बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा ललाट, कुछ चौड़ी नाक, फैला मुँह, छोटी ठोढ़ी—देखने में वे मुझे प्रतिभावान, मौलिक चिंतक और परिश्रमी लगे थे। वे भी, मुझे बताया गया था, हाल ही में किसी अमरीकी युनिवर्सिटी में एक वर्ष अंग्रेजी साहित्य के अतिथि-प्रोफ़ेसर के रूप में काम करके स्वदेश लौटे थे। बंगला न जानने के कारण मैंने उनका साहित्य नहीं पढ़ा था, पर अपने बंगाली और बँगला जाननेवाले मित्रों से उनके विषय में बहुत कुछ सुन रक्खा था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, पर उनका विशेष योगदान कविता के क्षेत्र में माना जाता था। लोगों का कहना था कि रवीन्द्र मेघ-मंडित काव्य नभोमंडल को भेदना बहुत कठिन काम था, और यह बुद्धदेव बसु और उनके कुछ साथियों ने किया था। आधुनिक यौरोपीय साहित्य और विचारधारा के विदग्ध अध्येता होने के कारण, अपनी नवीनता के लिए उनको वहीं से प्रेरणा और शक्ति मिली थी, सिद्धांत-रूप में फ़ायड से, उदाहरण-रूप में टी० एस० इलियट से -- उनकी अभूतपूर्व कविताओं से, और उनकी काव्य-संबंधी नई स्थापनाओं से। मैं यह कहने का अधिकारी नहीं हूँ कि बुद्धदेव इलियट को कितना और किस रूप में बंगला काव्य के लिए ग्राह्य बना सके, अथवा बँगला काव्य पर इलियट का क्या प्रभाव पड़ा। मेरी ऐसी धारणा है कि कवि इलियट न तो स्थानांतरणीय हैं न अनुकरणीय—कारणों की विवेचना के लिए एक स्वतंत्र निबंध आवश्यक होगा—पर समालोचक इलियट किसी भी काव्य-मान्यता को आमूल हिला देने की क्षमता रखते हैं जिसके फलस्वरूप मौलिक सृजन निश्चय बदल जाता है।

इलियट ने, संभवतः एज़रा पाउंड के विचारों से सहमत होकर, कविता को उच्चतम बौद्धिक व्यवसाय माना। इसके बाद कवि से, और पाठक से भी, सम्यक अध्येता होने की माँग स्वाभाविक थी। काव्य-रचना में बौद्धिकता का योगदान पहले भी नकारा नहीं गया था, पर प्रमुखता प्रेरणा, अनुभूति और काव्य-वस्तु को दी जाती थी, इलियट के साथ प्रमुखता काव्य-रूप को मिल गई, जिसकी अति में कविता बौद्धिक व्यायाम मात्र बनकर रह

जा सकती थी। पर जब काव्य-रूप अति परिचय के कारण अवज्ञा पाने लगे, अनाकर्षक और प्रभावहीन हो जाए, तब काव्य को गतिशील रखने के लिए, उसे बदलना आवश्यक हो जाता है। और, यह कुछ उल्टी प्रक्रिया भले ही प्रतीत हो, लेकिन है यह सत्य कि काव्य-रूप बदलने से काव्य-वस्तु भी अंततः बदल जाती है। इलियट ने काव्य-रूप को भी बदला, काव्य-वस्तु को भी, और उन्होंने अंग्रेज़ी काव्य को निश्चय ही एक नया मोड़ दिया, पर उनकी अति बौद्धिकता उनकी सीमा बन गई। काव्य-वस्तु के परिवर्तन में इलियट स्वयं तो अतीतोन्मुख और रूढ़िवादी बने, पर उनके अन्य समकालीनों और परवर्तियों पर फ़ायड हावी होते चले गए।

ईट्स की स्थिति उनसे भिन्न थी। उन्होंने अपने काव्य-जीवन के प्रारंभिक काल में आयरी तत्व लाकर रूमानियत को नई आभा दी थी, परंतु रचना-विधान उन्होंने उत्कृष्ट रूमानी कवियों का ही स्वीकार कर लिया था। बुद्धि को धार देने वाली अकादमिक शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी पर काव्य-प्रतिभा उनकी इतनी अग्रधर्षी थी कि उसने उनकी अप्राप्ति को भी सौभाग्यपूर्ण उपलब्धि माना। उन्होंने अपनी पूरी सहानुभूति उस अ-बौद्धिक आंदोलन को दी, जो उन्नीसवीं सदी की अति बौद्धिकता की प्रतिक्रिया में भीतर-भीतर पक रहा था। उन्होंने अपने को उस खुली, भोली, सहज विश्वासी मनःस्थिति के निकट रखने का प्रयत्न किया, जिसमें जीवन के उच्चतर सत्य और गहनतम मर्म स्वतः उन्मेषित होते हैं। काव्य-रूप को उन्होंने उसी सत्य और मर्म से निरूपित होने को छोड़ दिया। काव्य-जीवन के विकास-क्रम में, और उसके लिए उन्हें आधी शताब्दी का समय मिला था, उनमें बौद्धिकता भी जगी, यथार्थ ने भी उन्हें घूरा, पर कविता को कुछ प्राप्ति, कुछ उन्मेष, कुछ मंत्रवत् वे जीवन के अंत तक मानते गए। उनके समस्त काव्य में कहीं प्रतीक में, कहीं रूपक में, कहीं संकेत में, कहीं संदर्भ में, कहीं ध्वनि-लय में ही, कुछ अव्यक्त है जो अव्याख्येय है और संभवतः उसका सतत आकर्षण।

सम्यक अध्येता, इलियट के शब्द-शब्द की व्याख्या कर सकता है, पर इसके बाद उसके लिए इलियट-काव्य का आकर्षण समाप्त भी हो जायगा, इलियट की बौद्धिक सूक्ष्मता और रुचि-विस्तार से वह एक बार चमत्कृत

भले ही हो ले। यही उनकी सीमा है, जिसकी ओर मैंने ऊपर संकेत किया है। साधारण पाठक के लिए वे अग्राह्य हैं, अधीत के लिए अस्थायी रूप से आकर्षक। आश्चर्य नहीं, और यह मेरा नहीं, पाश्चात्य आलोचकों का कथन है, निश्चय ही किसी आधार पर, कि समय के साथ ईट्स की लोकप्रियता विद्वानों और साधारण पाठकों, दोनों में बढ़ी है, इलियट की घटी है। अंग्रेज़ी काव्य के विकास-इतिहास में दोनों का महत्त्व है। प्रतिभाओं की न तुलना ठीक होती है, न उनकी पुनरावृत्ति होती है, न उनकी नक़ल की जा सकती है। हाँ, उनसे सीखा बहुत कुछ जा सकता है।

बुद्धदेव ईट्स को उतनी सहानुभूति और समझदारी नहीं दे पाते थे, जितनी इलियट को, विशेषकर उनके फ़ायडीय प्रसार को; मेरे लिए इलियट न उतने ग्राह्य थे, न उतने आकर्षक जितने ईट्स; मैंने ईट्स-काव्य का अध्ययन पिछले पचीस वर्षों से किया था और उसमें मेरी रुचि अब भी बनी हुई थी। मैंने यह बात केम्ब्रिज में भी नोट की थी, जो प्रोफ़ेसर इलियट के प्रशंसक थे, वे ईट्स के नहीं, जो ईट्स के, वे इलियट के नहीं। लीविस बात-बात पर इलियट का नाम लेते थे, हेन से दो वर्षों में शायद ही कभी इलियट पर चर्चा चली हो।

ऐतिहासिक क्रम में, मुझे यह मानने में कोई आपत्ति न थी कि जहाँ तक अंग्रेज़ी काव्य का संबंध है, इलियट ईट्स के आगे के क़दम हैं। बुद्धदेव को इस पर विनोदपूर्ण आश्चर्य था, मेरी कुछ कविताएँ सुनने के बाद, कि मेरा सर्जक भी ईट्स के साथ, वह भी अधिक पूर्व-ईट्स के साथ, बँध गया है, जबकि वे इलियट-परवर्ती फ़ायडवाद को भी पीछे छोड़, सद्यः प्रस्फुटित अमरीकी बीट-कविता को भी अपनी सहानुभूति दे सकते थे। संभवतः उन्हें अपने अमरीकी प्रवास में इस आंदोलन को निकट से देखने का अवसर मिला था। केम्ब्रिज में—आक्सफ़र्ड-केम्ब्रिज अतीतोमुखी नहीं तो समय से कुछ पीछे ही रहने में गर्व-गरिमा का अनुभव करते हैं, सामयिक हवा के हर झोंके के साथ उड़ने में नहीं—बीट-आंदोलन की कोई चर्चा मैंने न सुनी थी। नवयुवक नए कवि फ़ायडीय परंपरा में ही नए-नए प्रयोग कर रहे थे; बीट—नई कविता का कोई आंदोलन-जैसा वहाँ मैंने न देखा था। लेकिन भारत के साहित्य-सचेत नगरों में इस आंदोलन की [illegible]

चुकी थी। उसे मैंने प्रयाग में अनका था, अब कलकत्ता में, (और आगे चलकर काठमांडू में भी)।

दूसरी गोष्ठी में अधिक लोग नहीं थे—केवल दस-बारह नवयुवक, उनके चेहरों पर असंतोष, बेचैनी, आक्रोश, उनके स्वर में अनादर, विद्रोह, प्रखरता। उनके समक्ष मुझे ऐसा लगा जैसे एक पुराना, बीता युग नए, नई संभावनाओं से उच्छल युग के सामने लाकर खडा कर दिया गया है। प्रत्याशा यहाँ आदर की नहीं करनी, आरोप-आलोचना के लिए तैयार होना है। बातें यहाँ भी रवीन्द्रनाथ से आरंभ हुईं पर उनको सम्मान देने की अथवा उनके प्रति ऋणी या कृतज्ञ होने की भावना किसी में नहीं, जैसे वे बँगला के लिए कोई दुर्भाग्य सिद्ध हुए हों, जैसे उनके कारण बँगला की नई प्रतिभाओं को उभरने में, बंगाल के बाहर उनके ज्ञात-विज्ञापित होने में बाधा खड़ी हुई हो, जैसे उनका समस्त वाङ्मय एक बड़ा सुखद, स्वप्निल, किंतु क्षयकारी पलायन हो, जैसे उन्होंने बँगला भाषा को कांतासंमित, मृदुल और लिजलिजी वना डाला हो, जैसे उसी के फलस्वरूप बंगाल के अकाल जैसी दुर्घटना बँगला में अमुखरित रह गई हो, आदि-आदि (क्या आज बंगाल की भूखी पीढ़ी उसी उपेक्षित भूख का प्रायश्चित करने के लिए यौन-बुभुक्षा को मुखरित कर रही है ?)

प्रसंगवश मैंने बताया कि बंगाल के अकाल पर मैंने एक लंबी कविता लिखी थी जिसका अनुवाद भी पुस्तक-रूप में बंगला में प्रकाशित हुआ था; भूपेन्द्र नाथ दास ने अनुवाद किया था; पर उसे किसी ने नहीं पढ़ा था। मेरा यह समझाने का प्रयत्न बेकार था कि बड़ी-से-बड़ी प्रतिभा भी देश-काल-भाषा, सामयिक भाव-विचारधारा से प्रभावित और परिसीमित होती है। यदि रवीन्द्र के विरुद्ध उनके जीवन-काल में ही विद्रोह उठ खड़ा हुआ था—बुद्धदेव और उनके सहयोगियों की रचनाओं में—तो भी श्रेय रवीन्द्र नाथ को देना पड़ेगा। जब कोई सबल शक्ति सामने हो, तभी विद्रोह खड़ा होता है, तभी उसमें बल आता है, तभी उसमें तेजी आती है, हमारे यहाँ कहावत है कि खूंटे के बल बछड़ा कूदता है। नवयुवकों की राय में बुद्धदेव आदि ने जो क्रांति की थी, वह भी अपूर्ण थी, बुद्धदेव स्वयं सौंदर्यवादी थे, बादलेग़ (उन्नीसवीं सदी के मध्य का फ्रांसीसी कवि जिसका अति सौंदर्यवाद अस्वस्थ और रुग्ण

माना जाता है) से प्रभावित, जिसका अनुवाद भी उन्होंने किया था, उन्होंने केवल सौंदर्य का स्तर बदला था, उनकी भाषा में भी साहित्यिकता है, कृत्रिमता है, प्रेमेन्द्र मित्र आदि वामपक्षी थे, प्रगतिवादी सिद्धांत से बँधे। जीवन और यथार्थ को खुलकर बोलने का समय अब आया है। मध्ययुगीन रूढ़ियों, दासता की लंबी परंपरा और उसके संस्कारों ने इस देश के मनस् को इतना दमित रखा है कि उसे अपने को विमुक्त, व्यक्त करने का कभी अवसर ही नहीं आया। पश्चिम में क्या हो रहा है, अभी तो आप देखकर आए होंगे, पूर्व अब पश्चिम का पिछलगुआ बनकर नहीं चल सकता, उससे काँधा से काँधा मिलाकर चलेगा, पश्चिम का मनस् भी ईसाइयत से दमित था, उसके विरुद्ध क्रांति से ही रूमानियत जगी थी, बंधन कुछ ढीले हुए, पर वह स्वप्नों में खो गई, आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य को फिर से आज़ाद किया है, विज्ञान ने मनुष्य को नया यथार्थ-बोध दिया है। व्यक्ति को पुरा-संगठित समाज का अंग नहीं बनना है, नए व्यक्तित्वों का, नए अस्तित्वों का समाज बनाना है। भविष्य पुराने का विस्तार नहीं होने जा रहा है, बल्कि पुराने से टूटकर एक नवारंभ। इस नए अभियान को कोई रोक नहीं सकता। असली क्रांति तो काव्य में, साहित्य में अब होने जा रही है, आदि, आदि।

नवयुवकों से अंशतः सहमत होना कठिन नहीं था, पर उनके बढ़-चढ़कर बोलने को मैं समझ रहा था, क्रांति का स्वर प्रायः असंतुलित होता है। मुझे याद है, किसी नवयुवक कवि ने अपनी रचनाएँ भी सुनाईं। सुन-कर मुझे लगा कि मैं बहुत पीछे छूट गया हूं, और समय बहुत आगे चला गया है।

कलकत्ता से रवाना हुआ तो मेरे दिमाग़ में सवाल पर सवाल उठ रहे थे—क्या सचमुच भविष्य अतीत से एकदम टूटकर चलेगा? या ऐसी कल्पना अतीत से उग्र असंतोष का संकेत मात्र है? क्या हमारा अतीत इतना निरर्थक है कि भविष्य के लिए उसे कुछ नहीं देना है? या हमारा अतीत एक ऐसे वृत्त का अंग है जो अब पूर्ण हो चुका है और कोई नया वृत्त आरंभ होने वाला है? (ईट्स-दर्शन के अनुसार—Surely some revelation is at hand; surely the second coming is at

hand.) निश्चय ही कोई ऐशोन्मेष निकट है; निश्चय ही कोई दूसरा अवतार होने को है। क्या काव्य और साहित्य भी 'टेबुला-रासा' (सादी-स्लेट) पर लिखा जायगा ? क्या वह सर्वदा, सर्वत्र लिखे के ऊपर लिखे जाने से ही मौलिक अर्थवान और सारगर्भित नहीं बना ? क्या समाज में रहनेवाला व्यक्ति अपनी इकाई में सारे बंधनों को तोड़कर भी मुक्त हो सकता है ? क्या वह सामाजिक संगठन में सहायक नियंत्रण और संयमों के बिना उच्छृंखल ही नहीं हो जाएगा ? क्या पश्चिम का मनोवैज्ञानिक सत्य हमारे सार्वजनिक जीवन का—पश्चिम में भी सार्वजनिक जीवन का—अंग हो चुका है ? क्या पूर्व का, भारत का संस्कृत मनस् सचमुच आधुनिक चेतना के उसी स्तर पर है, जिसपर पश्चिम की ? क्या अपनी सामाजिक परिस्थिति से असंपृक्त यह सारा पश्चिमी और आधुनिक तथाकथित यथार्थ-बोध हमारे कवियों को अपने ही देश में अजनबी नहीं बनाने जा रहा है ? क्या इस यथार्थता के आवरण में एक नए तरह की अयथार्थी रूमानियत ही नहीं जन्म लेने जा रही है ? क्या यह नया 'अभियान' भी एक नए तरह का पलायन ही नहीं होगा—पहलेवाले से केवल इसी रूप में भिन्न कि यदि वह अफ़ीम के नशे में सुला देता था तो यह निराश, हताश, कुंठित और विक्षिप्त बनाकर छोड़ देगा। जिसे नए कवि काँधा से काँधा मिलाकर चलना कह रहे हैं, क्या वह पिछलगुआपन और अनुकरण ही नहीं है ? क्या मुख में अंग्रेजी भाषा, तन पर योरोपीय कपड़े, घर में मेज-कुर्सी, आलमारी पर कामू, सार्त्र, काफ़्का की किताबें रख लेने से ही हम आधुनिक पश्चिमी बन गए हैं ? क्या भौगोलिक दूरियों के दूर हो जाने से ऐतिहासिक दूरियाँ भी मिट गई हैं ? मिट सकती हैं ? क्या योरोपीय मनस् की बेचैनी और भारतीय मनस् की बेचैनी—अनुभूत होने पर भी—एक ही प्रकार की है ? क्या यह बेचैनी बस सिर का दर्द है कि एक ही तरह की ऐस्प्रो की टिकिया दोनों के लिए डाक्टर साहब तजवीज़ कर दें ? यदि नहीं—क्योंकि सामाजिक, ऐतिहासिक आदि पृष्ठभूमियाँ दोनों की भिन्न हैं—तो क्या साहित्य, काव्य, कला में उसकी अभिव्यक्ति का एक ही रूप होगा ? क्या पश्चिम की गुलामी से मुक्त हो जाने के बाद हमसे यह प्रत्याशा न की जायगी कि हम अधिक अपने होकर सोचें ? क्या हम राजनैतिक गुलामी से मुक्त होकर

मानसिक गुलामी को अभी भी सिर चढ़ाए हैं ? क्या काव्य-कला-साहित्य के क्षेत्र में मौलिक चिंतन करने, मौलिक दिशा लेने की शक्ति भारत ने खो दी है ? क्या पश्चिम के अनुभवों, प्रयोगों से लाभ उठाकर पूर्व की मौलिक दृष्टि में वांछित परिवर्तन-संतुलन लाकर हम कोई ऐसी राह नहीं ले सकते जिस पर हमारे अपनेपन की—हमारी सभ्यता की—संस्कृति की, हमारे ऐतिहासिक चरणों की व्यक्तित्वपूर्ण छाप हो ?

कलकत्ता से लौटते हुए मैं दो दिन के लिए पटना रुक गया। पंडित अमरनाथ झा वहीं थे। युनिवर्सिटी की वाइस चांसलरशिप के तीन टर्म पूरे कर लेने पर—किसी नियम से शायद वे और अधिक उस पद पर न रह सकते थे—उन्होंने उत्तर प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन की चेयरमैनशिप स्वीकार कर ली थी, और कुछ समय बाद उनका स्थानांतरण बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन में हो गया था जिसका मुख्यालय पटना में था। मेरे इंग्लैंड से लौटने के बाद कई बार उन्होंने मुझे पटना आने और अपने साथ ठहरने को आमंत्रित किया था। मैंने सोचा, कलकत्ता से लौटते समय दो दिन उनके पास भी रुकता चलूं।

मैंने उनको कलकत्ता से अपने आने के बारे में तार दे दिया था, वे मेरी प्रतीक्षा में थे, और उन्होंने अपनी दो शामें मेरे लिए खाली रखी थीं। दिन को उन्हें अपने दफ्तर जाना था, मैं पटना कालेज चला गया, वहाँ मुझे श्री देवेन्द्र नाथ शर्मा से मिलना था, जो मेरे केम्ब्रिज-प्रवास के दिनों में लंदन में थे और रूसी भाषा में डिप्लोमा कर रहे थे। मेरी समझ में आज तक नहीं आया कि इस हिंदी व्याख्याता को सपरिवार इंग्लैंड जाकर रूसी में डिप्लोमा लेने की क्यों सूझी ! जहाँ तक मुझे मालूम है, इस ज्ञान का उन्होंने कोई उपयोग नहीं किया। रूसी जानकर भी रूस में कोई काम पाने, वहाँ जाने की नौबत उनके लिए नहीं आई। उन्होंने रूसी की किसी विशेष कृति का अनुवाद भी हिंदी में नहीं प्रस्तुत किया—किसी लंबी योजना पर काम कर रहे हों तो मैं नहीं जानता।

शर्मा जी से मेरा परिचय पुराना था, मेरी कविता के प्रशंसकों में थे, इंग्लैंड में हम अधिक निकट आए। लंदन जाता तो शर्मा जी के यहाँ बढ़िया हिंदुस्तानी खाना खाने को मिलता। शर्मा जी मुझे खाना खिलाते

और एवज में मैं उनको अपनी ताज़ी से ताज़ी कविताएँ सुनाता। केम्ब्रिज में लिखी मेरी बहुत-सी कविताओं के प्रथम श्रोता वे ही थे। ब्राह्मण के यहाँ भोजन करने में मैं विशेष तृप्ति का अनुभव करता हूँ। मैं कहता हूँ, 'तुम्हारे पूर्वजों ने हमारे पूर्वजों का कितना अन्न खाया है, उनके वंशजों को कुछ तो अदा करो!'

शर्मा जी बड़े प्रेम से मिले। मेरे आने की खबर उनके विद्यार्थियों में पहुँची और शीघ्र ही कालेज-भर में फैल गई। उन्होंने उनका कमरा घेर लिया, 'हमें बच्चन जी से कुछ सुनवा दीजिए, हम बिना उनकी क़विताएँ सुने उन्हें जाने नहीं देंगे।' शर्मा जी ने मुझसे विद्यार्थियों का आग्रह रखने का अनुरोध किया, मैंने सहमति दे दी। उन्होंने विद्यार्थियों को सूचित कर दिया कि शिक्षण के घंटे समाप्त होने पर मैं कविता-पाठ करूँगा, सब हाल में एकत्र हों। लड़के हँसते-कूदते चले गए। अब दो घंटे क्या किया जाए! उन्होंने कहा, 'चलिए विभागाध्यक्ष श्री नलिन विलोचन शर्मा से मिल आएँ।'

शर्मा जी से मैं अपरिचित न था। कई वर्ष पूर्व आरा में रैदास-जयंती पर आयोजित कवि-सम्मेलन में मैं उनसे मिला था, उन्होंने सभापतित्व किया था, ठहरे भी थे हम दोनों एक ही कमरे में। शर्मा जी को मेरी कविता से असंतोष था, मेरी लोकप्रियता पर साश्चर्य क्षोभ, जो, उनकी दृष्टि में, मेरे ही लिए हानिकर थी। वे निःसंकोची स्पष्टवादी थे। उनका कहना था, लोग मेरे काव्य-गुणों के कारण मुझ पर नहीं रीझते बल्कि इसलिए कि मैं उनकी चिर-दमित यौन-भावना को सहलाता-गुदगुदाता हूँ। भीड़ कविता की पारखी हो ही नहीं सकती। संत तुलसीदास भी अपने कवित्व-विवेक के बल पर जनप्रिय नहीं थे, बल्कि अपनी भक्ति-भावना के कारण। कालिदास उनके आदर्श कवि थे, आधुनिकों में टी० एस० इलियट; समालोचक इलियट से भी वे पूरी तरह अभिभूत थे। विशुद्ध कविता संबंधी आधुनिकतम फ्रांसीसी और अंग्रेजी सब सिद्धांतों से वे अभिज्ञ थे और उनकी अभ्यर्थना भी करते थे। शर्मा जी बहु-पठित थे, विद्वान थे, पूर्व-पुरातन और पश्चिम-नवीनतम के अद्भुत सम्मिश्रण।

मैं उनका आदर करता था, पर उनके चिंतन को एकांगी भी समझता था। बहस में तो उनसे नहीं पड़ना चाहता था, पर इतना ज़रूर मैंने कहा

था, 'कविता का संबंध यदि जीवन जीने-भोगने से है (मेरे 'भोगने' की परिभाषा में त्यागने के लिए भी स्थान है) तो यौन-भावना अथवा भक्ति-भावना से कवित्व का उद्भव क्यों ग़लत समझा जाय ? दुनिया की तीन-चौथाई कविता तो यौन भावना से ओत-प्रोत होगी, और फ़ायडीय मत मानें तो समस्त कविता किसी-न-किसी रूप में यौन-भावना ही की प्रतिमूर्ति है।' शर्मा जी ने कहा, 'आप मेरी बात नहीं समझे।' मैंने कहा, 'आप भी मेरी बात नहीं समझे, इसलिए अब हम एक-दूसरे को समझने-समझाने का प्रयत्न न करके अपने-अपने को सम्प्रेषित करें—यानी आप अपनी कविताएँ मुझे सुनाएँ, मैं अपनी कविताएँ आपको सुनाऊँ।' हमारी पिछली मुलाक़ात इसी नोट पर समाप्त हुई थी।

किसीको अभिभूत करने में उनके दिमाग़ से उनकी देह कम नहीं थी—बड़ा-सा सिर, बाहर निकलती-सी बड़ी-बड़ी आँखें और उन पर मोटे फ्रेम का मोटे-मोटे लेंस का चश्मा, देव-सी काया, फूली-फैली-ढीली, शुडहीन, लंबोदर साकार। कुर्सी में कसे बैठे थे।

पहले तो केम्ब्रिज में मेरे काम-धाम की चर्चा हुई, फिर उन्होंने मुझ पर अपना आक्रमण शुरू किया। प्रवास से भारत की पत्रिकाओं के लिए भेजी मेरी कविताएँ वे देखते रहे थे, उन्हें पहले भी इस पर आश्चर्य था कि हिंदी कवियों में अंग्रेज़ी की उच्चतम शिक्षा से दीक्षित होकर भी मैंने आधुनिक पश्चिमी या अंग्रेज़ी काव्य-विधा से कुछ भी नहीं सीखा था, अब तो उन्हें और भी निराशा थी कि दो वर्ष इंग्लेंड में रहकर भी मैं छायावाद की ह्रास-शील प्रवृत्तियों से ही बंधा था। ईट्स को वे पुराने खेवे के कवियों में गिनते थे, और उन्हें आशंका थी कि ईट्स से प्रतिबद्ध होकर मैं हिंदी के नए प्रयोगों के लिए और अप्रस्तुत हो जाऊँगा।

मैंने कहा, 'शर्मा जी, न मैं छायावाद से बँधा हूँ, न ईट्स से, न कविता से, मैं तो अपने से बँधा हूँ।'

शर्मा जी बोले, 'पूरे नहीं, आप अपने से उतना ही बँधते हैं जितने से आप देखते हैं कि आप दूसरों से टूटते नहीं। आप अपने से ही बँधते तो बहुत बड़े कवि होते, भले ही इतने लोकप्रिय नहीं। आपका लोक-मोह आपको अपने से पूरी तरह प्रतिबद्ध होने नहीं देता।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं तो नहीं समझता कि मेरा सर्जक मेरे अतिरिक्त किसी दूसरी ओर देखता है, मैं सच्चाई से कहता हूँ कि यह मेरे सर्जक की सीमा नहीं, हाँ, यह मेरे व्यक्तित्व की ही सीमा हो तो मैं नहीं कह सकता। मैं अपने को अद्वितीय, असाधारण, नहीं समझ पाता।'

शर्मा जी के पास उत्तर मौजूद था, 'कवि तो असाधारण होने से ही कवि होता है।'

मैंने विनम्रतापूर्वक कहा, 'यदि मैं साधारण होकर असाधारण होने का 'पोज़' बनाऊँ तो यह और बड़ा झूठ होगा, जो मेरे लिए और बड़ी सीमा बनेगी।'

नलिन जी को बहुत-सी बातों के बारे में कहना था—अपनी कविता, कविता नहीं 'प्रपद्य', अपने दो और सहयोगियों—केसरी कुमार और नरेश, के प्रपद्य, (तीनों के नामों के प्रथमाक्षरों को जोड़कर अपने गुट को उन्होंने 'न० के० न०,' त्रयी की संज्ञा दी थी, शायद छायावादी युग में उद्घोषित वृहत्त्रयी—पंत, प्रसाद, निराला—लघुत्रयी या वर्मात्रयी—महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा—के जोड़ पर; इतिहास अपने को दुहरा रहा था।), १९५२ का प्रयोग दश-सूत्री घोषणा-पत्र—जिसे हाल ही 'प्रपद्य-द्वादश सूत्री' के रूप में संवर्द्धित किया गया था, प्रपद्यवाद-दर्शन, अज्ञेयी प्रयोग-शीलता और 'न के नी' प्रयोगवादिता में अंतर, और 'तार सप्तक' (१९४३) के कवियों से भी एक सप्तक पूर्व (यानी १९३६ में) हिंदी में प्रयोगवादी कविताएँ लिखने और इस प्रकार हिंदी के सर्वप्रथम प्रयोगी होने का अपना दावा। वे निकट भविष्य में अपने न के न-त्रयी का एक सिद्धांत सुपोषित संकलन भी प्रकाशित करने की योजना बना रहे थे[1] जिसके बाद, उन्हें आशा थी, प्रपद्यवाद का जगन्नाथी-रथ सब वाद-विवादों को कुचलता-पुचलता हिंदी कविता के पथ पर अबाध गति से अग्रसर होगा।

शर्मा जी की बातें सुनकर मुझे ऐसा लगा कि उन्होंने १९३६ में ही प्रयोगवादी कविताएँ क्यों न लिखी हों, उसके बाद का समय जो जन साधारण में दिनकर और बच्चन की लोकप्रियता का ज़माना था, और स्कूल-

---

१. यह बाद को प्रकाशित भी हुआ; किस नाम से?—इस समय मेरी स्मृति से उतर गया है।

कालेजी धरातल पर पाठ्य-पुस्तकिया समालोचक पंत और निराला की प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के विवेचन में उलझे थे—हिंदी का कोई तीसरा धरातल तो है नहीं—लेखक-पाठकों का ही हम एक तीसरा धरातल न मान लें तो। फलस्वरूप, नलिन जी के प्रयोगों पर कहीं भी ध्यान दिया गया हो, इसकी मुझे जानकारी नहीं, नलिन जी भी शांत हो गए। प्रथम 'तार सप्तक' (१६४३) भी अचर्चित रह गया था। पर अज्ञेय जी सहज हार मानने वाले नहीं थे। उन्होंने १६५१ में दूसरा 'तार सप्तक' भी प्रस्तुत कर दिया था। तब तक प्रयोगवाद को न तो कोई मान्यता मिली थी, न उसकी कोई विशिष्ट उपलब्धि ही ध्यानाकर्षित कर सकी थी, लेकिन मोर्दारिस-समालोचकों के लिए उसकी उपेक्षा करते जाना संभव न था। तिरस्कारी स्वरों में ही सही, उसकी चर्चा चल पड़ी थी। अब नलिन जी फिर जागे। प्रयोग की उद्भावना तो उनकी थी, पर उसका श्रेय अज्ञेय जी लिये जा रहे थे। उन्होंने अज्ञेय की प्रयोगशीलता को अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण बताया और प्रयोगवाद का एक नया घोषणा-पत्र निकाला, और नाम-साम्य-जनित ग़लत-फ़हमी को बचाने के लिए अब अपने वाद को 'प्रपद्यवाद' की संज्ञा देनी चाही। शर्मा जी की विचार-प्रक्रिया के पीछे संकुचित प्रांतीयता भी काम कर रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं, उनकी उस प्रवृत्ति के और भी संकेत मैंने पाए थे,

> 'पटना-क़लम है यह।
> पश्चिम की कला का लगा है क़लम इसमें...
>
> (चित्रांधान—नलिन)

प्रांतीयता के साथ विदेशीयता पर गर्व। करेला और नीम चढ़ा।

हाल से विद्यार्थियों का कोलाहल सुनाई पड़ने लगा था। हम लोग वहाँ पहुँचे। देवेन्द्रनाथ जी मेरे विषय में कुछ कहने को खड़े हुए, पर श्रोताओं ने उन्हें बिठला दिया। वे व्याख्यान सुनने नहीं, कविता सुनने आए थे। मैंने अपनी नई-पुरानी कविताएँ सुनाईं, विद्यार्थियों की फ़रमाइशें पूरी कीं, 'मधुशाला' सुनाई जिसके लिए एक स्वर से माँग थी। नवयुवकोचित उच्छल उमंग-उल्लास के बीच नलिन जी गंभीर मुद्रा में बैठे रहे, यह मेरी कविता पर उनकी मौन टिप्पणी थी। निलन जी से यही मेरी आखिरी भेंट थी।

चार वर्ष बाद मेरी 'आरती और अंगारे' (१९५८) छपी तो परिषद पत्रिका की ओर से उनके पास समालोचनार्थ भेजी गई। मैंने देखा तो नहीं, पर मुझे किसी ने बताया कि उन्होंने केवल एक पंक्ति लिखी थी, 'इन रचनाओं को मैं कविताएँ नहीं मानता, इसलिए इनकी आलोचना करने से इन्कार करता हूँ' या इसी आशय का कुछ। 'माने न माने गुल ही न माने बाग़ तो सारा माने है' (मीर से 'जाने' को 'माने' करने के लिए क्षमायाचना सहित)। आठ बरसों के अंदर 'आरती और अंगारे' के चार संस्करण हुए, और न वह कोर्स में लगी है न सरकारी खरीद पर चढ़ी है।

१९६१ में गृह-मंत्रालय की किसी समिति में बैठा था कि दिनकर जी ने आकर समाचार दिया 'नलिन जी चल बसे।' सुनकर दिल डूब गया। मुझसे ९ बरस छोटे थे। मुझसे छोटों की मृत्यु मुझे बहुत कष्ट देती है—मुझे वह बड़ी अप्राकृतिक लगती है। जो पहले आया है वह पहले जाय, जो बाद को आया है बाद को, पर बहुत बार, शोक है, ऐसा नहीं होता। मैंने उनकी मृत्यु पर एक कविता लिखी—'डूबने वाली नावें', जो 'नई धारा' के नलिन स्मृति अंक में छपी। अंक आया तो अपनी कविता देखते हुए न जाने क्यों, मेरा ध्यान इस ओर चला गया कि नलिन जी स्वयं इसे देखते तो कहते, 'मैं इसे कविता नहीं मानता'। और मैं उनसे कहता, 'ऐसा कहने के आपके अधिकार को मैं मान देता हूँ, ऐसा लिखने के मेरे अधिकार को आप मान दें।'

कालेज से लौटा तो झा साहब अपने कमरे में अकेले बैठे चाय पी रहे थे। धीमे-धीमे रेडियो बज रहा था, और सब शांत। उनका बंगला सेक्रेटेरियट के समीप था जो एक बड़ी शांत बस्ती है, विशेषकर दफ़्तर के घंटों के बाद। वहाँ रहन-सहन का उनका वही तरीक़ा था जो इलाहाबाद में—वैसे ही किताबों से लदी आलमारियों के कमरे में उनकी मेज़-कुर्सी, वैसे ही मेज़ पर नई-नई किताबें, वही नियमित कार्यक्रम, सुबह-शाम आए हुए लोगों से मिलना, दिन को दफ़्तर, खाली समय में चिट्ठियाँ लिखना या किताबें पढ़ना। घर में सिर्फ़ तीन नौकर थे, एक उनका खाना बनाता था, एक ऊपर का काम करता था, एक चपरासी जो उनके कमरे के बाहर खड़ा रहता था, आनेवालों की सूचना उन्हें पहुँचाने के लिए—सब अपना काम जानते हुए और यथा समय करते हुए।

अपने यौवन में ही जो विधुर-एकाकी जीवन उन्होंने अपनाया था, उसे बड़ी खूबी के साथ निभा दिया था। वे मुझे थके-उदास लगे, कुछ अस्वस्थ-से। पर, चाय पा.. के बाद जो एकाध प्रश्न मुझसे उन्होंने पूछे उससे मुझे लगा कि वे मेरी कुछ सुनने को उत्सुक हैं, उनके बिना पहल किए उनसे बात करने की हिम्मत किसे थी! सारी शाम मेरी गाथा में ही बीत गई, मैंने अपनी थीसिस भी उन्हें दिखाई जो मैं साथ लेता गया था। उन्होंने उसे उलटा-पलटा, बोले, 'अच्छा काम कर डाला तुमने, प्रकाशित करा देना, इससे तुम्हारा पथ प्रशस्त होगा।'

खाना खाने के बाद उन्होंने मेरी कविताएँ सुननी चाहीं। वे मेरे 'मधुशाला', 'मधुबाला' के बड़े प्रेमी थे। उस रात 'मधुबाला' से सिर्फ़ एक कविता उन्होंने सुनी—'इस पार—उस पार'। फिर उन्होंने 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' के गीतों के लिए आग्रह किया। उन्हें अपने भावों पर जबरदस्त संयम था। उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं। मैं बीच-बीच में उनकी ओर देख लेता था। उनके मूर्त मौन ने उस रात मुझसे बहुत कुछ कहा। ग्यारह बजे उन्होंने धीमे से कहा, 'जाओ, अब सो रहो।'

दूसरी शाम को उन्होंने मेरे सम्मान में अपने बँगले के लान में 'एट-होम' का प्रबंध किया था। चालीस-पचास लोग उसमें आए थे—झा साहब के मित्र, बहुत-से इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र, कुछ साहित्यिक बंधु। झा साहब ने मुझे अपने साथ ले जाकर सबसे परिचित कराया। समाप्ति पर कविता की फ़रमाइश तो होनी ही थी। मैंने कुछ नई कविताएँ सुनाईं। 'मधुशाला' सुनाए बिना कहाँ पिंड छूटता!

जब सब लोग चले गए तो मैंने झा साहब से कहा, 'आज तो आपने मुझे बड़ा आदर दिया।'

'क्योंकि तुमने मेरे जजमेंट को जस्टीफ़ाई किया,' वे बोले, 'जब मैंने युनिवर्सिटी में तुम्हें लिया था तब लोगों ने कहा था, बच्चन की गति अंग्रेज़ी में नहीं, झा ने उनकी हिंदी कविता के प्रेम में आकर उन्हें अंग्रेज़ी विभाग में रख दिया।'

चीज़ों को देखने का झा साहब का अपना अलग दृष्टिकोण था जिसमें सबसे अधिक महत्त्व वे अपने को देते थे। इसमें संदेह नहीं कि वे आत्म

केन्द्रित थे, पर बड़ी गरिमा के साथ, उसमें ओछेपन के लिए कहीं जगह नहीं थी। उनको बुरा-भला कहनेवाले, उनकी निंदा करनेवाले कम नहीं थे। यह कहना ग़लत होगा कि उनको उन्होंने क्षमा कर दिया था। उनको उन्होंने उपेक्षापूर्वक अनसुना रक्खा था। वे बड़े थे तो अपने अधिकार से, किसी को छोटा करके नहीं, और कोई उनको किसी साज़िश से छोटा कर सके, इसके बहुत ऊपर। उनका उठना, बैठना, चलना, हँसना, बोलना, देखना, सुनना, उनकी पोशाक, उनके कमरों की साज-सज्जा, उनकी हर बात ऐसी होती थी, जिसे अंग्रेज़ी में 'स्टडीड' कहेंगे, हिंदी में शायद सुविचारित या सविवेक। हर बात सही करने के अभ्यास ने उन्हें यह आत्म-विश्वास दे दिया था कि वे जो करते हैं, वही सही है। उनका अपने हर क्षण पर नियंत्रण था। वे जो करते थे; वे जानते थे; कुछ उनसे हो गया है, ऐसी स्थिति ने शायद ही कभी उनका सामना किया हो। वे अपने व्यक्तित्व में बेजोड़ थे।

उस रात भी खाना खाने के बाद देर तक उन्होंने मेरी कविताएँ सुनीं। उनकी राय थी कि मैंने हिंदी गीतों के आयाम को बढ़ाया है, जैसे मिल्टन ने सानेट के आयाम को विस्तृत किया था—कुछ ऐसे विषयों पर सानेट लिखकर, जिनकी परंपरा नहीं थी, पर उनकी सम्मति थी, 'ऐसे गीतों में टेक की दुहराहट नहीं होनी चाहिए। टेक गीतों में इस बात का संकेत करते हैं कि जैसे भावना-कल्पना-जगत में घूम-फिरकर आदमी फिर उसी जगह पर लौट आया है जहाँ से वह चला था। गीत की भूमि पर विचरण कर आने से भावना जैसे अपनी ही जगह पर अधिक गहरी हो गई है। झा साहब की राय थी कि मेरे नए गीत एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं; हम लक्ष्य पर पहुँच उलटकर यह क्यों देखें कि कहाँ से चले थे; देखें ही नहीं बल्कि लौटकर वहाँ पहुँच भी जाएँ तो कैसा उपहासास्पद होगा। टेक की तुकें मिलें तो कोई हर्ज नहीं, उससे गीत में ऐकिकता (Unity) और गठन बनी रहती है, पर टेकों की दुहराहट गीतों में सन्निहित प्रगति का प्रभाव मार देती है।

गुरु थे, उनकी बात मैंने सुन ली, प्रतिवाद मैंने नहीं किया, किसी अंश में उनका कहना तर्कसंगत भी था। लेकिन अपने नए गीतों को मैं सीधी रेखा मानने को तैयार नहीं था। टेक को मैं केन्द्र-बिंदु मानता हूँ। वहाँ से

चलकर परिधि को एक बिंदु पर छू लिया और फिर केन्द्रबिंदु पर लौट आए, और फिर चलकर परिधि को दूसरी जगह पर छुआ, इस प्रकार चार-पाँच स्टेंज़ा में चार-पांच बार परिधि छू ली, किंतु अलग-अलग बिंदुओं पर। यहाँ प्रगति है, क्रम है, पर एक वृत्त की परिधि पर। मेरी ऐसी धारणा है, गीत बिना एक भाव-जगत को वृत्त-बद्ध किए नहीं लिखा जा सकता। अन्य स्फुट कविताओं के लिए सीधी रेखा का रूपक अधिक उपयुक्त होगा। झा साहब को आश्चर्य था कि दो वर्षों के अंदर इतनी बड़ी आलोचनात्मक थीसिस लिखने के बावजूद मैंने सौ से ऊपर कविताएँ कैसे लिखी थीं। उनका अंतिम रिमार्क था, 'दि पोएट इज़ इनकरिजिबिल इन यू' (कविता तुम्हारा पिंड नहीं छोड़ती)।

रात बहुत हो गई थी। न जाने किस प्रसंग में उनके स्वास्थ्य पर बात चल पड़ी। वे अपनी व्यक्तिगत बातें किसी से नहीं कहते थे, पर उनके मुँह से निकले तीन-चार वाक्य रात भर मेरे मन में घुमड़ते रहे—जिसे हार्ट अटैक हो जाए उसे किसी भी समय जाने के लिए तैयार रहना चाहिए··· मृत्यु निकट आती है तो हर मनुष्य को उसका आभास हो जाता है···सफल से सफल व्यक्ति को भी जीवन अंत में निराश और उदास ही छोड़ जाता है।

दूसरे दिन सुबह मैं उनसे विदा ले इलाहाबाद के लिए चल पड़ा। झा साहब के निराश और उदास होने का कारण था। विधुर एकाकीपन की परिणति जो होती है, उसके लिए वे तैयार थे, उसी के लिए वे बने थे, इसके अतिरिक्त और कुछ उनसे निभता भी नहीं। मेरा संकेत उसकी ओर नहीं है।

पश्चात्ताप का शब्द उनके कोश में नहीं था। बात यह थी कि जीवन भर वे युनिवर्सिटी, शिक्षा, विद्यार्थियों के संपर्क में रहे थे। पिछले कुछ वर्षों से जब से वे पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन रहे थे, तब से विद्यार्थियों का सजीव संपर्क उनसे छूट गया था। दफ़्तरी जीवन में वे इस अभाव को बराबर महसूस करते रहे। फ़िर, वे भारत के गिने-चुने शिक्षाविदों में थे; उन्हें शायद यह आशा थी कि स्वतंत्रता मिलने पर भारत की सरकार उनके ज्ञान और अनुभव का कुछ उपयोग शिक्षा के क्षेत्र में करेगी, परंतु उनकी

उपेक्षा की गई। किसी ने शासन तंत्र में इसका सुझाव दिया भी तो—अपने से वे सरकार के पास पहुँचनेवाले थे नहीं—किसी बड़े नेता ने यह कहा कि 'उनमें कल्पना का अभाव है।' पता नहीं, जिनमें कल्पना का भाव समझा गया उन्होंने शिक्षा में कौन मौलिक क्रांति की।

झा साहब से यह मेरी अंतिम भेंट थी। कुछ ही महीनों बाद उनके देहावसान का दुखद समाचार मिला। वे जान गए थे कि उनकी मृत्यु निकट है और वे इसके लिए तैयार भी थे। बाद को मुझको किसी ने बताया कि पिछली बार जब वे इलाहाबाद आए थे तो अपने शव-दाह के लिए कई मन चंदन की लकड़ी भी चुपचाप साथ ख़रीदकर ले गए थे। उनके स्वभाव में अभिजात का जो सर्वविदित और सर्वत्र प्रकट संस्पर्श था, उसके अनुरूप तो यह था ही कि उनकी लाश साधारण लकड़ियों से नहीं, चंदन की लकड़ियों से जलाई जाए, कुछ और भी था। उनके शत्रु भी शायद ही यह कह सकें कि उन्होंने अपने जीवन में जान-बूझकर किसी को भी हानि पहुँचाई थी—वे संभवत: नहीं चाहते थे कि जो उनका दाह-संस्कार करने के लिए आएँ उन्हें उनकी जलती लाश की दुर्गन्ध भी लगे। उनका आभिजात्य उनके रहन-सहन में, बात-व्यवहार में, उनकी नैतिकता में, बौद्धिकता में सब जगह सक्रिय, समर्थ और प्रबल था, और अंत में वह करुण भी हो उठा था—अपने हाथों अपनी चिता की लकड़ी भी ख़रीदना। उस स्थिति से बस एक क़दम पीछे।

अपने पर मैं ही रोता हूँ,
मैं अपनी चिता सँजोता हूँ,
जल जाऊँगा अपने कर से रख अपने ऊपर अंगारे।
खिडकी से झाँक रहे तारे!

कलकत्ता-पटना में मुझे जो स्नेह, संवेदन, समादर मिला था उसके बाद इलाहाबाद लौटने पर अपने सहयोगियों से मिली परिचित उपेक्षा और ईर्ष्या-द्वेष भरी दृष्टि मुझे अधिक खलने लगी थी—मैं सोचता, मैंने इनका क्या बिगाड़ा है, इन्हें किस तरह हानि पहुँचाई है, किस तरह इनका अपमान किया है, किस तरह इन्हें चोट पहुँचाई है या इन्हें दुखी किया है जो मुझे

ऐसे व्यवहार का अधिकारी माना जाता है !

जो मैंने किया था, वह तो सिर्फ़ इतना था कि मैं केम्ब्रिज से एक डिग्री लाया था जो प्रायः सहज प्राप्य न थी।

अगर मैं अपने देश की मनोवृत्ति समझता तो मुझे यह पूर्वाभास हो जाना चाहिए था कि मेरी यह लब्धि आसानी से लोगों के गले न उतर सकेगी। तब उनका व्यवहार मुझे अप्रत्याशित न लगता।

क्या यह सच नहीं है कि ईर्ष्या पूर्व का नहीं तो भारत का अपना विशेष गुण है, जैसे फूट यहाँ का विशेष फल ?

इंग्लेंड में किसी साधारण परिचित से भी अपनी किसी प्राप्ति, लब्धि या उपलब्धि का वर्णन करो तो उसके मुँह से निकलता है, हाउ नाइस !' —'क्या अच्छी बात है !' उसके मुख की प्रसन्नता यह व्यक्त करती है कि उसे आपके सुख वृद्धि, समृद्धि में खुशी है। अपने देश में यह अनुभव असंभव नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य है। आपकी बात सुनते ही लोगों की नसें खिच जाती हैं, चेहरे उतर जाते हैं और एक औपचारिक दिखावे का जड़-प्रसन्न मुखौटा चढ़ाने का प्रयत्न प्रारंभ हो जाता है। तुलसीदास खल की वंदना करने चलते हैं तो सब से पहले उनका ध्यान उसके इस अवगुण पर जाता है, जिसे वे कई तरह से कहते हैं, 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ', 'उजरे हरष विषाद बसेरे', 'परहित घृत जिनके मन माखी', 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे', 'उदासीन, अरि मति हित सुनत जरहिं खल रीति'। नारद-मोह प्रसंग में भी नारद के मुख से नारायण के लिए कहलाते हैं, 'पर संपदा सकहु नहिं देखी, तुम्हरे इरिषा कपट विशेषी'; रामराज्याभिषेक में देवताओं के विघ्न डालने पर वे उनके इसी अवगुण की ओर संकेत करते हैं, 'ऊँच निवास नीच करतूती, देखि न सकहिं पराइ बिभूती,' और भी कितनी जगहों पर उन्होंने इस ईर्ष्या का वड़े दर्द के साथ वर्णन किया है—उन्हें कम ईर्ष्या का सामना करना पड़ा होगा !

योरोप और भारत की मनोवृत्ति में अंतर का कारण क्या है ? हमारे जीवन का सर्वत्र-व्यापी अभाव ही शायद कारण नहीं है—हाय, फ़लाँ को मिल गया, मैं टापता ही रह गया। ऐसी हालत में फ़लाँ के प्रति ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। इस ईर्ष्या का डंक सौ गुना तीखा होगा, यदि देनेवाला

सकारण देता है और पानेवाला सयत्न पाता है। पश्चिमी जीवन में एक शब्द चलता है 'लक'। 'लक' का अर्थ उसका हिंदी पर्याय देने से स्पष्ट न होगा। 'लक' का अर्थ समझना होगा। 'लक' स्वेच्छाचारी है, अंधा-बहरा है, पागल है, पागल नहीं है तो तर्क-परिचालित अथवा दायित्व-बद्ध तो हरगिज़ नहीं है। वह किसी को कुछ देता है तो किसी कारण नहीं, उसके किसी तप-साधन के फलस्वरूप नहीं। किसी को पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं कि उसने प्रयास नहीं किया। किसी को श्रेय देने की आवश्यकता नहीं कि उसने प्रयास किया, साधना की। लेकिन हमने तो 'भाग्य' को भी 'कर्म' कर डाला है—'करम फूट गया', 'करम में नहीं था'। किसी को कुछ मिले, कोई कुछ पाए तो हम उसे उसके कर्म का फल मानते हैं। कर्म देखकर दिया गया है, कर्म करके पाया है, और हाय, हम कर्म नहीं कर पाए, न पूर्व जन्म में, न इस जन्म में। यही 'हाय' हमारी ईर्ष्या बनती है—क्योंकि यह हमको हीन, दोषी, कर्म-कुंठित, प्रमादी, लापरवाह होने का दुःखद और दाहक आत्मबोध कराती है। जाति-मनोवैज्ञानिक शायद और भी कारण सोच सकते हों।

सत्रांत पर जब युनिवर्सिटी गर्मी की छुट्टियों के लिए बंद हुई तो मैं तेजी और बच्चों को लेकर नेपाल चला गया और तभी लौटा जब युनिवर्सिटी खुलने को हुई।

मेरे मित्र श्री महाराज कृष्ण रसगोत्र, आई० एफ० एस०, उन दिनों नेपाल स्थित भारतीय राजदूतावास में सचिव के पद पर काम कर रहे थे। राजदूत थे श्री भगवान सहाय, उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं था, पर उनके नाम-काम से मैं अपरिचित नहीं था, इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र थे। और वे भी मेरे नाम-काम यानी मेरे कवि रूप से अपरिचित न थे।

रसगोत्र ने मुझे गर्मी की छुट्टियाँ सपरिवार काठमाँडू में बिताने को आमंत्रित किया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इलाहाबाद ने मेरे साथ जो व्यवहार किया था, उससे मेरे मन में उसके लिए इतनी वितृष्णा जग उठी थी कि इलाहाबाद से कहीं दूर चले जाने की बात मेरे लिए एक बड़ी राहत-सी लगी। जब से मैं विदेश गया था, तेजी और बच्चे भी कहीं बाहर न गए

थे। मुझे लगा, मेरी यह यात्रा उन लोगों के लिए भी सुखकर परिवर्तन सिद्ध होगी।

विद्यार्थी जीवन से, मेरे मन में नेपाल के लिए कुतूहल था। नक़शे पर भारत के उत्तर में, कम चौड़े, ज़्यादा लंबे, इस देश को दिखाकर हमारे अध्यापक यह बताना न भूलते थे कि नेपाल एक स्वतंत्र देश है, और अपनी गुलामी के दिनों में यह कल्पना करने में मन में एक प्रकार का हर्ष होता था कि नेपाल में कुछ ऐसी शक्ति तो होगी कि जब अपना लंबा-चौड़ा देश अंग्रेज़ों से पराजित हो गया था तब नेपाल ने आज़ादी का झंडा ऊँचा रक्खा था। घर-मुहल्लों में नेपाल की चर्चा चलने पर यह किंवदंती भी सुनाई देती थी कि पशुपतिनाथ के मंदिर में पारस पत्थर है, जिसे छुलाने से लोहा सोना बन जाता है। यदा-कदा पशुपतिनाथ की तीर्थयात्रा से लौटे धर्मात्मा लोग अतिशयोक्तियों में वहाँ का वर्णन करते थे—नेपाल के राजा वास्तव में पशुपतिनाथ भगवान हैं, राजा-राणा उनकी ओर से शासन करते हैं। भगवान-शासित देश कैसा होगा ! तुलसीदास का राम-राज्य वर्णन कानों में ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगता। हमारी युनिवर्सिटी के इतिहास विभाग के डा० ईश्वरी प्रसाद को एक बार नेपाल बुलाया गया था, शायद वहाँ का इतिहास लिखने के लिए। लौटकर वे बड़े गर्व से कहते थे कि वहाँ पर हिंदू राज्य है और गो-हत्या के लिए प्राण-दंड का विधान है, और इससे हमारी संस्कारी गो-भक्ति को संतोष की एक हल्की-सी थपकी लगती थी। वहाँ की ये कल्पित और तथ्यगत विशिष्टताएँ अब मेरे लिए अर्थहीन हो गई थीं। नेपाल में राणाशाही अपदस्थ हो चुकी थी और प्रगतिशील राजा जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रियों की सहायता से शासन कर रहे थे। उन दिनों श्री मातृका प्रसाद कोइराला प्रधानमंत्री थे। अभिनव नेपाल के लिए मेरे मन में कम कुतूहल नहीं था।

पटने तक रेल और वहाँ से हवाई जहाज़ से गया था। गोचर हवाई-अड्डे पर (जहाँ गोचर भूमि थी, वहाँ अब हवाई अड्डा था, मध्ययुग से आधुनिक युग में पहुँचने का यह कम संकेतक था ?) मुझे लेने को रसगोत्र आए थे। बोले, 'बच्चन जी, यहाँ प्रथा है, काठमांडू आने पर सबसे पहले लोग भगवान पशुपतिनाथ के दरबार में हाजिरी देते हैं।' चित्रों में

देख रखने के कारण मंदिर यथा प्रत्याशित लगा—स्थापत्य शैली नेपाल की अपनी, शेष सब कुछ भारतीय मंदिरों जैसा, चारों ओर वही गाय, गोबर, गंदगी, भिखमंगे, ढोंगी, जोगी, कोढ़ी, रोगी !—(मुक्तिप्रदाय भगवान शंकर के सान्निध्य में देह-त्यागार्थी मरणासन्न रोगियों के लिए मंदिर में ही आवास व्यवस्था है—'व्यवस्था' शब्द पर विद्रूप व्यंग्य करती हुई अव्य-वस्था।) भूतनाथ, प्रेताधिपति, मरघटाधीश्वर का खुला दरबार है, यहाँ कुछ न कहिए।

रसगोत्र ने हमें अपने साथ ठहराया। उनका मकान कमल पोखरी पर था—मकान क्या, महल, ऊँची दीवारों से घिरा, बीच में बड़ा-सा बाग़, किनारे पर तैरने का तालाब, पानी भरने को कई पंप लगे—बहुत दिनों से जैसे इस्तेमाल न किया गया हो—किसी भूतपूर्व राणा का निवास स्थान रहा होगा। रहते थे उसमें सिर्फ़ अकेले रसगोत्र, उन दिनों वे अविवाहित थे। सारे कमरे दरी-कालीन, दीवार-शृंगार-तस्वीर, शीशे, फ़र्नीचर युक्त प्रायः राणाशाही के समय के, पर सब रसगोत्र की सुरुचि से लगे-सजे। खास इमा-रत से अलग, निकट ही एक सर्व-सुविधा-युक्त अतिथि गृह भी था। जब हम लोग पहुँचे तो रसगोत्र अतिथिगृह में चले गए और मुख्य इमारत हमें रहने को दे दी गई—तेजी का कमरा अलग, मेरा अलग, बच्चों का अलग, फिर भी मकान में कई कमरे खाली। खाना बनाने को उनके पास एक गोवानीज़ कुक था, कई नौकर ऊपर का काम करने को।

भगवान सहाय जी को अधिक निकटता से देखने का अवसर मिला। उनके धीमान, कुशल, सफल, अनुभवी अधिकारी होने की बात मैंने बहुतों से सुन रक्खी थी। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वे अच्छे कलाकार भी हैं। राजदूतावास में एक कमरा रंग-फलक-तूली आदि चित्रकला के उप-करणों से भरा था। पेरिस प्लॅस्टर से वे मूर्तियाँ भी बनाते थे। नेपाली प्राकृतिक दृश्यों और जन-जीवन के उन्होंने कई सुंदर और सजीव तैलचित्र बनाए थे। साहित्य के प्रति भी उनकी खरी रुचि थी। उनका मूल्यांकन दूसरों की सम्मति-आलोचना से अप्रभावित स्वतंत्र हुआ करता था। भगवती चरण वर्मा उनके प्रिय उपन्यासकार थे, कविताएँ मेरी उन्हें अधिक पसंद थीं। उनकी पत्नी श्रीमती विद्या देवी तो भावुकता की मूर्ति ही थीं। मेरे 'निशा-

निमंत्रण' के गीत उन्हें विशेष प्रिय थे। मुझसे सुनतीं तो किसी-किसी पर बरबस उनके मुख से सीत्कार निकल जाती।

नेपाल हम छुट्टी मनाने गए थे और रसगोत्र ने हमें अपनी तरह से छुट्टी मनाने की पूरी छूट दे दी। वे तो सुबह तैयार होकर दफ़्तर चले जाते और लंच के समय आते, पर वे इस बात का आग्रह न करते कि हम उनके साथ लंच लें, वे लंच लेकर फिर दफ़्तर भागते और शाम को लौटते। हमारे लिए आज़ादी थी कि जब हमारा जी चाहे उठें, जब चाहें नहाएँ, धोएँ, जब चाहें खाना खाएँ, सोएँ, बैठें, घूमने जाएँ। वक्त से बँधकर चलनेवालों के लिए शायद सबसे बड़ी छुट्टी यह है कि उन्हें वक़्त-बंधन से एकदम मुक्त कर दिया जाए। हम सब वर्षों से वक़्त से जकड़े थे, हमने अपनी आज़ादी का खुलकर सुख लिया और असली अर्थों में छुट्टी मनाई।

हमारा अधिकतम समय काठमांडू में बीता, पर हर सप्ताहांत पर हम लोग कार से नेपाल के आंतरिक अंचलों को भी देखने जाते, जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य के अलावा बहुत कुछ अद्भुत-आकर्षक होता। नेपाल के चप्पे-चप्पे से कथाएँ-वार्ताएँ, इतिहास, देवकथाएँ, विश्वास जुड़े हैं और वहाँ का जन-जीवन उनसे कितना बल-संबल, कितनी प्रेरणा, कितना मनोविनोद पाता है, कौन जान सकता है! किसी बड़े इतिहासकार का कहना है कि छोटे-छोटे स्थानों से जुड़ी ये जनश्रुतियाँ उस देशभक्ति की मूल हैं जिसके बल पर बड़े-बड़े युद्ध जीते जाते हैं। सिपाही अमूर्त देश के लिए नहीं लड़ता; वह लड़ता है अपने गाँव के उस टीले या बावड़ी के लिए जिससे किसी प्रेत या पहलवान की कथा जुड़ी है और जिसने उसके बचपन से उसे उस कथा-सजीव भूमि से बाँधा है। क्या इन्हीं के बल से तो नहीं नेपाल सदा अपराजेय रहा है?

काठमांडू मुझे मध्ययुगीन वातावरण में पलती धर्माभासी नगरी लगी—महायानी बौद्ध, तांत्रिक, शाक्त, पौराणिक विश्वासों, अंधविश्वासों, मिथ्यांध विश्वासों में विजड़ित—इतस्ततः नेपाल से बाहर अंग्रेज़ी पढ़े नव-युवकों में आधुनिकता की आकाशी वायवी चेतना जिससे सामान्य जन-जीवन अछूता—असंपृक्त। काठमांडू में ऐसा कम नहीं जो आँखों के आगे आकर अपनी आधुनिकता का उद्घोष करे, पर यह आधुनिकता उस मुखौटे से कुछ अधिक नहीं जिसे अपने चेहरे पर लगाकर मध्य युगीनता ही छद्मवेश

में जीने का उपक्रम कर रही है। ऐतिहासिक प्रक्रिया ने भारतवर्ष में मध्य युगीनता को आधुनिकता स्वीकार करने के लिए जिस प्रकार तैयार और विवश किया है उस प्रकार नेपाल में नहीं। मैं सोचता हूँ कि अगर हिंदुस्तान पर मुसलमानों का आक्रमण और हिंदुस्तान में इस्लाम का आगमन न होता, अगर भारत पर अंग्रेजों की हुकूमत और भारत में पश्चिमी सभ्यता की पैठ न होती तो हम अपने को आज नेपाल की-सी सामाजिक स्थिति में पाते। इस्लाम के बिना कबीर, नानक, तुकाराम, नामदेव यहाँ तक कि तुलसीदास की भी,—पश्चिमी सभ्यता के बग़ैर राजा राममोहनराय, दयानंद, विवेकानंद, रवीन्द्र, अरविन्द, गांधी की कल्पना मैं नहीं कर पाता।

नेपाल में मुझे कवि रूप में जाननेवाले कम नहीं थे। बहुत से लोग मेरे मुख से मेरी कविताएँ सुनने को उत्सुक थे। नेपाल में मेरे प्रवासकाल में कई बार, कई जगहों पर कवि-सम्मेलनों और गोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिनमें नेपाली कवियों ने भी भाग लिया। नेपाल के जिन कवियों के नाम मुझे अब तक स्मरण हैं, वे थे श्री बालकृष्ण सम, श्री देव कोटा, श्री घिमीरे, श्री केदारमान व्यथित और श्री भवानी भिक्षु। सम जी नेपाली के नाट्य-कार और अभिनेता हैं—उन्होंने अपने कई नाटकों के अंश अभिनेता की मुद्रा में सुनाए, जो बड़े प्रभावकारी थे। जिस कवि से मैं सबसे अधिक प्रभावित हुआ, वे थे श्री देव कोटा—शरीर से हृष्ट-पुष्ट, ऊँचे, उनकी कविताओं की आधुनिकता ऐसी कि पश्चिम की आधुनिक कविताओं से होड़ ले, नेपाली में उनके प्रयोग एकदम नए, स्वर में प्रखरता, आक्रोश, व्यंग्य। राजनीति में भी दखल रखते थे। बाद को वे किसी विभाग के मंत्री के रूप में नेपाल-शासन से संबद्ध हुए। पीते डटकर थे—जैसे नेपाल में सब उच्च वर्गीय—उनके मुख से लगी सिगरेटों की शृंखला टूटती ही न थी—जवानी में ही उन्हें कैंसर हो गया जो असाध्य सिद्ध हुआ, और पारिवारिक प्रथा के अनुसार अपनी सारी आधुनिकता के बावजूद, संभवतः उनकी सहमति से ही, उन्हें पशुपतिनाथ-मंदिर में डाल दिया गया, जहाँ उनकी असमय मृत्यु हुई।

देव कोटा के बिल्कुल विपरीत थे श्री घिमीरे—दुबले-पतले, मझोले क़द के, मध्यवित्त परिवारी, वेश-भूषा से ठेठ नेपाली, स्वभाव से बालकों-जैसे,

नेपाली लोक धुनों में गीत लिखते थे, सस्वर पढ़ते थे, गीत उनके प्राकृतिक शोभा और पहाड़ी ग्रामीण जीवन से संबद्ध। जैसे बच्चे आपस में मिलते ही कोई खेल शुरू कर देते हैं वैसे ही वे बातें करते-करते कोई गीत सुनाने लगते, सुनाने को भी कहते और विभोर होकर सुनते, मानो उनका अंग-अंग काव्य श्रवण कर रहा हो।

'भिक्षु' हिंदी-छायावाद से प्रभावित थे, 'व्यथित' प्रगतिवाद से। भिक्षु, जैसे छायावादी प्रतिक्रिया से, कभी-कभी घोर यथार्थ की ओर झुक जाते थे। उनकी एक कविता 'मेहतरानी' पर थी। नेपाली में शीर्षक कुछ और था। 'व्यथित' खुलकर न कह सकने की स्थिति में व्यंग्य का आश्रय लेते थे।

कहीं किसी शाम की गोष्ठी की भी मुझे स्मृति है जिसमें श्री रेगमी और श्री टंका प्रसाद उपस्थित थे—किसी समय शासन से शायद मंत्री या उपमंत्री के रूप में संबद्ध। दोनों ही राणाशाही के समय अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण दस-दस बरस जेलों में रहे थे। उनके कई साथियों को प्राण-दंड मिला था। टंका प्रसाद जी ब्राह्मण होने के कारण फाँसी के फंदे से बच गए थे। उन्होंने ही मुझे बताया था कि कारावास की यह लंबी अवधि उन लोगों ने 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' पढ़-पढ़कर काटी थी।

मेरे काव्य-पाठ की कुछ विशेष बैठकें रसगोत्र ने अपने घर पर आयोजित की थीं। ऐसी बैठकें प्रायः रात को भोजनोपरांत आरंभ होतीं और सुबह तक चलतीं, लोग जब विदा होते, प्रभात की चिड़ियाँ बोलने लगतीं। रसगोत्र बड़े कल्पनाशील हैं, स्वयं भी जो कवि हैं, बाद को उनकी कविताओं का एक संग्रह 'दो परतें' के नाम से प्रकाशित हुआ था, काव्य-परख में भी उनकी पैठ गहरी है, अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में हिंदी कविता पर उनके लेख अक्सर प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने एक रात एक ऐसे काव्य-पाठ का आयोजन किया जैसा मेरे जीवन में न कभी पहले हुआ था न बाद को। उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि 'निशा निमंत्रण' के एक सौ गीत, संध्या से लेकर प्रभात तक के, मैं एक रात एक साथ सुनाऊँ,

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है।
हो जाय न पथ में रात कहीं,

मंज़िल भी तो है दूर नहीं—
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी-जल्दी चलता है।

भीगी रात विदा अब होती।
हाथ बढ़ा सूरज किरणों के
पोंछ रहा आँसू सुमनों के,
अपने गीले पंख सुखाते तरु पर बैठ कपोत-कपोती।

तक के कल्पना-विनिर्मित वातावरण में।

कविता में खरी रुचि रखनेवाले २०-२५ लोगों को उन्होंने आमंत्रित किया था; मुझे याद है, उसमें श्रीमती और श्री भगवान सहाय भी उपस्थित थे। मेरे मन पर उस रात का काव्य-पाठ बहुत भारी पड़ा था, पर कलानुभूति का यही भार तो जग-जीवन-काल के भार को हल्का भी करता है। श्रोताओं पर क्या बीती, वे ही जानें, बहुत-से चुपचाप उठे और चले गए थे, न जाने किन भावनाओं में डूबे; मेरे प्रति धन्यवाद उन्होंने कई दिन के बाद व्यक्त किया था।

नेपाल के अपने प्रेमियों, मित्रों, प्रशंसकों के बीच समय बड़ी जल्दी बीत रहा था। युनिवर्सिटी खुलने के दिन निकट आने लगे। मुझे इलाहाबाद लौटना ही था। पहले मैं कहीं भी जाता, थोड़े समय के लिए या अधिक समय के लिए, इलाहाबाद लौटने की मेरे मन में ललक होती थी। अब मैं इलाहाबाद लौटने में डर रहा था। युनिवर्सिटी मुझे काटने लगी थी।

जुलाई में युनिवर्सिटी खुल गई और वही सत्र का रूटीनी जीवन आरंभ हुआ।

३२

जुलाई में नेहरू जी इलाहाबाद आए। मुझे नहीं याद कि वर्ष में कभी किसी विषय पर मेरा-उनका पत्राचार हुआ।

वे आए तो एक शाम उन्होंने मुझे चाय पर बुलाया। निमंत्रण-पत्र विभाग में ही आ गया था। प्रधान मंत्री द्वारा स्मरण किया जाना, कोई साधारण बात तो न थी, मेरे सहयोगियों की प्रतिक्रिया की कल्पना आप ही

करें। श्री पी० डी० टंडन, इलाहाबाद के प्रसिद्ध पत्रकार भी उस समय विभाग में किसी प्रसंग में उपस्थित थे। उन्होंने निमंत्रण-पत्र देखकर कहा, 'बस, अब नेहरू जी तुम्हें दिल्ली ले गए।' उनकी भविष्यवाणी सच ही निकली। वे नेहरू जी से निःसंकोच मिलनेवालों में थे, संभव है, नेहरू जी ने जो बातें मुझसे कहीं, उनका कुछ संकेत उन्हें दे चुके हों।

नेहरू जी ने मेरी स्थिति के बारे में पूछा तो मुझे कहना ही था कि मैं जहाँ पिछली जुलाई में था, उसी जगह पर अब भी हूँ—लेक्चरर ग्रेड के अधिकतम वेतन पर मैं पहुँच गया था, यानी ५००/= की सीमा पर, और भविष्य में किसी वृद्धि की संभावना नहीं थी।

पंडित जी ने कहा, 'मुझे अफ़सोस है, मैं अभी तक तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सका। पर जल्द ही विदेश मंत्रालय में एक ऐसे अफ़सर की ज़रूरत होगी जो अच्छी हिंदी के साथ अच्छी अंग्रेज़ी भी जानता हो, क्योंकि काम प्रायः अनुवाद का होगा, राजनयिक दस्तावेजों-पत्रों का; तुम आना चाहोगे? तनख्वाह अच्छी होगी।'

मैंने कहा, 'आप मुझे किसी काम के योग्य समझकर बुलाएँगे तो मैं निश्चय आऊँगा, तनख्वाह के कम-ज्यादा होने के बारे में मैं नहीं सोचूंगा।'

मैं तो अब किसी बहाने इलाहाबाद छोड़ने को आतुर था।

मेरे उत्तर से नेहरू जी प्रसन्न हुए।

मेरे नक्षत्रों में हरकत हो गई थी।

अगस्त में डा० केसकर इलाहाबाद आए, वे उन दिनों सूचना एवं प्रसारण मंत्री थे। उनके आने के पूर्व ही नगर के साहित्यकारों में यह खबर फैल गई थी कि आल इंडिया रेडियो अपने विभिन्न केंद्रों पर जाने-माने साहित्यकारों को 'प्रोड्यूसर' के रूप में नियुक्त करनेवाला है। रेडियो के संदर्भ में तब यह शब्द नया-नया था और किसी को पता नहीं था कि 'प्रोड्यूसर' का काम क्या होगा। डा० केसकर की प्रयाग-यात्रा उसी संबंध में थी। इलाहाबाद रेडियो केंद्र ने उनके स्वागत में एक पार्टी दी थी जिसमें प्रायः सभी स्थानीय लेखकों को निमंत्रित किया गया था और वे आए भी थे, निराला और महादेवी को छोड़कर, पर उन्होंने सदा से रेडियो से बाइकाट किया था। पार्टी में डा० केसकर ने एक छोटा-सा भाषण भी दिया था,

जिसमें उन्होंने अपनी नई योजना को स्पष्ट किया था। संक्षेप में 'प्रोड्यूसर' का काम वही होने को था जो पत्रिका में संपादक का होता है—वह अपने क्षेत्र के लेखकों से संपर्क बनाए रहे और उनकी नवीन और उत्कृष्ट रचनाओं को प्रसारित कराने के संबंध में रेडियो को सलाह-सहायता दे। प्रोड्यूसर के अच्छे-खासे वेतन की कल्पना लोगों ने शायद स्वयं कर ली थी। पंत जी को १०००/= प्रति मास मिल ही रहे थे।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, डा० केसकर के सम्मान में दो-तीन पार्टी-गोष्ठियाँ हुई थीं और सभी में साहित्यकारों की अच्छी उपस्थिति थी—कुछ-कुछ ज़्यादा ही उनके आगे-पीछे, ज़ाहिर है उनकी नज़रों में चढ़ने या उन्हें प्रभावित करने की दृष्टि से, कुछ अपनी चाल-ढाल में सामान्यतया लापरवाही बरतनेवाले प्रयत्नपूर्वक संयत, सलीकेदारी से, कुछ ने, याद पड़ता है, उन्हें अपनी रचनाएँ भी भेंट की थीं।

डा० केसकर आए और चले गए, छोड़ गए प्रयाग के प्रायः प्रत्येक साहित्यकार के मन में रेडियो की प्रोड्यूसरी का सुखद स्वप्न सेने को—न जाने किसके नाम किस दिन दिल्ली से नियुक्ति का पत्र आ जाए।···

जिन लोगों से मंत्री महोदय ने अलग-अलग बातचीत की थी उनमें मैं भी था। बीस वर्ष के बाद मुझे याद तो नहीं कि उनसे मेरी क्या बातें हुई थीं, पर उन दिनों केम्ब्रिज और अपने शोध-विषय W. B. Yeats and Occultism से मैं इतना भरा था कि संभवतः इन्हीं पर मैंने ज़्यादा बातें की होंगी, ज़्यादा क्या यही ५-७ मिनट, और निश्चय ही उससे उनके समक्ष मेरे हिंदी साहित्यकार की अपेक्षा मेरे अंग्रेज़ी अध्यापक का रूप अधिक उभरा होगा। अपने साहित्यकार रूप से उन्हें प्रभावित करने का मैंने कोई प्रयत्न नहीं किया था क्योंकि मेरे भविष्य की आशा मुख्य रूप से कहीं और अटकी थी, फिर भी यह कल्पना प्रीतिकर लगी थी कि उन्होंने अपनी पसंद की सूची में मुझे भी सम्मिलित किया है, क्योंकि कई स्टेशनों के लिए कई लोग चुने जाने को थे।

कल्पना सच हो गई।

सितंबर में सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय से मेरे लिए पत्र आ गया—मुझे इलाहाबाद रेडियो स्टेशन पर हिंदी प्रोड्यूसर के रूप में नियुक्त किया

गया था, वेतन मुझे ७५०/= मिलने को था, पद अस्थायी था और शुरू-शुरू में केवल एक वर्ष के लिए था।

मैं तो नेहरू जी से वचनबद्ध हो चुका था कि वे जब भी मुझे बुलाएँगे, मैं उनके मंत्रालय में काम करने को हाज़िर हो जाऊँगा। मैंने उचित समझा कि रेडियो का काम स्वीकार करने के पहले पंडित जी की अनुमति ले लूँ। ऐसे विषय में उनसे मिलकर ही उनकी सलाह लेना ठीक था। मैं दिल्ली गया तो उन्होंने मुझे रेडियो का काम ले लेने की सलाह दी। वेतन आदि के बारे में पूछकर उन्होंने मुझसे कहा कि 'अगर तुम कुछ महीने यह काम कर लोगे तो तुम्हें विदेश मंत्रालय में ज़्यादा तनख्वाह दिलाना मेरे लिए आसान होगा। क़ायदा यह है कि जब केंद्र में किसी काम पर किसी को बुलाया जाता है तो उसका वेतन उसके पिछले वेतन से केवल २०% बढ़ाया जा सकता है। ५००/= पर कितना बढ़ेगा! ७५०/= पर कुछ अधिक बढ़ सकेगा—दिल्ली ज़्यादा खर्चीली जगह है।' उनकी सद्भावना से अभिभूत लौटा—वे मुझमें कितनी व्यक्तिगत रुचि ले रहे थे।

युनिवर्सिटी छोड़ने को मैं मानसिक रूप से बहुत पहले से तैयार हो रहा था, फिर भी निर्णायक क़दम उठाने के पहले मन में हिचक तो थी ही—मेरा कार्य, कार्य-क्षेत्र, कार्य-माध्यम सबका सब एक दिन में बदल जायगा। इस अचानक परिवर्तन को क्या मैं आसानी से सहार जाऊँगा? अध्यापक से सहसा संपादक?—साफ़ ही क्यों न कहूँ—किसी रूप में क्लर्क, बन जाने पर मुझे कैसा लगेगा? विडंबना तो यह थी कि जिस समय अपने अकादमिक जीवन के लिए मैं ज़्यादा तैयार होकर आया था, अधिक सक्षम-योग्य बनकर उस समय नियति मेरे उचित कार्यक्षेत्र से मुझे दूर हटा रही थी।

इसका संकेत मुझे साल भर पहले मिल चुका था। इंग्लैंड से लौटने पर एक दिन पंत जी ने मेरा हाथ देखकर मुझे बताया था कि 'लगभग एक वर्ष के बाद तुम्हारा कैरियर बदल जायगा।' यह बात जुलाई '५४ की होगी, और अब सितंबर '५५ था। इससे पूर्व भी एक बार उनकी भविष्यवाणी मेरे संबंध में उतनी सटीक उतरी थी कि मुझे पूरा विश्वास हो गया था कि जो वे कह रहे हैं, वह होके रहेगी, वह तो होनी ही है।

मीरा का एक पद कानों में प्रतिध्वनित हुआ—

'...होनी हो सो होई।'

होनी स्वीकार ही करनी पड़े तो विवशता से स्वीकार करने से कहीं अच्छा है कि साहस के साथ स्वीकार की जाय। दिल्ली से लौटने के दूसरे दिन युनिवर्सिटी जाकर मैंने विभागाध्यक्ष को एक वर्ष की अवैतनिक छुट्टी के लिए अर्ज़ी दे दी—अगर वर्ष भर बाद रेडियो की प्रोड्यूसरी का पद समाप्त कर दिया जाय, अथवा मुझे अन्य प्रत्याशित जगह न मिले तो मैं फिर अंग्रेज़ी के लेक्चरर के रूप में लौट सकूँ, हालांकि मेरे अंतरतम में जैसे कोई कह रहा था, 'यहाँ से तुम्हारी यह अंतिम विदा है और अब तुम कभी युनिवर्सिटी नहीं लौटोगे।' इस आवाज़ पर मेरे मन में एक अवसाद भी था, एक राहत भी थी—अवसाद इस बात पर कि अपनी युनिवर्सिटी में अध्यापक पद पाने के लिए एक समय मैंने कितने अरमान सँजोए थे और आज उससे पीठ फेरकर चला जा रहा था, राहत इस पर कि अगर युनिवर्सिटी ने मेरे श्रम-संघर्ष के प्रति उदासीनता दिखाई थी, मेरी अध्यवसाय-प्राप्त योग्यता की उपेक्षा की थी तो मुझे भी यह दिखाने का अवसर मिला था कि मैं कहीं अपेक्षणीय भी हूँ।

विभागाध्यक्ष ने मेरे युनिवर्सिटी छोड़ने पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था—पर शब्द भावों को प्रकट करने के सहज माध्यम हैं तो भावों को छिपाने के छली उपकरण भी हैं। मैं जानता था, मेरे विभाग छोड़ने का उन्हें ज़रा भी अफ़सोस न था, और न मेरे सहयोगियों को ही, मेरे प्रति एक अहानिकर ईर्ष्या उनमें सदा से थी—मैं अंग्रेज़ी लेक्चरर के अतिरिक्त किसी और क्षेत्र में भी कुछ था—और फिर, नगण्य नहीं। मेरे इंग्लैंड से लौटने के बाद उनके बीच मेरी उपस्थिति उनमें एक हीन भावना भी जगाती थी। युनिवर्सिटी से मेरे हट जाने पर उन्होंने भी एक राहत की साँस ली हो तो आश्चर्य नहीं। चलने लगा तो मेरे सहयोगियों के बीच से एक आवाज़ सुनाई दी,

Just for a handful of silver he left us.

(बस कुछ चांदी के टुकड़ों की ख़ातिर उसने हमको छोड़ा।)

राबर्ट ब्राउनिंग ने यह पंक्ति विलियम वर्ड्सवर्थ के पोएट लारिएट का सरकारी पद स्वीकार करने पर लिखी थी। यहाँ कौन राजकवि बनने

जा रहा था ! सच्चाई तो यह थी कि जो मैं कर रहा था, वह अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर और किसी अंश में अपने घायल अहं पर मरहम लगाने के लिए। मेरे handful of silver (कुछ चाँदी के टुकड़ों) से भी क्या एक बार फिर मेरे सहयोगियों की ईर्ष्या ही नहीं मुखर हो उठी थी ?

हाँ, अगर मेरे लिए युनिवर्सिटी छोड़ने का अफ़सोस सचमुच किसी को हुआ था तो मेरे विद्यार्थियों को। जुलाई से आरंभ होनेवाले सत्र में लेक्चर और सेमिनार क्लासों को लेकर लगभग सौ विद्यार्थी मेरे संपर्क में थे। बच्चों ने जल्दी-जल्दी आपस में कुछ चंदा इकट्ठा किया, मुझे एक विदा पार्टी दी, मुझे एक पुस्तक भेंट की, जिसके प्रारंभिक पृष्ठों पर उन सबने अपने-अपने हस्ताक्षर किए—पुस्तक थी मानतेन की The Selected Essays (दि सेलेक्टेड एसेज) जो अब तक मेरे पुस्तकालय में है—मेरे प्रति मेरे अंतिम विद्यार्थियों के स्नेह का प्रतीक, जिसे अपने समस्त विद्यार्थियों के स्नेह का प्रतीक मानकर मैं बहुत सँजोकर रखे हुए हूँ। अध्यापक जीवन की कतिपय सीमाओं के बावजूद उसके कुछ सुख-लाभ की कल्पना भी सहज ही की जा सकती है, पर उसकी शायद सबसे बड़ी उपलब्धि है, अपने विद्यार्थियों का स्नेह प्राप्त करना। जिसे यह नहीं मिला, मैं तो कहूँगा, उसका अध्यापक-जीवन व्यर्थ गया। काश, यह मुझे कम मिला होता, तो उससे वंचित होने की वेदना मुझे कम सालती।

मुझे ठीक याद नहीं कि किस तारीख़ से मैंने रेडियो के दफ़्तर में जाना शुरू किया था, पर एक बात नहीं भूली कि पहले दिन जब मैं दफ़्तर जाने के लिए घर से निकला था तो मेरी गाड़ी अनायास युनिवर्सिटी की ओर मुड़ गई थी, और ऐसी भूल मुझसे कई बार हुई, शायद अपने जीवन का जो परिवर्तन मैंने स्वीकार कर लिया था, मेरा अवचेतन उसे बहुत दिनों तक अपने तरीक़े से नकारता रहा।

स्मृतियाँ और कल्पनाएँ जीवन में आए अचानक परिवर्तनों को झेलने में मनुष्य की कितनी सहायता करती हैं, इसका अंदाज़ा सहज नहीं लगाया जा सकता। रेडियो के दफ़्तर में बैठे हुए युनिवर्सिटी जीवन की मुझे कितनी-कितनी याद आती। और कभी-कभी तो मानो मैं अपनी कक्षा में ही जा बैठता।

प्रोड्यूसर के लिए एक अलग ही कमरा दे दिया गया था, उसी में पंत जी भी बैठते थे, पर वे अपराह्न में केवल दो-ढाई घंटों के लिए आते। शेष समय मैं अपने कमरे में अकेला बैठा प्रसारण के लिए आई सामग्री की जाँच-पड़ताल करता।

मनुष्य किस काम के लिए अपने को तैयार करता है और क्या उसे करना पड़ता है!

मैं सोचता, अगर कुछ समय बाद मुझे विदेश मंत्रालय में ही बुला लिया गया तो वहीं केम्ब्रिज में प्राप्त किए मेरे ज्ञान का क्या उपयोग होगा!

क्या केम्ब्रिज में व्यय किया गया मेरा सारा धन, सारा समय, सारी शक्ति, उस अवधि में सही-झेली सारी मुसीबतें, सारी दिमाग़ी परेशानियाँ व्यर्थ ही गईं?

अगर मुझे इसका विश्वास होता तो मुझे आत्महत्या कर लेने से कौन रोकता! ऐसे विश्व-तंत्र में जहाँ एक निरीह व्यक्ति को व्यर्थ परेशान करने का षड्यंत्र चल सकता हो, उसमें कौन जीना चाहेगा!

नहीं।

जो भी मैंने सीखा, सहा, भोगा, अनुभव किया है वह सब का सब मेरे व्यक्तित्व का अंग हो गया है।

चाहे मैं रेडियो में प्रसारण-सामग्री की परीक्षा करूँ, चाहे विदेश मंत्रालय में राजनय संबंधी दस्तावेजों का अनुवाद, चाहे मैं कविता लिखूँ, चाहे गद्य, सब में मेरे जीवन की शिक्षा-दीक्षा के साथ मेरे केम्ब्रिज का संस्कार भी बोलेगा, झलकेगा, महकेगा!

क्या आपको इस आत्मचित्रण में केम्ब्रिज के कंठ का स्वर भी नहीं सुनाई पड़ा? केम्ब्रिज के दृश्यों की झाँकी भी नहीं दिखाई पड़ी? केम्ब्रिज के फूल-कलियों की सुगंध भी नहीं आई? क्या वहाँ पर मेरे मन, मस्तिष्क, हृदय पर पड़े संस्कार भी मेरी पंक्ति-पंक्ति, मेरे शब्द-शब्द में नहीं साकार हुए?

तब वहाँ सीखा-समझा, देखा-सुना, भोगा-झेला कुछ भी व्यर्थ कैसे हुआ?

रेडियो के कार्य-काल में मुझे एक लंबे सेमिनार की याद है जो प्रोड्यूसरों के लिए दिल्ली रेडियो केंद्र पर आयोजित किया गया था। सरकार ने सभी भाषाओं के उच्चकोटि के लेखकों को रेडियो से संबद्ध कर लिया था।

सेमिनार में प्रसारण के संबंध में कुछ तकनीकी और कुछ सरकारी नीति का मोटा-मोटा ज्ञान कराया गया था। श्री मर्ढेकर सेमिनार के इंचार्ज थे, उनका स्वर्गवास हो चुका है, मराठी में नई कविता आंदोलन के अग्रणी कवियों में थे।

२५०/=प्रतिमास अधिक वेतन की संभावना का द्वार खुलते ही तेजी ने और मैंने सबसे पहला निर्णय यह लिया कि हम अमिताभ और अजिताभ को पढ़ाने के लिए शेरवुड कालेज, नैनीताल, भेजेंगे जो उन दिनों भारत प्रसिद्ध कान्वेंट शिक्षा-संस्था थी। वहाँ के प्रिंसिपल रेवरेन्ड लेवेलिन केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के स्नातक थे। उस नाते उन्होंने मेरे दोनों लड़कों को फ़ौरन अपने कालेज में प्रवेश दे दिया और आगामी सत्र में उन्हें वहाँ भेजने की तैयारी होने लगी। बहुत दिनों से इतने उत्साह से हमने शायद ही कोई काम किया हो। हमने उससे अधिक सही निर्णय भी अपने जीवन में शायद ही कोई और लिया। अपने बच्चों के भविष्य को सँवारने से अधिक महत्त्वपूर्ण काम हमारे लिए हो भी क्या सकता था! अमिताभ और अजिताभ जो भी आज जीवन में हैं उसके लिए अपनी माँ की शिक्षा-दीक्षा के बाद वे अपने को शेरवुड का ऋणी मानते हैं।

मैंने रेडियो में पूरे तीन महीने भी काम न किया था कि मुझे विदेश मंत्रालय दिल्ली से बुलावा आ गया।

उस वर्ष जहाँ तक मुझे स्मरण है, बड़ा दिन इतवार को पड़ा था, इस कारण बड़े दिन के उपलक्ष्य में छुट्टी सोमवार २६ दिसंबर को दी गई थी। साल समाप्त होने में पाँच दिन शेष थे। मैंने पाँच दिनों की कैजुअल लीव ले ली, जो मेरा प्राप्तव्य था। मुझे दो कवि-सम्मेलनों में भाग लेना था—काशी हिंदू विश्वविद्यालय में और माधव कालेज इंदौर में, जहाँ उन दिनों शिवमंगलसिंह 'सुमन' हिंदी विभागाध्यक्ष थे। दोनों जगहों से अच्छे पारिश्रमिक का वादा किया गया था, मेरी आर्थिक आवश्यकताएँ अब भी कवि-सम्मेलनों द्वारा कुछ अर्जित करने को मुझे विवश करती थीं। २४ दिसंबर की रात को काशी के कवि-सम्मेलन में भाग लेकर मैं २६ को सवेरे इंदौर पहुँच गया, उसी रात को वहाँ कवि-सम्मेलन था।

'सुमन' ने बहुत बड़े पैमाने पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया

था, बहुत-से कवि निमंत्रित किए गए थे। विदेश से लौटने के बाद पहली बार मैं इंदौर गया था। 'सुमन' ने बड़े उत्साह से, विद्यार्थियों की एक बड़ी भीड़ के साथ मेरा स्वागत किया, जैसे किसी राजनीतिक नेता का। कवि-सम्मेलन मेरे सभापतित्व में होगा, इसकी घोषणा उन्होंने पहले से करा दी थी।

यात्रा का थका था, दिन को सो गया था, रात को जागने की तैयारी में भी।

सोने गया था, तब इसकी कल्पना भी न की थी कि सोकर उठूंगा तो मेरा जीवन मुझे एक नए मार्ग पर चलने के लिए संकेत करेगा—जीवन का क्या, वह नियति का ही संकेत होगा—और बस उसपर चल ही पड़ना होगा।

उठा ही था कि किसी ने आकर खबर दी—मेरे लिए इलाहाबाद से ट्रंककाल है।

तेजी मुझे बधाई दे रही थीं। इंग्लैंड से लौटने के बाद तेजी की आवाज़ से इतनी खुशी का विस्फोट मैंने नहीं जाना था। भगवान के यहाँ देर है, अंधेर नहीं है।

विदेश मंत्रालय से मेरी नियुक्ति का पत्र घर पहुँच गया था। मुझे आफ़िसर आन स्पेशल ड्यूटी (हिंदी) के पद पर बुलाया गया था। मैं मंत्रालय के हिंदी सेक्शन का हेड हूँगा। मेरा काम होगा विदेश मंत्रालय में उत्तरोत्तर हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देना और हिंदी को राजनयिक काम-काज का सक्षम माध्यम बनाना। मेरा वेतन १०००/=प्रतिमास होगा। पत्र में कहा गया था कि जितनी जल्दी हो सके, मैं विदेश मंत्रालय पहुँचकर अपना पद सँभाल लूं।

तेजी ने राय दी कि मैं उसी रात को इंदौर से चलकर दूसरे दिन दिल्ली पहुँच जाऊँ – मँगल का दिन होगा, नया काम शुरू करने के लिए शुभ दिन, २७ तारीख भी होगी, तीन से कटने वाली संख्याएँ मेरे लिए शुभ होती हैं, फिर २७ तो मेरे जन्मदिन की संख्या होने से और शुभ। इसलिए जैसे भी हो मैं २७ दिसंबर को दिल्ली पहुँचकर विदेश मंत्रालय में अपने को प्रस्तुत कर दूं।

कुछ सोचने-विचारने के लिए समय ही न था। जल्दी-जल्दी टाइम-टेबिल देखा। दस बजे रात को एक ऐसी गाड़ी थी जिसे रतलाम से पकड़-

कर दूसरे दिन सवेरे दिल्ली पहुँचा जा सकता था। जाड़े के दिन थे, ७ बजे रात से कवि-सम्मेलन था। गाड़ी पकड़ने के लिए मुझे साढ़े सात तक कार से रतलाम के लिए रवाना हो जाना चाहिए था। 'सुमन' मुझे सभापति की गद्दी पर बिठलाकर रात-भर कवि-सम्मेलन जमाने की कल्पना किये हुए थे। मैंने इलाहाबाद के ट्रंककाल की बात उन्हें बताई तो वे मारे खुशी के उछल पड़े, पर जब मैंने उनसे कहा कि कवि-सम्मेलन आरंभ होने के आधे घंटे बाद वे मुझे जाने की आज्ञा दे दें तो वे बड़े निराश हुए। उनकी पहली प्रतिक्रिया यही थी—यह कैसे हो सकता है! पर जब मैंने उन्हें तेजी के आग्रह से अवगत किया तो वे मान गए और सारा प्रबंध ऐसा कर दिया कि मैं कार से समय पर रतलाम पहुँचकर दिल्ली की गाड़ी पकड़ सकूँ।

सात बजे ठीक हम लोग कवि-सम्मेलन में पहुँचे। सारा पंडाल खचा-खच भरा था, आठ-दस हज़ार जनता तो होगी वहाँ। सुमन ने मेरे स्वागत और विदा में जो भाषण दिया था, वह मुझे अब तक याद है—'स्वागत के ही साथ विदा की होती देखी तैयारी।' मेरी पंक्तियाँ मुझपर ही जितनी सटीक बैठी हैं, शायद ही किसी और कवि की उसपर।

'सुमन' अपनी जीवंतता से हर स्थिति को बड़े सहज भाव से नाटकीय बना देते हैं। विदेश मंत्रालय में मेरी नियुक्ति की घोषणा उन्होंने सार्वजनिक रूप से उस भरी सभा में कर दी—'नेहरू जी ने देश-विदेश संबंधों में हिंदी को स्थान दिलाने के लिए अपने सहायक के रूप में बच्चन जी को दिल्ली बुलाया है'...आदि-आदि। मालवा में हिंदी-प्रचार के लिए जो उत्साह था, मेरे कवि के प्रति जो आकर्षण या और नेहरू के नाम में जो जादू था—सब ने मिलकर उस जन-समुद्र में उल्लास की जो लहरें उठाई थीं, उनसे खेलना 'सुमन' का ही काम था। उन्होंने जनता से यह मनवा लिया कि सभापति होने के बावजूद सबसे पहले मैं कविता-पाठ करूँगा क्योंकि मुझे १० बजे रतलाम से दिल्ली के लिए गाड़ी पकड़नी है...। बिना उनकी इस भूमिका के, 'सुमन' राजी हो जाते, तो भी, शायद ही जनता मुझे सभा से उठने देती।

जनता की फ़रमाइश की एक कविता सुनाने के बाद 'जीवन की आपा-धापी...' से मैंने अपना कविता-पाठ समाप्त किया। कविता के अंतिम पद

का परिस्थिति और मेरी मनःस्थिति से जो सामंजस्य था उसने कवि-सम्मेलन में एक अजीब समाँ बाँध दिया।

मैं कितना ही भूलूँ, भटकूँ या भरमाऊँ
है एक कहीं मंज़िल जो मुझे बुलाती है,
कितने ही मेरे पाँव पड़ें ऊँचे-नीचे
प्रतिपल वह मेरे पास चली ही आती है,
मुझपर विधि का एहसान बहुत-सी बातों का
पर मैं कृतज्ञ उसका इसपर सब से ज्यादा—
नभ ओले बरसाए, धरती शोले उगले,
अनवरत समय की चक्की चलती जाती है।
मैं जहाँ खड़ा था कल उस थल पर आज नहीं,

मैं जनता से विनोद्र करता हूँ, 'कल मैं काशी में था, आज मैं इंदौर में हूँ'...फिर मैं आगे की पंक्ति पढ़ना आरंभ करता हूँ,

'कल इसी जगह फिर पाना मुझको मुश्किल है'

जनता से मेरा विनोद चल रहा है, 'कल इसी वक़्त मैं दिल्ली में हूँगा'...फिर पद की अंतिम पंक्तियाँ पढ़ता हूँ,

ले मापदंड जिसको परिवर्तित कर देतीं
केवल छूकर ही देश-काल की सीमाएँ
जग दे मुझपर फ़ैसला उसे जैसा भाए,
लेकिन मैं तो बेरोक सफ़र में जीवन के
इस एक और पहलू से होकर निकल चला...

और जनता की हर्ष-ध्वनि और पंक्ति की सहस्रों प्रतिध्वनियों के बीच मैं कवि-सम्मेलन से निकल चलता हूँ।...सुमन विदाभिभाषण देने के लिए माइक पकड़कर खड़े हो गए हैं...उल्लसित जन-समुद्र ने उन्हें रूपक की भाषा में बोलने को प्रेरित किया है। तुलसी उनके परम प्रिय कवि हैं, जैसे मेरे, और यथा-प्रसंग वे उनमें कुछ अवसरानुकूल खोज ही लेते हैं।—

'लिंग थापि विधिवत करि पूजा
शिव समान प्रिय मोहि न दूजा।

' इस जन-समुद्र से तरने के लिए कवि-सम्मेलन ही सेतु है। सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में बच्चन जी का काव्य-पाठ ही इस सेतु पर लिंग-स्थापना थी, अब इसपर कवियों का कटक उतरे,

'अब विलंब केहि काम बंध्यो सेतु उतरै कटक!'

और उन्होंने किसी सुकंठ को काव्य-पाठ करने के लिए आमंत्रित किया।

मैं जन-रव, जनोल्लास, सामूहिक प्रशंसा, रस-रंग-राग, जगमगप्रकाश की दुनिया से पीठ फेरकर इंदौर से किसी की कार में रतलाम जा रहा था। ट्रेन मिल गई। सोने को मुझे एक पूरी बर्थ मिल गई थी, शायद वह कूपे था और ऊपर की बर्थ पर कोई न था, पर मुझे बड़ी देर तक नींद न आई। बड़ी देर तक कवि-सम्मेलन का दृश्य और उसका गुंजार मेरी स्मृति में प्रतिबिम्बित-प्रतिध्वनित होता रहा···बार-बार, हर बार, मुझे मेरी ही अंतिम पंक्ति के प्रति कुछ बड़ी निजी रीति से सचेत करता,

(तू) इस एक और पहलू से होकर निकल चला।···

२७ दिसंबर, १९५५ को दोपहर में मैं विदेश-मंत्रालय के भव्य-भवन के सामने आकर खड़ा हो गया, अपनी नई कर्मभूमि के सामने। लेकिन उसमें प्रवेश करने के पहले जरा ठिठक गया, जैसे जी चाहा, अपनी पुरानी कर्म-भूमि से विदा ले लूं, अपनी जन्मभूमि ('जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि') बाल-भूमि, युवा-भूमि, और प्रारंभिक प्रौढ़ता की भूमि से—मैं अपने ४९वें वर्ष में दिल्ली आया था।

मैं यह नहीं कहूँगा कि दिल्ली आने की मुझे खुशी नहीं थी,
मुझे आदर से बुलाया गया था।
मेरे लिए एक नया काम था—जिसकी अपनी महत्ता थी।
मुझे अच्छा वेतन दिया गया था,
जिससे मेरे लड़कों की अच्छी शिक्षा सुनिश्चित हुई थी।
मैं अपने निंदकों, छिद्रान्वेषियों और अपनी शांति के शत्रुओं से दूर

चला आया था ।

और मेरा आना,

एक अच्छे पद पर आना,

उन लोगों के मुँह पर एक तमाचा था जो मुझे केवल उपेक्षणीय और अवहेलनीय समझते थे ।

अपने विरोधियों को नीचा दिखाने का सुख, अपने अहं की तुष्टि, अपनी संतान के प्रति दायित्व निभाने की खुशी—तीनों का अवसर एक साथ पाने पर भी, क्या अपनी ज़मीन छोड़ने की कचोट मुझे बिना साले रह सकती थी ? नहीं, नहीं, नहीं । 'ज़मीन' वही नहीं, जिसपर मैं जन्मा, पला, बढ़ा था, जिसपर मेरी काया खड़ी थी । 'ज़मीन' वह भी, जो मेरे आधे व्यक्तित्व का अंग थी, जिसपर मेरा अध्यापक पिछले तीस वर्षों से खड़ा था । शायद मेरी कविता को या मेरे कवि को अधिक वज़नी समझनेवाले यह सोचते हों कि मुझमें निहित अध्यापक-मास्टर-टीचर-फटीचर महज़ मेरी तराजू का पासंग है । मैं शब्दों की इस मीनार पर खड़े होकर यह उद्घोषित करना चाहता हूँ कि वे नितांत भ्रम में हैं । वयस्क होने से लेकर मेरे अधेड़ होने तक मेरा अध्यापक मेरे कवि के साथ काँधे के साथ काँधा मिलाकर चला था । इतना ही नहीं, बहुत समय तक वह मेरे कवि को अपने काँधे पर बिठाकर चला था । 'था' उसके लिए कहना भी मेरे लिए कम दुखद नहीं है । पर इस तथ्य को अस्वीकार भी कैसे किया जा सकता है कि एक दिन वह मेरे जीवन से चला गया ! उसका जाना स्वाभाविक काल-गति से नहीं हुआ । जब मेरी दुर्निवार नियति ने राजनयिक दस्तावेज़ों-पत्रों के अनुवादक रूप में मुझे माँगा, तो मेरे अध्यापक ने अपने को सहर्ष बलिदान कर दिया, मेरे कवि ने अपने को नहीं किया । मुझे अकारण अपने अध्यापक पर गर्व नहीं है । और अपनी ओर से, मैं पहले भी कह चुका हूँ और अब दुबारा अधिक बल देकर कहना चाहता हूँ कि अपने अध्यापक को शिक्षित, दीक्षित, संस्कृत बनाने, और उसे हृष्ट-पुष्ट रखने, सजाने-सँवारने, अलंकृत करने को मैंने जितना श्रम-संघर्ष किया, जितना उसपर समय-शक्ति-धन वारा उतना अपने कवि पर नहीं । उसका शतांश भी नहीं ! विदेश-मंत्रालय के सिंहद्वार की ऊँची मेहराब के नीचे खड़े होकर मैंने अपने अध्यापक से सदा के लिए विदा ली

थी। अध्यापक जिसपर खड़ा था उस ज़मीन से विदा ली थी, पर विदा की पीड़ा से आज तक नहीं ले सका, शायद इसकी साक्षी के रूप में ये कुछ शब्द पर्याप्त होंगे।

और उसी दिन मैंने उस ज़मीन से भी विदा ली थी, जिसपर मेरी काया प्रायः आधी शताब्दी से खड़ी थी। इस संस्मरण के दौरान उससे अपनी नाराज़गी का संकेत मैंने इतनी बार किया है कि आपने समझा होगा जब उससे पिंड छुड़ाने का अवसर आया होगा तब मैंने एक उपेक्षा-भरी दृष्टि से उसको देखा होगा, उसे एक ठोकर लगाई होगी, और उसकी ओर पीठ करके चल दिया हूँगा। शब्द मनुष्यों की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के कितने अपूर्ण माध्यम हैं! मैं इलाहाबाद से इतना नाराज़ नहीं था जितना दुखी। उससे नाराज़ होना तो अपने से ही नाराज़ होना होता। क्योंकि मैं उसी की मिट्टी था, उसी का पानी, उसी की साँस, उसी का स्वर, उसी की मुद्रा—

और यहीं के मिट्टी-पानी
से विरचित है मेरी काया···
जिस बोली में गंगा-जमुना
आपस में बोला करती हैं,
जाड़ा, गर्मी, बरसातों में
जिस गति से डोला करती हैं,
नक़ल उसी की मैंने की-है
अपने शब्द-पदों-छंदों में
मेरी स्वर-लहरी आई है गंग-जमुन की अमर लहर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

और मैं उससे दुखी भी कहाँ था, दुखी था भी तो उसके एक अंश से, उसपर आ बसे कुछ लोगों से। वह मेरी माँ थी, माँ से भी कोई दुखी होता है, माँ में भी कोई दोष देखता है, 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति,' मैं दुखी था उसके कुछ कुपुत्रों से, अपने कुछ भाइयों से, माँ से नहीं, यह झगड़ा भाई-भाई का था, सगे-सौतेले भाइयों का, माँ-बेटे का नहीं। मुझे यही तो नियति से शिकायत थी कि उसने ऐसी माँ से मुझे ठीक से विदा लेने का

अवसर भी न दिया। मैं गया था इंदौर, वहाँ से मुझे दिल्ली जाने का वारंट मिल गया। और फिर विदा लेने को इलाहाबाद जाने का अवसर न मिला,

मैं पुरानी यादगारों
से विदा भी ले न पाया
था, कि तुमने ला नए ही
लोक में मुझको बसाया

जिस ज़मीन ने मुझे जन्म दिया, पाला-पोसा, बड़ा किया, उम्र की आधी सीढ़ियाँ चढ़ाईं उससे मैं केवल मानसिक विदा ले सका। और यह विदा मेरे लिए अधिक मर्मवेधी इसलिए हो गई थी कि मेरे अंदर कोई कह रहा था—और अब तो कह ही सकता हूँ कि ठीक ही कह रहा था—कि 'यह विदा इलाहाबाद से मेरी अंतिम विदा है, अब इलाहाबाद मुझसे और मेरे परिवार से सदा के लिए छूट रहा है।'

मैं तो नगर की उपज हूँ, पर जनपद से भी तो जुड़ा रहा हूँ। मन शायद नगर से विदा लेने से पूर्व जनपद की परिक्रमा करना चाहता है।

याद आता है तिलहर—हमारे पुरखा मनसा का गुरु-ग्राम—हमारा परिवार सात पीढ़ियों से गुरु-आशीष साकार कर रहा है—हर पीढ़ी के लोग अपने दुख-संकट में उनकी गद्दी की निरवलंब यात्रा करते रहे हैं—निराश नहीं लौटे—अंतिम बार मेरे पिता ने की थी—मैंने ही नहीं की—उनके वंशज का दर्शन तो किया था—अनुभव से जाना था कि संत का दर्शन अमोघ हो सकता है—अब ऐसा अनुभव मेरे परिवार में किसे होगा? कौन गुरु-संतान का दर्शन करेगा? कौन उनकी गद्दी की निरवलंब यात्रा? 'कोई नहीं—कोई नहीं'—हे गुरु के ग्राम, मुझे विदा दो!

यह सोराँव—पितंबर पंडित, मंगल पंडित, कर्कल का पैतृक गाँव—एक बार कर्कल मुझे अपने गाँव घसीटे ले गए थे—कितना चलाया था उन्होंने मुझे। —कर्कल को गाँव-नगर ने मिलकर कितना मनोज्ञ रूप दिया था—उनमें था गाँव का स्वास्थ्य, नगर का शृंगार, गाँव का सारल्य, नगर का शिष्टाचार, ग्रामीण की सहज बुद्धि, नागरिक का शास्त्रीय ज्ञान। उनको मैंने कच्ची तरुणाई में ही खो दिया और ज़िंदगी-भर आँखें उन्हें खोजती रहीं—किसी

गली-सड़क के नुक्कड़ पर अचानक उन्हें पा जाने की आशा में,—ओ कर्कल की माटी के मूल स्थान, मुझे विदा दो !

फूलपुर तहसील का रामापुर गाँव—मेरी परदादी बुआ की ससुराल —उनके वैधव्य को कितना त्रासा गया था वहाँ—कष्ट-गाथा रोंगटे खड़े करती थी—मैंने उसकी माटी पर कभी पैर न रक्खा—पर उसका नाम मेरे लिए सांसारिक क्रूरता का केन्द्र बन गया था—तुमने मुझे यह देख सकने के लिए तैयार किया था कि दुनिया का ज़ोर-ज़ुल्म किस हद तक जा सकता है और उन्हें सहने की ज़िद भी दी थी। हे रामापुर की माटी, मेरी कृतज्ञता स्वीकारो, मुझे विदा दो, तुमसे अब मैं बहुत दूर जा रहा हूँ।

और यह झूँसी-अरैल—जमुना-गंगा और उनकी सम्मिलित धारा से बँटे तीन भू-भागों में से दो पए—झूँसी, पुराना प्रतिष्ठानपुर, शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट के शिष्य भास्कराचार्य का साधना-पीठ; साधक, साधु-सन्यासियों का आज भी आश्रम, दारागंज और झूँसी के बीच में गंगा बहती, जैसे राग और विराग के बीच में—मोहन चाचा शहर से झूँसी पहुँच सन्यस्त हो गए थे—और कितने ही हुए होंगे—अरैल, महाप्रभु बल्लभाचार्य के चरण-रज से पवित्र तीर्थ—गद्दी पर पूजा-आरती नित्य होती है—कितनी बार आरती में खड़े होने की याद—कर्कल भी साथ—आचार्य ने किन आँखों से सारी सृष्टि को मधुर देखा होगा—'सृष्टिर्मधुरा'—और मैं संदेह, शंका,-संशयों का सताया सृष्टि को तिक्त भी पाता हूँ—बहुत दिन बाद समझा कि उन्होंने सृष्टि नियंत्रक 'यष्टि' को भी मधुर देख लिया था—'यष्टिर्मधुरा' —यही तो तिक्त है—मधुर को मधुर के साथ तिक्त को भी मधुर पा लिया था। उनकी पूर्ण दृष्टि सदा प्रयाग पर पड़ती रहे ! हे पावन भूमियो, तुमसे दूर जा रहा हूँ, मुझे विदा दो !

और यह बारा—मेरे नाना—मामा की पैतृक भूमि, मेरी माँ की बाल क्रीड़ा-स्थली - पूर्वजों ने पढ़ने को 'रामचरित मानस' उर्दू अक्षरों में लिखा रखा था—प्रति अब भी मेरे पास—ननिहाल में खेती-बारी होती थी—माँ को खेतिहर-जीवन की कितनी झाँकियाँ देश-काल की दूरी पर भी स्पष्ट —वृद्धावस्था में भी उमड़े बादलों को देखकर कहतीं; 'सहर में बरसे तुम्हार पानी नारी-नरवा में बहि जाई; हे बादर, जाव, बारा में बरसो।' ओ बारा

के हरे-भरे खेतो, जिनकी मेड़ों पर मैं सँभल-सँभल चला हूँ, मुझे विदा दो, मैं तुमसे दूर जा रहा हूँ।

यह सिराथू का रूपनारायण पुर—श्यामा की काया यहीं की माटी से बनी थी—काश, तुम्हारा नाम रूपलक्ष्मी पुर होता !—तुम्हारी माटी का उससे अधिक सिद्ध-समृद्ध उपयोग हुआ हो तो मुझे बताओ—वहाँ श्यामा के साथ बिताई कई रातें—चाँदनी रातें—प्रश्न उठा था, वह धवलिमा चाँद की थी या श्यामा के व्यक्तित्व की !

पास कड़े की देवी की जलहरी—एक बार माता-पिता कोई मन्नत पूरी कराने को मुझे वहाँ लिवा ले गए थे—कहते हैं, देवी असंतुष्ट हों तो जलहरी नहीं भरती। मुझसे तो भर गई थी। देवी के असंतुष्ट होने का कोई कारण मैंने न दिया होगा। निकट ही मलूकदास को गद्दी—संत वे आलसियों के या परमहंसों के—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।

गद्दी से मैंने एक आवाज़ सुनी थी—'तू न अजगर, न पंछी, न दास मलूका-सा आस्थावान कि सर्वथा राम-निर्भर हो, तू काम कर !' तुम्हारा यह संदेश मेरी तरह सब सुनें। तुम्हारी गद्दी से दूर जा रहा हूँ, संत, मुझे विदा दो !

परिक्रमा पूर्ण हुई।
अब आँखों के सामने आता है संगम—
कुमारिल भट्ट के तुषाग्नि में आत्मदाह का,
सम्राट हर्ष के सर्वस्व दान का,
कितने मेले, पर्वों का,
कितने-कितने लोगों के अस्थि-प्रवाह का—
'ऊँचा से ऊँचा भी अंतिम बार
यहाँ रजकण बन जाता !'

स्मृतियाँ जगाऊँगा, तो लहरें नहीं, तरंगें उठेंगी,
तो लहरें नहीं, तरंगें उठेंगी,

सागर उमड़ेगा, प्रलयार्णव,
और उसी में मैं डूब जाऊँगा।

दीर्घायुष्य मार्कंडेय मुनि को तो अक्षय बट के पत्ते का सहारा मिल गया था—मुझ अल्पायुष्य को वह भी न मिलेगा—

वृक्ष अक्षयवट सनातन
जहाँगीरी हुक्म से काटा गया था
और उसकी जड़ जला डाली गई थी

हे गंगा, जमुना, सरस्वती की श्वेत, श्याम रतनार धार के संगम और इन तीनों प्रतीकों के पीछे न जाने कितनी त्रयियों के मिलनस्थल, तुममें डुबकी लगा, तुम्हारे समन्वयी-जल में तन-मन-प्राण निमज्जित कर तुमसे दूर जा रहा हूँ, मुझे विदा दो !

और यह बँधवा के नीचे लेटे हनुमान— **हनुमान** की अन्य कोई लेटी मूर्ति मैंने नहीं देखी—मूर्ति यह है भी नहा, साक्षात हनुमान हैं—माँ ने बताया था—राम-रावण युद्ध के पश्चात गंगा में नहाकर अपना श्रम शांत करने आए थे, और तट पर यह कहकर लेट गए थे, 'बहुत थक गया हूँ,' तब से उठे ही नहीं। मेरे शंकालु मन ने पूछा था, 'पर, माँ, उनकी आँखें तो खुली हैं।' माँ ने बताया था, 'वे सोते भी जागते हुए हैं, हम जागते भी सोए हुए हैं।' माँ की बात समझ में नहीं आई थी, विश्वास से मान ली थी। अब समझता हूँ, बड़ी बात कही थी माँ ने। हे बँधवा के सोते हुए जागते हनुमान, मुझे विदा दो, मैं अब तुमसे दूर जा रहा हूँ।

और यह दारागंज—इसका नाम तो गंगागंज होना चाहिए था—गंगागंज भी है प्रयाग में, पर गंगा से दूर, दारागंज पर व्यंग्य करता—यह गंगा से पोषितों की बस्ती, उसके पूजकों और शोषकों की भी—गंगा के दरबार से उठकर लोग सीधे महादेव की बारात में शामिल हो सकते हैं—इस दारागंज पर एक दिन कविर्मनीषी निराला की उदास, पागल, पर सशक्त छाया, जैसे किसी देव की, पड़ने लगी, और एक दिन यह पूरा मोहल्ला उससे आच्छादित हो गया—दारागंज का नाम लेना उस छाया को अपने ऊपर अनुभव करना-सा लगता—उस बस्ती में प्रवेश

करते ही कितनी बार उस छाया ने मुझे विचार-विचलित किया है।—उस छाया की स्मृतियों से अब सदा को जुड़ी दारागंज की धरती, मुझे विदा दो, मैं तुमसे दूर जा रहा हूँ।

यह कीटगंज—गंगापुत्रों की बस्ती—इन्हीं में से एक के घर चम्पा ने जन्म लिया था—उसी घर में उसने देह-त्याग भी किया—एक दिन उसने अपनी देह में मुझे डुबा लिया था, एक दिन अपनी आत्मा में—'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' पंत की कल्पना में ही रही होगी—मैंने उसे साक्षात देखा था—चम्पा को जन्म देकर उसे अपने में आत्मसात भी कर लेनेवाली कीटगंज की धरती, मुझे विदा दो, मैं तुमसे दूर जा रहा हूँ।

यह चक—मेरे बाल-काल और प्रथम तरुणाई का चक, अब काल के गाल में जा चुका है—उसकी स्मृति केवल दो जगहों पर अब भी बनी है—या तो चकेसरी देवी के चक्षुओं में या फिर मेरी आँखों में—चक की याद करते, विदेश-मंत्रालय के प्रवेश द्वार की ऊँची मेहराब के नीचे खड़े होकर, मेरे मुँह से निकला था—'क्या भूलूँ क्या याद करूँ'—मुझे उस दिन क्या पता था कि एक दिन ये सजीव स्मृतियाँ जड़ पुस्तक हो जाएँगी।--हे मेरी बाल-क्रीड़ा और चढ़ती जवानी की भूमि, तुमपर विचरण कर कितना तरो-ताजा हो जाता था, कितना विषाद-उदास भी, मुझे विदा दो, मैं अब तुमसे दूर जा रहा हूँ।

यह कायस्थ-पाठशाला—मेरी शिक्षास्थली—अब वहाँ प्रेस है, हिंदुस्तानी अकादमी है—यहाँ कितना पढ़ा-लिखा, कितना खेला-कूदा, कितनी शैतानियाँ कीं—एक बार एक हथेली पर एक दर्जन बेंत भी खाई थी—आखिरी चोट पर बेंत पकड़ ली थी—वह मेरी मुट्ठी में लेखनी हो गई थी—लिखते-लिखते कभी थका हूँ तो वे बारह बेतें याद हो आई हैं—तूने उधड़ी हुई हथेली से बेंत पकड़ ली थी, कलम छोड़ देगा!—हे मेरे खेल, पढ़ाई, मुरहाई की भूमि, मुझे विदा दो, मैं तुमसे दूर जा रहा हूँ।

और यह कटघर का हमारा नया मकान—पिताजी का बनवाया—और उसका सारा परिवेश स्मृति पर इस प्रकार टूटता है जैसे किसी पतझरी हवा में वृक्ष के पत्ते—यह जमुना रोड-मिशन कालेज का कंपाउंड—जमुना-तट—जमुना का नीलम-नील प्रवाह—इस तरफ़ बारादरी—राजा बनारस

की कोठी, उस तरफ़ जमुना पुल, लँगड़ी कोठी, उस पार जमुना का बलुहा किनारा—बरसातों में जल-निमग्न, जाड़ों में उसपर धूप सेंकते कच्छप—दो-चार मगरमच्छ भी, गर्मी में उसपर खरबूजे-तरबूज़-ककड़ी के खेत—तैरने-नौका चलाने वाली बाँहों के लिए जमुना की चौड़ी छाती खेल का मैदान—जिस भूमि पर 'मधुशाला', 'निशा-निमंत्रण' ऐसी रचनाएँ लिखी गईं, उसपर उन्माद और अवसाद की सीमाओं को छूनेवाली कैसी-कैसी घटनाएँ घटी थीं।

कला के लिए उर्वर भूमि जीवन के लिए बंजर सिद्ध हुई—उसपर भाई के और मेरे अपने-अपने नीड़ बसाने के प्रयत्न विफल हुए—भाई के दो बार—मेरा एक बार—पिता-माता ने वह घर अपनी वृद्धावस्था में शांति से जीने, शांति से मरने के लिए बनवाया था—भाई के और मेरे अशांति के तूफ़ानों ने उन्हें न शांति से जीने दिया, न मरने—उनकी मौतें तो किसी और भूमि पर बदी थीं—

उस भूमि से घबराकर मैंने पहले ही विदा ले ली थी, आज फिर लेता हूँ, ओ मदिरा और आँसुओं की धारा से निमज्जित भूमि, मुझे विदा दो, मैं अब तुमसे बहुत दूर जा रहा हूँ।

दृगों ने मोती की निधि खोल
चुकाया था मदिरा का मोल !

और यह युनिवर्सिटी,

भरद्वाज मुनि जहाँ बसे थे
उसी जगह पर आते-जाते
मेरी आधी उम्र चुकी है
लिखते-पढ़ते और पढ़ाते,
उनके यज्ञस्थल पर अब भी
सरस्वती सरिता लहराती,
अनुमानो उसकी गहराई मत मेरी इस अल्प गगर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

कौन कहता है कि भूमि जड़ है? या तप का प्रभाव केवल तपी पर

पड़ता है ? तप तपी को भी संस्कार देता है, तपोभूमि को भी। यह तप की विष्णुता है जो जड़ पर भी जयी होती है या भूमि की प्रभविष्णुता जो अपनी ग्राह्य शक्ति से तप को अपनी ओर खींच लेती है ! शायद दोनों। अंग्रेज़ों ने युनिवर्सिटी स्थापित की तो उसी जगह—उसी के पार्श्व में—जहाँ भरद्वाज की तपोभूमि थी। काश, इलाहाबाद युनिवर्सिटी का नाम भरद्वाज विश्वविद्यालय रखा गया होता !

उभरती जवानी से पकती प्रौढ़ता तक मेरा हर दिन युनिवर्सिटी से संबद्ध। उसने मुझे बनाया भी, बिगाड़ा भी। उसके बिगाड़ने से जो बचते हैं, वे हैं शेक्सपियर-टैगोर। मैं 'अल्प गगर' बनने-बनाने के लिए ऋणी। वह मुझे 'टीचर' से लेक्चरर की कोटि में ले गई। उसने मुझे आगे नहीं बढ़ने दिया, किए को मान, अनकिए को अवमान मत। अखीर में मैं उससे नाराज़ हुआ, मेरे लगाव का ही सबूत, अपनों से ही आदमी नाराज़ होता है, ग़ैर से तो नहीं। खैर, इस विदा के क्षण में, ओ मेरी मातृ शिक्षापीठ, तूने जो मेरी उपेक्षा-अवहेलना की, उसे मैं भूलता हूँ; मुझे विदा दे, मैं तुझसे अब दूर जा रहा हूँ।

और अंत में स्मृति पटल पर उतरते हैं कुंडूबाग़, बैंक रोड, स्ट्रैची रोड, एडेल्फ़ी और १७, क्लाइव रोड के बँगले, तेजी के मधुर, मनोरम, मनस्वी, तेजस्वी सान्निध्य में, जो अपने आप में यह आश्वासन है कि कैसी भी परिस्थिति आए, कैसा भी परिवर्तन, वह उसे मनोनुकूल बनाने की क्षमता रखता है। उसके भौतिक अंग से विदा तो लूं, पर उसके मानसिक, भावात्मक, संस्कारात्मक अंग को साथ भी रक्खूं—भविष्य की हर कठिन-कुरूप स्थिति को सुंदर, मनोज्ञ बनाने के लिए, **सरस, मनभावन** बनाने के लिए।

इलाहाबाद से विदा लेने में बड़ी देर लग गई। कहाँ ? एक क्षण ही तो बीता है। लिखने में ज़्यादा देर लगी, जीने में बहुत-बहुत कम। अनुभूति के क्षण घड़ी की सुई से नहीं नपते। हज़रत मुहम्मद सातवें आसमान पर चढ़े और उतरे, पास की एक सुराही लुढ़क गई थी, पानी अभी उससे बह ही रहा था।

मुख्यद्वार से प्रवेश करता हूँ तो नेहरू जी कहीं बाहर जाने को निकल रहे हैं, मुझे देखते हैं, उनके मुख की मुद्रा बदलती है, जैसे मन पर से किसी

हल्के भार के गिरने पर बदले।

'तुम आ गए, मुझे खुशी है।'

इलाहाबाद की खाँटी माटी का एक सजीव टुकड़ा सामने दिखाई पड़ता है।

वे मीरगंज में पैदा हुए थे।

मैं चक पर पैदा हुआ था। फ़ासला दो फ़र्लांग का भी नहीं।

इलाहाबाद की माटी, इलाहाबाद की माटी को पहचानती है।

वे निकल जाते हैं।

मैं प्रवेश करता हूँ।

मेरे जीवन का एक अध्याय बंद होता है,

एक खुलता है।

पाठको, क्या यह अवसर नहीं कि आपसे भी विदा ले लूँ? आपने मेरी लंबी आत्मकथा बड़े धैर्य से सुनी, आपका धैर्य टूटे उसके पूर्व मुझे उसे समाप्त कर देना चाहिए, कथा कहने की कोई कला है तो उसका यह सबसे बड़ा गुर।

मुझे इसकी याद न दिलाएँ कि आपने तो चार खंडों में अपना आत्म-संस्मरण देने को कहा था, और तीन ही पर अपना क़लम खींच रहे हैं। अब आपको बता ही दूँ, वह मेरा हथकंडा था। चार तक के लिए आपको इस-लिए तैयार किया था कि कम से कम तीन तक तो आप मेरी कहानी से न ऊबें—अभी से ऊबने से कैसे वक़्त कटेगा, अभी तो एक खंड और आने को है। वह खंड उबानेवाला ही होता, अच्छी-से-अच्छी चीज़ से भी आदमी ऊब जाता है। मैं वह उबानेवाली स्थिति आने ही न दूंगा। होशियार साक़ी, पीने-वाले को कुछ प्यासा ही छोड़ देते हैं, अघाकर जानेवाला फिर पलटकर मधुशाला की तरफ़ नहीं देखता।

इस आत्मचित्रण का ध्येय अपने को आपके सामने प्रस्तुत करना ही नहीं रहा है, अपने को अपने सामने प्रस्तुत करना भी रहा है—जैसे कोई शीशे के सामने खड़े होकर अपने को देखे।

और इसमें सफलता का जो मानदंड मैंने रखा था, वह भी आपको

बता दूँ।

मैं अपने को आपके सामने ऐसा प्रस्तुत करूँ कि मुझमें आप अपने को भी देख सकें।

और मैं अपने को अपने सामने ऐसा प्रस्तुत करूँ कि उसमें मैं आपको भी देख सकूँ।

शायद आत्म-चित्रण की इससे कठिन कसौटी नहीं हो सकती।

कला और जीवन दोनों इस कसौटी पर चढ़े हैं।

और मुझसे पूछें तो मैं यही कहूँगा कि दोनों इसपर खरे नहीं उतरे। आप इस असफलता की कथा सुनते ऊबे या न ऊबे हों, पर मैं कहते-कहते ऊब उठा हूँ।

झा साहब ने मुझसे कहा था, 'ज़िंदगी मोह से शुरू होती है, मोह-भंग पर खत्म।' मैंने अपने अनुभव से भी यही जाना है, कविता का जाल समेटते हुए 'जाल समेटा' की एक कविता में मैंने कहा था,

(किंतु) अभागे जो ज्यादा दिन जीते
उनका नशा उतरता,
उनकी आँखों के ऊपर से पर्दा हटता
औ जीवन की कटु कठोर सच्चाई उनके आगे आती।
....

मोह-भंग करना ही तो है काम वक़्त का।

और वक़्त का यह प्रभाव जीवन भी जानता है, कला भी जानती है। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं कि जीवन से मोह-भंग होने के बाद भी कला से मोह बनाए रहें, या इसके विपरीत, कला से मोह-भंग हो जाने पर जीवन से मोह बनाए रहें।

लेकिन जिसके लिए जीवन और कला—मेरे संदर्भ में लेखन—मांस-त्वचा के समान जुड़े रहे हैं उसके लिए यह असंभव है कि जीवन से तो उसका मोह-भंग हो जाए पर लेखन से बना रहे। लेखन से भी मेरा मोह-भंग हो चुका है।

अब आप से क्या छिपाना। तो कह ही दूँ—

आत्म-संस्मरण लिखते समय मैं ऐसा समझता था कि मैं अपने जीवन की सच्ची तस्वीर आपके सामने रख सकने में समर्थ हो सकूँगा, पर अब मुझे यह कटु अनुभूति हो गई है कि जीवन और शब्द एक-दूसरे से बहुत अलग स्तर की चीज़ें हैं, और एक सतह की चीज़ें दूसरी सतह पर नहीं चढ़ाई या उतारी जा सकतीं, नहीं पहुँचाई जा सकतीं; और बहुत ईमानदारी और अध्यवसाय से ऐसा उपक्रम करने पर भी वे ऐसी प्रतिच्छायायें और प्रतिध्वनियाँ बनकर रह जाती हैं, जो जीवन और यथार्थ से बहुत दूर की होती हैं।

दूसरे शब्दों में, मैं यह कहना चाहूँगा कि जीवन का सत्य और शब्द का सत्य अलग-अलग इकाइयाँ हैं। संसार का सारा साहित्य, जो शब्द का साहित्य है, जीवन को पकड़ने का एक बहुत निर्बल और निष्फल प्रयास है। यदि इसे मेरी अतिशयोक्ति न समझा जाय तो मैं कहना चाहूँगा कि जीवन के सत्य और शब्द के सत्य में कोई साम्य नहीं है, और जीवन की दृष्टि से शब्दों का सत्य एक बहुत बड़ा, लेकिन बहुत सुंदर झूठ है। जो चीज़ रक्त से लिखी जाती है, वह स्याही से लिखी जा सकती है ? जो काम हमारी शिराएँ, हमारी मांस-पेशियाँ करती हैं, क्या हम उसे जड़ लेखनी से करा सकते हैं ? और हृदय और मस्तिष्क के फ़लक पर जो मर्मस्पर्शी और मर्मवेधी स्पंदन होते हैं, क्या उन्हें कोरे काग़ज़ों पर फैलाया जा सकता है ? नहीं। नहीं। नहीं।

इस प्रकार, पाठको, (मुझे मानतेन के लहजे में बोलने के लिए क्षमा करें) मेरी पुस्तक जीवन का एक बहुत बड़ा झूठ है, और मैं कोई वजह नहीं देखता कि आप मेरे शब्दों की सुंदरता के धोखे में आकर अपनी कामकाजी घड़ियाँ ऐसे बेकार और बे-सार शग़ल पर सर्फ़ करें। इसलिए बच्चन की विदा स्वीकार कीजिए—७-७-'७७.

● ● ●

परिशिष्ट

मूलपाठ में जिन कविताओं का संकेत किया गया है उन्हें पाठकों की सुविधा के लिए इस परिशिष्ट के अन्तर्गत दिया जा रहा है।

पृष्ठ संख्या-१०२

रेगिस्तान का सफ़र

"हमने माना / कि रेगिस्तान के उस पार है बहारिस्तान, / जहाँ हैं छायादार दरख़्त, / रंगदार फूल, / दूर-दूर तक दूब के मैदान; / जहाँ बहती है नीले पानी की नहर, / चलती है ठंडी हवा सर-सर-सर, / करती हुई सौरभ की बौछार, / हर मौसम में, हर वक्त; / मेहरबान है आसमान, / गूँजता है, छोटी-छोटी चिड़ियों का गान, / मुलायम-मुलायम पत्तियों का मर्मर स्वर। / वहाँ टीले पर बैठ / चरवाहा अपनी बाँसुरी पर / छेड़ता है मनुहार-भरी तान, / चरवाहिन करती है मान,— / प्रेम फिर-फिर माँगता है प्रमाण—/ ऐसों का ही तो प्यार / रहता है सदा जवान। / और भेड़ों का झुंड / किनारों पर बाँधकर कतार, / झुकाकर गर्दन, / बुझाता है अपनी प्यास, / होता है निहाल / देखकर अपनी परछाइँ, / मिलते हैं अधर से अधर, / होता है सब पर मुहब्बत का असर।

ऐसा ख़्वाब, / ताज्जुब नहीं, / जो उठाए दिल में एक लहर, एक सैलाब। / मगर सोचो तो, / मेरे मीत, अनुभवहीन, / कितने दिन कितनी दूर, कितनी थकान का है सफ़र। / भाई-बंद, / कुटुंब-कबीले, / दोस्त-अहबाब—/ इनसे भी कर लो सलाह; / चार आदमी की राय से किये हुए काम का / अच्छा होता है अंजाम, / वैसे, सब हैं आज़ाद / चलने को अपनी-अपनी राह।"

"इस सपने की / मैंने की है खोज। / नहीं, नहीं; हो रही है ग़लती; / इस सपने ने / खोजा है मुझे; / मैं नहीं झुकता इसकी तरफ़, / यह मुझे खींच रहा है अपनी ओर; / किसमें है ज़ोर / कि मुझे रोक ले; / रोका नहीं जाता है सैलाब, / थामी कहीं जाती है लहर ! / सपनों से कुछ भी नहीं है ताक़तवर। / फेंक चुका दाँव, /

फेंक दिये डाँड, / दाब दी है नाव, / बाज़ी हार चुका; / मेरा सफ़र मुझे पुकार चुका, / दुब्धे की हालत थी कल; / आज, / यह रहा मैं—वह रही मेरी मंज़िल। / उठाने में कोई भी काम / जिगर का हौंसला, जी का उत्साह, / मौजों के समान देता है उभार, / देता है उछाल, / बढ़ा भी ले जाता है कुछ दूर, / लेकिन फिर / पाँवों तले होती है धरती कठोर, / सिर पर होता है आसमान क्रूर, / हिम्मत का, दोनों ही लेते इम्तहान, / कुछ भी परवाह नहीं, / अकेला भी बहोत बड़ा है इंसान ! / जब आसमान बरसेगा अँगार, / ज़मीन उगलेगी आग, / भाई-बंद खेल रहे होंगे फाग। / जब मरु-भू की लू, / रेत से भर मुँह-नाक, / लेने न देगी साँस, / घुटता होगा दम, / कुटुंब-कबीला करता होगा अट्टहास; / और जब प्यास बालू को निचोड़ / हो रही होगी हैरान-परेशान, / दोस्त-अहबाब, / कहीं बैठे, उंटगे, लेटे, / माँग रहे होंगे / शराब और कबाब ! / इन्हीं से कहते हो करने को सलाह ? / जिन्होंने घर से निकाले नहीं क़दम, / जानी नहीं मन की उमंग, / झेली नहीं तन की तकलीफ़, / पाया नहीं थकान का रस, / लक्ष्य पर पहुँचने का आनन्द। / मैं तो इसके लिए भी हूँ तैयार / कि रेगिस्तान के रेगिस्तान करके पार / अपने सपनों से रहूँ उतनी ही दूर / जितना था तब, / जब किया था उनके लिए प्रस्थान। / वे आएँगे नहीं मेरे साथ, / मैं कब बिका था उनके हाथ ? / मुझे चाहिए नहीं किसी की सलाह, / मेरे सच्चे सलाहकार हैं / मेरे पाँव, मेरी राह !

मेरे भाई-बंद / मेरे कुटुंब-कबीले, / मेरे दोस्त-अहबाब, / तुमसे भी दो बात — / मुबारक हो तुम्हें अपना घर, / घर का आराम; / घर देखना भी है / नहीं कम काम। मुझे रोकने का मत करो प्रयास, / मुझे अपने पंजों, पिंडलियों, रानों पर विश्वास। / मैं नहीं जा रहा हूँ पहली बार, / बहुतेरे आए हैं / इस पथ को जीत, / बहुतेरे गए हैं / इस पथ से हार,— / दोनों हैं महान। / आँधी और तूफ़ान / मिटा नहीं पाये हैं / उनके विश्वास भरे, आस भरे / पाँव के निशान, / आन के पड़ाव; / वे देंगे साथ, / वे देंगे हाथ। / विदा का है समय, / ओ मेरे ईर्ष्यालु, उदासीन, सहृदय / अगर दे सको तो दो, / लगता नहीं है दाम, / अपनी शुभ कामना, / अपना आशीर्वाद, / गो उसके बिना भी / लोगों का चलता है काम। / मिले जो मुझे मेरे ख्वाब, / लौटकर उनको करूँगा तुमसे बयान; / लौटा जो निराश, / करने को उपहास / पाओगे तुम सामान, / या सहानुभूति-नुमा

व्यंग का शिकार। / लेकिन मुझे, / या किसी एक को और, / जान लोगे ठीक, / ज़रा करो ग़ौर, / होगा सबसे बड़ा वरदान, / मेरे सफ़र में गाया हुआ गान।"

पृष्ठ संख्या-१०८

कड़ुआ अनुभव

क्या तुझपर गुज़ारा है ऐसा वक्त, / जब सारा जहान, / लगता है एक मसान, / और मरे, मिटे, जले, बुझे सपनों की राख का भार, / लगता है ऐसा भारी, / जैसे छाती पर रख दिया गया हो पहाड़, / सपने लेते हैं साँस, / सपनों के होता है शरीर, / उन्हें भी लगता है मौत का तीर, / उनसे भारी होती हैं उनकी लाश, / दिया है उन्हें तूने कभी काँधा ? / और उनकी राख, / होती है और भी वज़नदार। / वज्र को माननी पड़ती है / फूल से हार।

जब ऐसा आता है समय, / क्या करते हैं लोग ? / खोजते हैं नहीं डाक्टर, वैद्य, हकीम; / उनके बस का नहीं यह रोग; / भंग, शराब, अफीम, स्लीपिंग पिल बहला नहीं पाती दिल। / इसका एक ही इलाज, / पहले भी लोग करते थे यही, / करते हैं आज भी। / लोग ढूँढते हैं एक हमदम, / एक दोस्त, / एक साथी, / एक मीत, / और उससे कह डालते हैं, जो उनपर बीत रही है। / हल्का हो जाता है मन, / हल्का हो जाता है जीवन; / नुस्खा लगता है आसान, / पर यह है मुश्किल से भी मुश्किल। / ऐसा ही था एक वक्त, / वक्त बहुत बार मुझपर गुज़रा है सख्त।

उसने दिलाया मुझे विश्वास, / मेरा हृदय है पारावार, / कि उसमें अगर डाल दिया जाय कैलास, / तो क्या मजाल, / कि लहरें भी लें साँस। / उपमाएँ होती हैं धोखेबाज़, / सच्चाई का लगता नहीं अंदाज़; / इन्हीं से करता रहा ज़िंदगी भर खेल, / इन्हीं का हो गया शिकार; / कहते आए हैं बुजुर्गवार, / डूबते हमेशा हैं तैराक !

गिरा दीं दीवारों पर दीवारें, / परदे पर परदे दिए फाड़, / खोल दिए भेद पर भेद, / फैला दिया ज़िंदगी का नक्शा, / बोला, मेरे यार, / तुमसे कौन छिपाव, / कैसा दुराव ! / उतर गया सिर का बोझ, / पलकों का भार, / निकल गया दिल का ग़ुबार। / साँस लेना था दुश्वार, / मरने का था इंतज़ार; / जीने में फिर से

हुआ एतबार। / लगने लगी ठीक हर एक भूल, / जो थे काँटे, हो गये फूल, / और पाप ? / लगा ऐसे, / जैसे हो गया हो अपने आप; / मिट गया पश्चात्ताप / जानता नहीं इंसान— / जो कहती है, / बरकत कितनी बड़ी हैं ज़बान; / जो सुनते हैं, / कमाल कितने बड़े हैं कान; / जो समझता है, / दिल कितना बड़ा है वरदान।

जिसने सुनी है तेरे दिल की बात, / उसने किया है तुझपर एहसान, / और एहसान करने का होता है अभिमान, / जिसको भूलना नहीं आसान। / एहसान करके मौन रहता है कौन ? / कोई नहीं, पर कोई एक, / जो होता है नियम का अपवाद।

एकाएक आती है एक आवाज़— / यह है मेरी भूलों का इतिहास, / मेरे शूलों का आख्यान, / मेरे भावों का उपहास, / मेरे विचारों पर व्यंग, / मेरी ग़ल्तियों पर फब्तियाँ, / मेरी भावनाओं का मज़ाक; / मेरे पाप मुझे जैसे रहे हैं पुकार, / मेरी चोटें रही हैं जाग, / मेरा दुश्मन नहीं, मुझपर मेरा दोस्त कर रहा है आघात, / मेरी पीठ पीछे मुझपर प्रहार।

ओ मनुजात, / तेरे पेट में पचती नहीं बात ? / जानता नहीं इंसान—जो कहती है, / अभिशाप समान है ज़बान, / जो सुनते हैं, / अभिशाप समान हैं कान; / जहाँ बिकने को आता है, / हर भाव, विचार, सामान, / अभिशाप समान है दिल की दूकान। / मत कर इंसान का यकीन, / करके पछताया था आसमान, / पछताई थी ज़मीन।

तेरी छाती पर है भार, / तेरे दिल में तूफ़ान-ग़ुबार, / तेरी ज़बान को है बुख़ार, / तो खोज मत कान और ज़बान वाला इंसान। / चला जा वहाँ—जहाँ है बियाबान, / जंगल सुनसान, / मैदान, चट्टान। / पर्वतों से कह दे अपना पाप, / पेड़ों से कह दे अपना संताप, / फूलों से कह दे अपनी भूल, / नदियों में धो डाले अपने घाव, / दूब पर बिछा दे अपने भाव, / और, तारों से कर ले दिल की बात, / जो बिना लिये शब्दों का आधार, / आँखों से निकल, / गालों पर फिसल, / गिरती है भू पर, मगर, / पहुँच जाती है ऊपर! / धीरज की ये हैं मिसाल, / कहता जा तू इनसे अपना हाल, / ऊबेंगे नहीं ये सुनने से, / घंटे, दिन, हफ़्ते, महीने, साल-हा-साल ! / ये हैं कान-ही-कान, / बिल्कुल बेज़बान, / कहेंगे नहीं किसी से तेरी बात, / कहने-कहने में बातें जाती हैं बदल, / टेढ़ी होकर, ऐंठकर हो जाती हैं

बदसूरत, बदशक्ल। / पर यह सब है तेरे लिए उपदेश, / आएगा काम, / रख याद। / मैं तो कहने को अपनी बात खोजूँगा फिर भी इंसान, / फिर भी आदमज़ात, / निकलें वे भले ही धोखेबाज़, / झरोखेबाज़, दग़ादार, / करनेवाले विश्वासघात। / मैं हूँ शायर, / शायर नहीं होता कायर; / वह होता है बलवान,/ जीवन के अखाड़े का पहलवान। / खुली है मेरी छाती, कमर, जाँघ, / पतलून, कमीज़, कोट की, / मुझे नहीं चाहिए ओट, / खुला है मेरा कसरती शरीर, / खुला है मेरा दिमाग़, / खुला है मेरे मन का हर द्वार, / मेरी ज़िंदगी है आम दरबार।/ जहाँ आती है मुझे लाज, / वहाँ शर्मिन्दा है मानवों का सारा समाज। / और अगर तू है पूर्णता का अवतार, / तो आ मेरे सिर पर बिराज, / ले मेरा सौ-सौ नमस्कार, / गो ऐसे दावे होते हैं निराधार।

मेरे हमदम, / मेरे दोस्त, / मेरे साथी, / मेरे मीत, / तुम किसी को उठाने में असमर्थ; / गिराने में ही कमाओ नाम। / बैठा नहीं जाता बेकार; / जाओगे ऊब, / नदी में डूब, / दे न दो कहीं अपनी जान। / अच्छाई नहीं की जाती, / बुराई ही करो—खूब। / छिछले ऊपर, / खोखले भीतर, / तुम हो मेरी दया के पात्र, / अपने में क्या है जो तुम करो किसी को दान! / बहुत बड़ा कलेजा चाहिए, / किसी का करने को सम्मान, / और किसी की कमज़ोरियों का आदर— / यह है फरिश्तों के बूते की बात, / देवताओं का काम!

९

पृष्ठ संख्या-११४

...का जन्मदिन

मेरे जीवन का, / एक ताज़े सपने-सी है उसकी याद, / ऐसा भी था काल, / जब साल-दर-साल, / समय की सीढ़ियों पर चढ़ना था खेल, / था उन्माद। / बचपन और यौवन दोनों बीत चुके हैं, / दोनों पर जीत, / पा चुका है अतीत।

माता के घुटने, / पिता की कमर, / माता के कंधे, / पिता का सर— / थे मेरे बढ़ने की माप; / मेरे चढ़ने की चाल / थी कितनी तेज़, / साल दर साल। मैं उठ रहा था ऊपर, / और मेरे साथ ही साथ, / चौड़ी होती जाती थी ज़मीन, / फैलता जाता था आसमान।

अब तो, / कभी की रुक चुकी है मेरी उठान, / बढ़ती नहीं ज़मीन, / बढ़ता नहीं आसमान, / अब वे केवल बदलते हैं रंग। / बहुत दिन यह सब देख, / मैं रहा दंग, / पर जब से पढ़ीं पोथियाँ, / किया विद्वानों का संग, / समझ में आ गई यह बात— / यही है दुनिया का ढंग।

पर, / प्यारे भाई, / आज है तुम्हारा जन्मदिन। / सोचा था मैंने, / लिखूँगा कुछ पंक्तियाँ, / दूंगा बधाई, / पर मैं कर रहा हूँ क्या ! / कवियों की कौम, / होती है बड़ी बदज़ात। / करें ये चाँद-किरन-परियों का गान, / और अगर हों प्रगतिशील, / करें रूस और चीन का बखान, / पर ये घूम-फिरकर, / करते हैं अपनी ही बात। / कवियों की कौम होती है बड़ी बदज़ात।

तो तुम हुए आज छब्बीस; / आ गया याद मुझे सन् तैंतीस, / तब मेरी थी यही उमर, / जब मस्ती से उभर, / गाया था मैंने मधुशाला का गीत, / मेरी वाणी को लग गए थे पर, / धरती पर पड़ते नहीं थे मेरे पाँव, / चर्चा थी मेरी ठाँव-ठाँव। / और मैं कल्पना के पंखों पर आसीन, / उड़ा जा रहा था वहाँ, / जहाँ एक और दो / होते नहीं तीन। / पलों को नापती है शताब्दियों की माल, / बूंदों पर होते हैं निसार / पारावार के पारावार, / और आँसुओं का भार / सिद्ध कर देता है हलका / सारे सितारों का संसार। / कमाल !

पर आज / भारी है मुझपर दिन, / भारी है मुझपर रात; / पर छोड़ो भी मेरी बात। / तुम्हारी है छब्बीसवीं वर्षगाँठ, / गैस के छब्बीस रंगीन गुब्बारे, / तुम्हारी आयु के साल; / उन्हीं के सहारे / देखता हूँ तुम्हें ऊपर आते, / खुशियाँ मनाते, / शामिल हूँ मैं तुम्हारे साथ। / जानते हो मेरा इतिहास, / इसी से नहीं विश्वास ? / जिनकी आँखों में हैं आँसू, / वही समझते हैं फूलों का हास, / जिनके सीने पर है चट्टान, / वही समझते हैं तितलियों की उड़ान, / कलियों की मुस्कान।

कवि / होता है नबी, / नबी उपदेश देने से नहीं चूकता, / पड़ जाती है बान, / अंत में थोड़ा-सा व्याख्यान। / जीवन सब दिन नहीं रहता खेल, / नहीं तो, प्रकट करता यह चाह— / हँसते-हँसाते, / उछलते-कूदते, / शोर-मचाते, / चले जाओ जगती की राह, / लूटते वाह-वाह। / जीवन एक दिन बनता है भार, / क्योंकि प्रकृति करती है मनुष्य का सम्मान, / नियति करती है मनुष्य का सत्कार; / अधिकारी का ही होता है इम्तहान। / शोर मचाते, / उछलते-कूदते, / हँसते-हँसाते, / अच्छे लगते हैं / भोले, सुकुमार अनजान बच्चे, / बड़े लगते हैं मक्कार-

भाँड़। / मैंने भी देखी है ज़िंदगी, / दुनिया भी ली देख; / जहाँ भी मैंने पाया कोई / माथा नवाने के योग्य, / उसके मुख पर थी चिंता, / मस्तक पर थी रेख, / और देखा भी है मैंने इंसान, / उतना ही भारी था उसके काँधों पर बोझ, / जो था जितना ही महान !

पृष्ठ संख्या-११५

दोस्तों के सदमे—१

'आई वाज़ ऐंग्री विद माई फ्रेंड : / आई टोल्ड माई राथ, माई राथ डिड एंड'—ब्लेक।

काश कि तुम यह जान सकते / कि जिन्हें तुम समझते आये हो अपना दोस्त, / अपना मेहरबान, अपना शुभचिंतक, / वे अपने दिल की गहराइयों में / तुमसे करते हैं कितनी नफ़रत, / करना चाहते हैं तुम्हारा कितना नुकसान !
अजीब होता है इंसान ! / करता है दोस्त की तलाश, / और जब तक दोस्त हो दुखी, / दोस्त पर हो मुसीबत, / इसको आता है मज़ा, / दिखाने में हमदर्दी। / पर जो वह फूले-फले, और हो खुश, / तो इसके सीने पर लोट जाता है साँप, / क्योंकि उसे नहीं रहती इसकी हमदर्दी की ज़रूरत।
लोग कहते हैं मुसीबत में नहीं मिलता दोस्त। / मैं कहता हूँ, बात है ग़लत। / मुसीबत में ही मिलते हैं दोस्त। / और अगर हो मुसीबत के पार, / ख़ुश व खुर्रम व दिलशाद, / तो मेरी बात रखना याद, / तुम्हारे दुश्मन होंगे हज़ार।
जो तुम्हारे दुख में दिखाते हैं संवेदना, सहानुभूति, / उनसे रहना होशियार; / वे हैं मक्कार; / जो तुम्हारी हँसी-ख़ुशी में हैं साथ, / वे हैं दिल के साफ़; / वे तुम्हें करते हैं प्यार; / वे साबित होंगे वफ़ादार। / बात लगती हो नाक़ाबिले एतबार, / पर तजुरबा भी तो कोई चीज़ है, मेरे यार ! / जो बहाते थे मेरे साथ आँसू, / लिए फिरते हैं मेरे लिए कटार; / जो पीते थे मेरे साथ शराब, / वे अब भी हैं मेरे दोस्त, मेरे अहबाब।
आप हैं एक मिसाल ! —/ नक़्क़ाल कहीं के—नक़्क़ाल ! —/ जब मैं हलाहल के

घूंट पी रहा था, / यह इतना रोया, / मुझे लगा, / किसी ने अमृत से मेरा मुंह धोया। / अब जो मैंने ली है आराम की एक सांस, / इसके घर में पड़ गया है मातम। / ऐसों के ही लिए कह गए हैं तुलसीदास—/ कि ये दूसरों की हानि में / समझते हैं अपना लाभ, / दूसरों के उजड़ने पर होते हैं हर्षित, / बसने पर मनाते हैं विषाद, / कि ये हैं नाकारे, काहिल, कामचोर, / पर करना हो किसी का अकाज, / तो लेंगे सहस्रबाहु से होड़, / अपना तन भी देंगे छोड़, / गल जायेंगे, जैसे पत्थर, / पर खेती कर देंगे बर्बाद। / किसी का बेकाम होता हो घी / तो ये पड़ जायेंगे बनकर मक्खी।

क्या हैं ये, / अगर नहीं मक्खी के ही समान ? / पर ये हैं जितने छोटे, / उतने ही खोटे। / देखने को दूसरों का दोष, / इनके हैं हज़ार आँखें; / करने को दूसरों की बुराई, / इनके हैं हज़ार ज़बानें; —/ शेषनाग के हैं बड़े भाई—/ सुनने को दूसरों का पाप, / इनके हैं दस हजार कान। / कीचड़ से लड़ने के लिए, / ज़रूरी है कीचड़ में प्रवेश; / बुरे को परास्त करने के लिए, / आवश्यक है बुराई का हथियार; / बुराई की भूषा, बुराई का वेश; / भगवान को लेना पड़ा था सुअर का अवतार। / ये तो अपने आप में ही / लिए हैं मौत का बीज, / ये हैं क्या चीज़ ! / इनसे बचना समझकर बेकार, / तुलसी ने किया था इन्हें दूर ही से नमस्कार।

छिपता नहीं नीच, / लाख करे प्रयास, / मुझे भी मिल गया था इसका आभास; / पर मेरा तो था और ही विश्वास, / मैंने जीवन किया था स्वीकार—/ रंग, रस और पराग; पंकज और पानी; / भौंरा और दादुर; / काई और कीच और सेवार; —/ तब थी मेरी कच्ची जवानी। / सुंदर और असुन्दर जग में / दोनों को सराहा था—/ हंस की सहलाई थी गर्दन, / कौए को भी चाहा था; / उसे भी दिया था अपना अनुराग—/ मौक़े न करूँगा बयान, / ओछी बात; / बड़ों की सीख, / नेकी कर, कुएँ में डाल। / बायस को भी दिया था मैंने अनुराग, / परंतु निरामिष हुआ है कभी काग ?

यह तो निकला और बड़ा घाघ, / नोचता है मेरा ही मांस ! —/ देख अपनी चोंच की ओर, / मना उसकी खैर, / ओ, नादान, / मेरा हृदय भर ही कोमल, / बाक़ी जगह मैं हूँ वज्र-कठोर; / विद्यापति की प्रेयसी के बिलकुल विपरीत, / जिसका कुसुम का था सकल शरीर, / हृदय था पाषाण ! / ओ मेरी मुसीबत के दिखावटी दोस्त, / मेरे कानों में आई है आवाज़, / कि मेरे बारे में बनाकर अजीबोग़रीब

कहानियाँ / तुम जगह-जगह करते हो प्रचार। / क्यों ख़राब करते हो अपना वक़्त ? / मैं हूँ अकिंचन, अपदार्थ, न-कुछ, / क्यों मुझे देते हो इतना महत्त्व ? / किसी बड़े को बनाओ अपना शिकार। / कल्पना के हो भंडार, / तो करो कुछ सृजनात्मक, / रचो उपन्यास, नाटक, / जाने, माने तुम्हें संसार। / मेरे बारे में कहके ओछी-खोटी / तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे ? / कर दे बंद, / जो मुझे देता रहा है समाज; / चाटकर तलवे, / हिलाकर पूँछ, / मैंने नहीं कमाई अपनी रोटी। / रानी रूठेंगीं, लेंगी अपना सुहाग; / राजा रूठेंगे, लेंगे अपना राज। / मेरा क़लम रहे बरक़रार।

छोड़े हैं जो तुमने साबुन के बुलबुले, / वे हवा में कब तक करेंगे सफ़र, / किन-किन पर होगा उनका असर ? / छिप-छिप के जो की जाती है बात, / एक की बचा के आँख, / दूसरे का बचा के कान, / उसमें भी होती है जान ? / उसे जो भी माने; / उसका भी जो करें यक़ीन, / उन रबर के पुतलों को / मेरी ठोकरें— एक-दो-तीन !

कवि भी छोड़ते हैं कल्पना के गुब्बारे, / पहाड़ों पर से होता है उनका एलान, / खेलते हैं उनसे आँधी-तूफान, / बिजली और बादल देते हैं उनका साथ, / तारे करते हैं उनसे बात, / उल्का होते हैं उनके पास, / आसमान करता है उनका सम्मान, / ज़मीन के होते हैं वे मेहमान, / और उन्हें छूकर / इंसान उठ जाता है ऊपर। / इन गुब्बारों में भरने को / नहीं चाहिए साँस, / दमे के बीमार की, / उखड़ी हुई, टूटी, / अब छूटी कि तब छूटी ! / इनमें भरने को चाहिए / कवि के वक्षस्थल की साँस / लिए हुए आत्मविश्वास, / जो खिंचती है तो / खींच लेती है प्राण, / निकलती है तो / करती है अमरत्व प्रदान !

जो हैं खुद मुर्दे / किसी को नहीं दे सकते जीवन-दान, / चाहते हो कि जिएँ तुम्हारे आख्यान ? / तो जाओ, करो साधना, / जब लौटकर आओगे, / बहुत कुछ बदल जाओगे, / ज़िंदगी की शक्ल और ही कुछ पाओगे।

पर अगर / साधना से डर लगता है, / तो सुनो, ओ नक़्क़ाल, / दो-चार कान के कच्चों में / घूम-फिरकर तुम्हारा बयान-- / हो जायेगा बेजान। / चेहरा लगाकर फिरोगे कबतक ? / दुनिया एक न एक दिन तुम्हें पहचानेगी। / बहुत दिन पुजता नहीं वेश का प्रताप, / अन्त में परदा उघरता है अपने आप, / झूठ की

खुलती है क़लई, / सांच को नहीं आती आँच। / इसी एक एतक़ाद पर / मैंने किया है जीवन भर संघर्ष, / सहा है मान-अपमान, / चलाई है लेखनी, / खोला-मूंदा है मुंह, / झेला है अवसाद-अपवाद; / जिस दिन झूठे, चोर, चालबाज़, / चापलूस और चुग़लखोर / बन जायेंगे कोई ताक़त, / कोई प्रभाव, / निश्चित करेंगे तुम्हारा-मेरा / उतार-चढ़ाव, / उसी दिन / विधाता के मुंह पर थूक, / दुनिया को लगाके दो लात / कर लूंगा मैं आत्मघात।

बच्चन की रचनाएँ

१. टूटी-छूटी कड़ियाँ (निबंध), १९७३
२. जाल समेटा, १९७३
३. प्रवास की डायरी, १९७१
४. क्या भूलूं क्या याद करूँ (आत्मकथा—१), १९६९
५. नीड़ का निर्माण फिर (आत्मकथा—२), १९७०
६. बसेरे से दूर (आत्मकथा-३), १९७७
७. कटती प्रतिमाओं की आवाज़, १९६९
८. उभरते प्रतिमानों के रूप, १९६८
९. बहुत दिन बीते, १९६७
१० दो चट्टानें, १९६५
११. चार खेमे चौंसठ खूंटे, १९६२
१२. त्रिभंगिमा, १९६१
१३. बुद्ध और नाचघर, १९५८
१४. आरती और अंगारे, १९५८
१५. धार के इधर-उधर, १९५७
१६. प्रणय-पत्रिका, १९५५
१७. मिलन यामिनी, १९५०
१८. खादी के फूल, १९४८
१९. सूत की माला, १९४८
२०. बंगाल का काल, १९४६
२१. हलाहल, १९४६
२२. सतरंगिनी, १९४५
२३. आकुल अंतर, १९४३
२४. एकांत संगीत, १९३९
*२५. निशा निमंत्रण, १९३८
*२६. मधुकलश, १९३७

*२७. मधुबाला, १९३६
*२८. मधुशाला, १९३५
२९. तेरा हार (प्रारंभिक रचनाओं में सम्मिलित), १९३२
३०. प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग (कविताएँ), १९४३
३१. प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग (कविताएँ), १९४३
३२. प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग (कहानियाँ), १९४६
३३. नये-पुराने झरोखे (निबंध-संग्रह), १९६२
३४. कवियों में सौम्य संत (पंत काव्य-समीक्षा), १९६०
३५. किंग लियर (अनुवाद), १९७२
३६. हैमलेट (अनुवाद), १९६९
३७. ओथेलो (अनुवाद), १९५९
३८. मैकबेथ (अनुवाद), १९५७
३९. मरकत द्वीप का स्वर (ईट्स की कविताओं का अनुवाद), १९६५
४०. चौंसठ रूसी कविताएँ (अनुवाद), १९६४
४१. भाषा अपनी भाव पराए (अनूदित कविताएँ), १९७०
४२. जन गीता (अनुवाद), १९५८
४३. नागर गीता (अनुवाद), १९६६
४४. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद), १९३५
**४५. उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अनुवाद), १९५९
४६. नेहरू : राजनीतिक जीवन-चरित (अनुवाद), १९६१
४७. अभिनव सोपान (संकलन), १९६४
४८. सोपान (संकलन), १९५३
४९. आधुनिक कवि (७) : (संकलन), १९६१
५०. बच्चन के लोकप्रिय गीत (संकलन), १९६७
५१. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : बच्चन (संकलन : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित), १९६०
५२. कवि श्री : बच्चन (संकलन : डॉ० दुर्गाप्रसाद झाला द्वारा संपादित), १९६९
५३. बच्चन जी के साथ क्षण भर (संचयन), १९३४

५४. बच्चन : पत्रों में (संपादक : डॉ० जीवन प्रकाश जोशी), १९७०
५५. बच्चन के पत्र (संपादक : निरंकारदेव सेवक), १९७२
५६. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : सुमित्रानंदन पंत (संकलन : बच्चन द्वारा संपादित), १९६०
५७. पंत के सौ पत्र (बच्चन-संपादित), १९७०
५८. पंत के दो सौ पत्र (बच्चन-संपादित), १९७१
५९. डब्ल्यू० बी० ईट्स एण्ड अोकल्टिज़्म (अंग्रेज़ी शोध-प्रबंध), १९६५

बच्चन की रचनाओं के अनुवाद :

१. 'कालेर कवले बांगला' (भूपेन्द्र नाथ दास द्वारा 'बंगाल का काल' का बंगला अनुवाद), १९४८
२. 'द हाउस आफ़ वाइन' (मार्जरी बोल्टिन और रामस्वरूप व्यास द्वारा 'मधुशाला' का अंग्रेज़ी अनुवाद), १९५०
३. लिरिका (आर० बरान्निकोवा द्वारा संपादित बच्चन की संकलित कविताओं का रूसी अनुवाद), १९६५
४. बंगालचा काल (अविनाश जोशी द्वारा 'बंगाल का काल' का मराठी अनुवाद), १९७३
५. कोलेस्नीत्सा सोन्त्सा (सूर्य का रथ—चुनी हुई परवर्ती कविताओं का रूसी अनुवाद), अनुवादक—एस० सेवेरत्सेव; भूमिका-लेखक डॉ० चेलीशेव, १९७३
६. 'मधुशाला' (विनयकुमार चौकसे द्वारा 'मधुशाला' का मराठी अनुवाद) १९७९

रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन तिथि का संकेत है।
*पॉकेट बुक्स में भी प्राप्य **पॉकेट बुक्स में ही प्राप्य

मुद्रक : जूपिटर आफसेट

लेखक-परिचय

बच्चन की ख्याति 'मधुशाला' के साथ हुई जो १९३५ में प्रकाशित हुई और जो तब से अब तक लोकप्रियता के शिखर पर है।

हरिवंशराय 'बच्चन' का जन्म २७-११-१९०७ को प्रयाग में हुआ। उनकी शिक्षा म्युनिसिपल स्कूल, कायस्थ पाठशाला, गवर्नमेंट कालेज, इलाहाबाद युनिवर्सिटी और काशी विश्वविद्यालय में हुई। १९४१ से १९५२ तक वे इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी के लेक्चरर रहे। १९५२ से १९५४ तक इंग्लैंड में ईट्स के काव्य पर शोधकार्य कर उन्होंने केम्ब्रिज युनिवर्सिटी से पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की। विदेश से लौटकर उन्होंने एक वर्ष अपने पूर्व पद पर तथा कुछ मास आकाशवाणी, इलाहाबाद में काम किया। फिर सोलह वर्ष दिल्ली रहे—दस वर्ष विदेश मंत्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ के पद पर और छह वर्ष राज्यसभा के मनोनीत सदस्य के रूप में। '७२ मे '७८ तक कभी बम्बई कभी दिल्ली रहकर अब स्थाई रूप से बम्बई रहते है, अपने बड़े बेटे अमिताभ के साथ, जो सिने-जगत् के सुप्रसिद्ध कलाकार है।

बच्चन ने मुख्यतः कविताओं द्वारा अपना और अपने कलाकार का पथ प्रशस्त किया है, जिनमें देशी-विदेशी कविता के अनुवाद भी प्रचुर हैं। साथ ही निबंध-वार्ता, आलोचना, काव्य-संग्रहों की भूमिका के रूप में उन्होंने गद्य भी कम नहीं लिखा। इधर अपनी आत्मकथा के माध्यम से जो गद्य उन्होंने दिया है वह अपनी प्रांजलता, प्रेषणीयता और प्रौढ़ता के कारण उनकी कविता के लिए भी एक चुनौती सिद्ध हुआ है।

बच्चन के आत्मचित्रण के शेष दो खंड

क्या भूलूं क्या याद करूं (आत्मकथा-१)

…आत्मकथा साहित्य में आपकी कृति क्रांतिकारी है।… सर्वोपरि विशेषता यह है कि कृति वस्तुनिष्ठ है जो आत्मनिष्ठ सूत्र में ऐसी खूबसूरती से पिरोई गई है कि कहीं भी अहं नहीं उभरता। हार्दिक साधुवाद। —रायकृष्ण दास

…यह कथा बड़ी सरस और जीवंत बनी है। इसमें केवल बच्चन जी का परिवार और उनका व्यक्तित्व ही नहीं उभरा है बल्कि उनके साथ समूचा काल और क्षेत्र भी अत्यन्त जीवंत रूप में उभरकर सामने आ गए हैं। —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

…पढ़ना शुरू किया…रात-भर एक क्षण को नींद नहीं आई और तड़के सुबह छह बजे मैं उसके अंतिम अध्याय पढ़ रहा था…यह कहना बहुत बहुत नाकाफ़ी होगा कि मैं अभिभूत हूं… हिन्दी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी, साहस और सद्भावना से कह देना—यह पहली बार हुआ है हिन्दी के हजार वर्षों के इतिहास में। —डा० धर्मवीर भारती

नीड़ का निर्माण फिर (आत्मकथा-२)

…इस खंड की कथा में भी उपन्यास की-सी रोचकता है, भाषा में वही शैली का जादू है। इसमें जीवनीकार का आर-पारदर्शी सशक्त व्यक्तित्व अधिक गहरे रंगों में उभरा है।

—सुमित्रानन्दन पंत

…'नीड़ का निर्माण फिर' मैंने बड़े आनन्द से पढ़ा। हिन्दी के हाल के प्रकाशनों में मैं तुम्हारी आत्मकथा को अत्यन्त ऊंचा स्थान देता हूं। —रामधारीसिंह 'दिनकर'

…'नीड़ का निर्माण फिर' लगभग एक ही बैठक में पढ़ गया। आत्मकथा में 'स्वगत' तो होना ही चाहिए, पर इतनी इंटेंसली पर्सनल (गहन वैयक्तिकतापूर्ण) आत्मकथा दुनिया में कम ही हैं। —जगदीशचन्द्र माथुर

…हिन्दी में ऐसी सुन्दर और सब प्रकार से विचारोत्तेजक आत्मकथा अन्य किसी कवि ने नहीं लिखी है। —डा० प्रभाकर माचवे

राजपाल
राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली